संपादक : नामवर सिंह

विशेषांक

आलोचना

त्रैमासिक

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

पूर्णांक ३९, (जुलाई–सितम्बर १९६७) इस अंक का ५) वार्षिक १२) रजिस्ट्री से १४.४०)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
को

षष्ठिपूर्ति के
उपलक्ष्य में
समर्पित

आलोचना

वर्ष : १७

अंक : २

जुलाई-सितम्बर, '६७

सम्पादक
नामवर सिंह

प्रबन्ध सम्पादिका
शीला सन्धू

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
८, फैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

संपादकीय

''विशुद्ध आलोचना के क्षेत्र में भाषा की क्रीड़ा किस प्रकार बाधक हुई है, कुछ बँधे हुए शब्द और वाक्य किस प्रकार विचारों को रोक रहे हैं, ऐसी बातें जिनकी कोई सत्ता नहीं किस प्रकार घने वाग्जाल के भीतर से भूत बनकर झाँकती रही हैं, यह दिखाते हुए बीसवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध समालोचना-तत्त्वज्ञ ने बड़ी खिन्नता प्रकट की है।'' यह कथन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है और वे समालोचना-तत्त्वज्ञ आइ० ए० रिचर्ड्स हैं। रिचर्ड्स को अंग्रेज़ी में जिस वाग्जाल का सामना इस शताब्दी के दूसरे दशक में करना पड़ा था, हिन्दी में शुक्लजी को वह स्थिति तीसरे दशक में मिली, और हमें यदि वही बात आज भी दुहराने की ज़रूरत महसूस होती है तो बहुत-कुछ इसलिए कि अपने यहाँ आलोचना के क्षेत्र में भाषा के स्तर पर दृढ़ता के साथ उस संघर्ष को आगे नहीं बढ़ाया गया। 'आलोचना के दायित्व' और 'आलोचना के प्रतिमान' की बातें तो बहुत हुईं, किन्तु जिस भाषा के माध्यम से वह दायित्व संपन्न होता है उसकी चर्चा बहुत कम हुई। शुक्लजी ने आलोचना की भाषा का सवाल उठाया था तो इसलिए उक्त वाग्जाल के कारण ''घोर विचार-शैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलने'' का खतरा था। उन्हें ''समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास'' परस्पर संबद्ध प्रतीत हुआ था। इससे स्पष्ट है कि आलोचना की भाषा का सवाल केवल भाषा का सवाल नहीं है।

'संवाद' में जैसा कि श्री अशोक वाजपेयी ने कहा है, ''पिछले पाँच-सात वर्षों की आलोचनात्मक चर्चाओं और बहसों का जायज़ा लिया जाए तो शायद यह कहना अनुचित न होगा कि कुछ ज्वलंत सवालों से कटकर उनका अधिकांश **सामान्य आलोचना-बुद्धि और स्तर की गिरावट** ही सूचित करता है।'' सामान्य आलोचना-बुद्धि और स्तर की यह गिरावट सबसे पहले भाषा के स्तर पर दिखाई पड़ती है। एक ओर हर चर्चा में भाग लेने की उत्तेजना और दूसरी ओर भाग लेने वालों में से अधिकांश का आलोचना-विरोधी रुख। 'आलोचना की भाषा की वाचकता' को आघात पहुँचना अनिवार्य है। प्रभाव पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पाठकों के पत्रों तक में देखा जा सकता है। इसका एक कारण संभवतः वही है, जिसकी ओर डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने संकेत किया है, अर्थात् पत्रकारिता की भाषा का प्रभाव, जिसमें 'विश्लेषण' की अपेक्षा 'वक्तृत्व' और 'अतिनाटकीयता' का अंश अधिक होता है। इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए श्री सुरेन्द्र चौधरी ने कहा है कि ''आलोचना की भाषा पत्रकारिता की भाषा हो गई है।···पत्रकार आज आलोचक हो गए हैं। आलोचना की भाषा फिकरों, मुहावरों और आन्तरिक सूचनाओं की उत्तेजना से दूषित हो रही है।'' और इस प्रकार ''आलोचना की पूरी लड़ाई जैसे शब्दों की सरहदों पर लड़ी जा रही है।''

शब्दों की सरहदों पर लड़ी जाने वाली इस लड़ाई का एक उदाहरण है यह उद्धरण : 'शब्द-शब्द-शब्द,—चौंकाने-वाले, और मन पर एक विचित्र अरुचिकर भाव छोड़ जाने वाले। यदि आप **निष्ठावान** पाठक हैं और विश्वास करते हैं कि लेखक का शब्द के प्रति एक **पवित्र** दायित्व होता है और वह शब्द का किसी भी झूठ का संवाहक बनना बर्दाश्त नहीं कर पाता, तो आपकी उलझन और भी बढ़ जाएगी। क्योंकि ये लेखक तो घोषित ही करते हैं कि जिन शब्दों के अर्थ झूठ पड़ गए हैं—जैसे 'दिव्य' उन्हें ये 'दि दि दि व्य दि व्य दि' जैसे मन्त्रोच्चार से मृत कर देंगे और केवल उन शब्दों का इस्तेमाल करेंगे जो असलियत के वाहक हैं चाहे वे शब्द कितने ही नंगे और कड़वे क्यों न लगें। इसलिए आप मान लेते हैं कि इनकी सारी घोषणाएँ सच हैं—शब्द-प्रतिशब्द, हरुफ़-ब-हरुफ़। इनके लिए सचमुच देश और इतिहास और दूसरा व्यक्ति या जन-समुदाय और अन्य व्यक्तिगत और सामूहिक क्रियाएँ व्यर्थ हैं—सिवा एक सम्भोग क्रिया के···''

पत्रकारिता की भाषा में जिस 'आवेश', 'वक्तृत्व' और 'अतिनाटकीयता' का उल्लेख डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने किया है, वह सब उक्त उद्धरण में स्पष्ट देखा जा सकता है। इसके साथ ही पाठकों को भावोत्तेजित करने के लिए वे सारे नुस्खे भी बखूबी इस्तेमाल किए गए हैं जो एक सफल इश्तहार के लिए मौज़ूं होते हैं। अपने आलोच्य लेखकों के विरुद्ध पाठकों को भड़काने के लिए चुना गया है 'दिव्य' जैसा शब्द जो उनके संस्कार में अत्यन्त गौरवपूर्ण अर्थ के साथ बद्धमूल है। पाठक कहीं अपने इस संस्कार को भूल न जाए इसलिए उसे पहले ही 'निष्ठावान' कह दिया गया है, साथ ही शब्द के प्रति 'पवित्र'

दायित्व की याद भी दिला दी गई है। इस पृष्ठभूमि के बाद नाटकीय ढंग से यह कहा गया है कि ये लेखक 'दिव्य' जैसे शब्द को 'मृत कर देंगे।' यदि इसके बाद भी पाठक में अनुकूल भावोत्तेजना न जगे तो 'देश', 'इतिहास', 'जन-समुदाय' आदि भावावेश-संवलित शब्दों का उल्लेख करते हुए आगे यह कहा गया है कि आलोच्य लेखकों के लिए ये सब भी व्यर्थ हैं। और अन्तिम प्रभाव को पूर्णतः नाटकीय रूप देने के लिए कहा गया है कि ये एक 'सम्भोग क्रिया' को ही सार्थक समझते हैं। सारांश यह है कि आलोच्य लेखक 'दिव्यता' के हत्यारे और संभोग क्रिया के मारे हैं। "इसलिए आप मान लेते हैं कि इनकी सारी घोषणाएँ सच हैं"— यह कहकर पाठकों को पूरी तरह आगाह कर दिया गया है कि मान लेने का क्या अर्थ है। यह है पत्र-कारिता की भाषा में लिखी हुई साहित्य-समालोचना का एक नमूना, जो वड़ी आसानी से गोवध-विरोध के इश्तहार के भी काम आ सकती है।

आलोचना के क्षेत्र में पत्रकारिता के प्रवेश से जो इस प्रकार का खतरा पैदा हुआ है वह हिन्दी में हाल की घटना है। पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी में पहले भी थीं, पर इतनी नहीं। इसके अतिरिक्त, पत्र-पत्रिकाओं का यह व्यावसायिक रूप भी न था। इन व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं के पाठक भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रेमचन्द के 'हिन्दी प्रेमी' नहीं हैं और नहीं हैं, 'रूपाभ', 'प्रतीक', 'कृति' आदि के विशिष्ट ग्राहक। नवीन व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं का अधिकांश पाठक-समुदाय फिल्मों के समान ही साहित्य का भी चटपटा परिचय प्राप्त करना चाहता है, और उसके लिए नए साहित्यिक विवाद भी फिल्मी मार-काट की-सी दिलचस्पी की घटनाएँ हैं। ज़ाहिर है कि इन पत्रिकाओं में साहित्य-चर्चा का रूप सनसनीखेज़ होगा। कहने के लिए इन पत्र-पत्रिकाओं में साहित्य को 'लोकप्रिय' रूप में प्रस्तुत किया जाता है किन्तु साहित्य-सम्बन्धी ये लोकप्रिय लेख साहित्य-समालोचना के लिए बहुत मँहगे पड़ते हैं। वैसे इनमें नए-से-नए लेखकों और पुस्तकों की चर्चा तत्काल सुलभ की जाती है, किन्तु यहाँ पुस्तकों और लेखकों का मूल्य 'खबर' का-सा है। यहाँ हर नई पुस्तक आज की ताज़ा खबर है और उसकी चर्चा "छपते-छपते।"

व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं का यह खतरा पश्चिमी देशों में भी है और अपने यहाँ से कहीं अधिक, लेकिन वहाँ व्यावसायिकता के विरुद्ध साहित्य-समालोचना के दृढ़ अनुशासन को विकसित और स्थापित करने का दायित्व विश्वविद्यालयों ने ले लिया है। दुर्भाग्य से हिन्दी में यह दायित्व-निर्वाह नहीं हो पा रहा है। यहाँ एक ओर सपाट मैदान है तो दूसरी ओर "अपने जड़ गौरव के प्रतीक" कुछ "शैल शृंग", जिनकी ओर डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'संवाद' में स्पष्ट संकेत किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिस समय हिन्दी आलोचना का आधार निर्मित कर रहे थे, साहित्य-शिक्षण और पत्रकारिता के बीच इतनी गहरी खाई न थी। 'सरस्वती' में प्रकाशित 'कविता क्या है' निबन्ध छात्रों और सामान्य पाठकों के लिए समान रूप से संबोधित था, जबकि इधर एक अन्य आलोचक द्वारा इसी शीर्षक से लिखा हुआ लेख स्पष्टतः अपने छात्रों को संबोधित है। आज की स्थिति में उस प्रकार के अविभक्त पाठक समुदाय की खोज दुराशा-मात्र है, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि आज का सामान्य हिन्दी-पाठक-समूह पश्चिमी देशों के समान सर्वथा विभक्त नहीं है, और इस स्थिति में जैसा कि कुछ आलोचकों के सफल प्रयास से स्पष्ट है, 'एकेडेमिक' जड़ता और चटपटी पत्रकारिता से मुक्त यथातथ्य एवं संवेदनशील भाषा में साहित्यिक समालोचना लिखना सम्भव है।

सच्ची समालोचना को सम्भव बनाने वाले आलोचक भी वही हैं जो इस विभाजन के प्रति सजग हैं, जो इस विभाजन को एक विराट सांस्कृतिक संकट के अंग के रूप में पहचानते हैं, और जो सांस्कृतिक संकट से ग्रस्त होने के स्थान पर उसके दुर्निवार प्रभाव से मुक्त होने तथा उसके मायाजाल को तोड़ने के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं और इस प्रकार इस संकट के विरुद्ध संघर्ष से उनका आलोचना-कर्म आवयविक रूप से संबद्ध है, बल्कि उनका समूचा आलोचना-कर्म इस ज्वलंत सांस्कृतिक संघर्ष का पर्याय है।

उत्तरदायित्व महसूस करने वाले यदि इस द्विधा-विभक्त पाठकीय दायरे को तोड़ते हैं तो उसके साथ ही आलोचना-कर्म के पूरे दायरे को भी तोड़ते हैं और इस ऐतिहासिक परिस्थिति के अनुरूप नए सिरे से आलोचना-कर्म को परिभाषित करते हैं। इस परिभाषा के अनुसार आलोचक 'मध्यस्थ' नहीं है। न वह व्यावसायिक पत्रिकाओं में प्रायः अपने हस्ताक्षर और चित्र के साथ प्रकट होनेवाला साहित्यिक 'एजेंट' है, न कवि और छात्र के बीच का भाष्यकार। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक कृति एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और कृतिकार, पाठक और आलोचक इस एक ही प्रक्रिया के अंग हैं, जिनमें से

प्रत्येक की प्रतिक्रिया उस प्रक्रिया की ही अनिवार्य कड़ी है। इस प्रकार आलोचक कवि या पाठक के लिए नहीं लिखता, किसी कृति पर लिखना उसका ऐतिहासिक दायित्व है, प्रसंगात् उससे कवि या पाठक प्रभावित भले ही हो जाएँ, लेकिन उस एक सांस्कृतिक प्रक्रिया में अपनी भूमिका अदा करने के लिए प्रथमत: वह रचनाकार के समान ही अपने लिए लिखता है, क्योंकि किसी और के लिए लिख ही नहीं सकता—चाहे भी तो नहीं। यदि वह किसी और के लिए लिखता है तो अपने साथ ही दूसरे को भी छलता है। इस दृष्टि से आलोचक मूलत: उक्त सांस्कृतिक प्रतिक्रिया के अन्तर्गत अपने अनुभवों, विचारों और सपनों को ही सुस्पष्ट एवं व्यवस्थित करने के लिए संघर्ष करता है। आलोचक का आत्म-संघर्ष भी रचनाकार के समान ही महत्त्वपूर्ण है—बल्कि व्यवहार में वह आत्म-संघर्ष और भी पेचीदा होता है क्योंकि वह दुहरा होता है। इसीलिए रचनाकार के समान ही आलोचक के सामने भी माध्यम की समस्या उपस्थित होती है। 'आलोचना की भाषा' की समस्या, इस प्रकार, माध्यम की ही समस्या है। माध्यम की वास्तविक समस्या का सामना वे आलोचक करते हैं जिनके लिए आलोचना एक सर्जनात्मक प्रयास है। इसी प्रयास में नया आलोचक भाषा का साक्षात्कार करता है।

अपने सर्जनात्मक रूप में आलोचना-कर्म मूलत: व्यक्तिगत प्रयास है, क्योंकि किसी कृति-सम्बन्धी प्रत्येक सच्ची प्रतिक्रिया वैयक्तिक ही होती है। कृति जो अनुभव दे जाती है और वह अनुभव विचार-क्रम में जिस निर्णय का रूप लेता है, वह प्रथमत: वैयक्तिक ही होता है। यदि आलोचना में यह वैयक्तिकता न हो तो युग-युगान्तर तक किसी कृति का एक ही अर्थ और मूल्य बना रहे, न उसमें निहित नए-नए अर्थ-स्तरों का उद्घाटन हो और न उन अर्थों के आधार पर पुनर्मूल्यांकन ही सम्भव हो। इसलिए एकांगी और पक्षधर कहलाए जाने का आरोप झेलते हुए भी सच्चा आलोचक अपने अनुभव एवं विवेक की वैयक्तिकता जाग्रत रखता है। वैसे, 'पूर्ण' और 'निष्पक्ष' आलोचक दुर्लभ नहीं है, जो सभी विवादों के बाद 'सही' होने का दावा करते हैं, क्योंकि ये कभी 'गलत' होने का खतरा उठाते ही नहीं। इनकी अभिरुचि इतनी परिपूर्ण होती है कि ये समस्त श्रेष्ठ और कालजयी कृतियों के समुचित आस्वाद में समान रूप से समर्थ होते हैं। ऐसे समर्थ समालोचक, आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "धन्य हैं, उन्हें धिक्कार है!"

ऐसी संदिग्ध 'पूर्णता' से तो आस्वाद की वह वैयक्तिकता ही भली जो कहीं-न-कहीं सच्ची और अनुभूत तो है। सर्वस्वीकृत वह भले ही न हो, किन्तु उसमें पर-स्वीकृति की सम्भावना तो है। पर-स्वीकृति की यह सम्भावना ही प्रत्येक वैयक्तिक प्रतिक्रिया को निर्वैयक्तिक खुलापन तथा विस्तार प्रदान करती है। इसीलिए सच्ची आलोचना वैयक्तिक प्रतिक्रिया से शुरू होकर भी अन्यापेक्ष आकांक्षा से युक्त होती है और इसी अर्थ में वह संवादधर्मी है। एक प्रकार से यह आलोचना-संवाद आत्म-संलाप का ही विस्तार है—एक अन्य आयाम! इसी अर्थ में वह 'सहयोगी प्रयास' भी कहा जाता है कि सच्चा आलोचक अपनी निजी प्रतिक्रिया के साथ ही स्वयं आलोच्य कृति को भी सामने रखते हुए समानधर्मा पाठकों एवं आलोचकों को विचार-विनिमय के लिए जैसे निमंत्रित-सा करता है ताकि मूल कृति के गिर्द निर्मित विभिन्न प्रतिक्रियाओं के द्वन्द्व से सामान्य निर्णय तक पहुँचना सम्भव हो सके।

यह संवाद पत्रों में प्रकाशित पाठक-प्रतिक्रिया और 'मत-सम्मत' के फैशन से भिन्न है, क्योंकि वहाँ सम्मति प्राय: वही नहीं होती जो कोई कहना चाहता है बल्कि वह जो उससे अपेक्षित है अथवा जिसके लिए वह दीक्षित है। यही सम्मति-चक्र वह वाग्जाल खड़ा करता है जिससे वस्तुएँ अदृश्य हो जाती हैं और पाठक संवेदन-हीन। अधिकांश भाषानुकूलित पाठक एक-सी वस्तु के अभ्यस्त हो जाते हैं—यहाँ तक कि भिन्न वस्तु उनमें कोई हरकत ही पैदा नहीं कर पाती। इस तरह एक दुष्ट चक्र पूरा होता है, जिसमें सभी लोग एक-सी भाषा बोलने लगते हैं, जबकि अपनी समझ से वे अपने मन की बात कहते होते हैं। भाषा का यही दुष्ट चक्र या वाग्जाल आलोचना में भाषा की समस्या—बल्कि भाषा को समस्या के रूप में प्रस्तुत करता है। समस्या सार्वजनिक है, किन्तु हर प्रबुद्ध आलोचक सबसे पहले व्यक्तिगत अनुभव के स्तर पर इसका सामना करता है।

आज हमारी हालत उस आदमी के समान है जो एक अर्से से काँच से देखकर खिड़की के बाहर देखता आ रहा था कि सहसा दृष्टि उस काँच से जा टकराई या कि उस काँच पर अड़ गई। इस टकराहट से पूरी दृष्टि ही बदल गई। तालस्ताय के 'अन्ना कैरेनिना' उपन्यास में एक प्रकरण आता है जब मौत से कुछ ही पहले अन्ना को रात के अँधेरे में जैसे अपनी ही आँखें दिखाई दे गईं। चेखोव ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस प्रकरण को पढ़ते ही वह भय से काँप उठा। यह अनुभव उस काँच से दृष्टि की टकराहट की अपेक्षा कहीं भयावना है। क्या भाषा के सम्बन्ध में भी आज हमारा अनुभव बहुत-

कुछ इसी तरह का नहीं है ? जिस भाषा के ज़रिए अभी तक हम वस्तुओं को देखते रहे हैं, आज स्वयं उस भाषा से ही हमारी दृष्टि टकरा गई है और इस टकराहट से दृष्टि का चौंधिया जाना अनिवार्य है। इस चौंधियाई दृष्टि में दुनिया ही नहीं बल्कि स्वयं भाषा के बारे में भी हमारे रुख का बदल जाना स्वाभाविक है। यह एक प्रकार का 'चौंधियाने वाला प्रकाश' है—बोध भी और भाषा भी। ऐसी स्थिति में आज भाषा हमसे एक नये ढंग के सम्बन्ध-स्थापन की माँग कर रही है। अब पहले की ही तरह भाषा को 'प्रदत्त' मानकर अभिव्यक्ति के लिए इस्तेमाल करना कठिन हो चला है, क्योंकि हम देख रहे हैं कि वह संप्रेषण से पहले संवेदन का माध्यम है, और इस प्रकार वह हमारे संवेदन का भी नियमन करती है। जिसे हम अपना अनुभव और अपना अन्वेषण समझते हैं उसमें से कितना अपना है और कितना सार्वजनिक भाषा का, यह बोध किसी भी विवेकशील व्यक्ति की नींद खो देने के लिए काफी है। इस बोध ने आज के अनेक रचनाकारों को अपनी रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण के लिए बाध्य कर दिया है, जिसके फलस्वरूप नई रचनाएँ सामने आ रही हैं। कदाचित् यही बोध आज के आलोचकों को भी अपनी आलोचना-प्रक्रिया पर विचार करने के लिए प्रेरित कर रहा है। यदि अभी तक हिन्दी-आलोचना को इस दिशा में अग्रसर करने का श्रेय मुख्यत: नये रचनाकारों को है तो इसीलिए कि सबसे पहले रचनात्मक स्तर पर ही इस बोध का उदय हुआ। स्पष्ट ही यह बोध आलोचना के क्षेत्र में परम्परा-प्राप्त औज़ारों को परखने तथा आवश्यकतानुसार नए औजारों के निर्माण की चुनौती देता है। आलोचना की भाषा के इस सर्जनात्मक पक्ष पर प्रस्तुत संवाद में श्री कृष्णनारायण कक्कड़ तथा डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का विशेष बल देना इसी तथ्य का सूचक है।

किन्तु इस परख की पहल भी नए रचनाकार की ओर से ही हुई जो आकस्मिक नहीं है। कुंवरनारायण एक 'यथार्थ' शब्द का उदाहरण लेते हुए कहते हैं कि "हिन्दी में जिस असावधानी से यह शब्द प्रयुक्त हो रहा है वह कभी-कभी विचित्र हैरानी में डाल देता है—खासकर कहानी के सिलसिले में जो बहस चल रही है, उसमें मुझे अगर कोई शब्द सबसे अधिक बेमानी लग रहा है, तो वह 'यथार्थ' है। 'यथार्थ' शब्द आलोचना में इस प्रकार प्रयुक्त हो रहा है, मानो वह कोई निरपेक्ष पद (एबसोल्यूट टर्म) हो—मानो बालज़ाक-जोला स्कूल का यथार्थ, फ़्लोबेयर का वैज्ञानिक यथार्थवाद सबका साहित्यिक और गैर-साहित्यिक आशय एक ही हो।"

यथार्थ के सम्बन्ध में कुछ-कुछ इसी तरह की बात निर्मल वर्मा ने भी कही थी जिस पर 'भोगे हुए यथार्थ' के आत्मतुष्ट दावेदारों ने फ़बतियाँ कसी थीं। निर्मल वर्मा का कहना था : "जब कोई कहानी में यथार्थ की चर्चा करता है, तो हमेशा दुविधा होती है—वह एक पक्षी की तरह झाड़ी में छिपा रहता है। उसे वहाँ से जीवित निकाल पाना उतना ही दुर्लभ है, जितना उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना, जब तक वह वहाँ छिपा है। अंग्रेज़ी में एक मुहावरा है—'बीटिंग एबाउट द बुश।' कहानीकार सिर्फ यही कर सकता है—उससे अधिक कुछ करना असम्भव है। तुम अगर झाड़ी पर ज्यादा दबाव डालोगे, तो वह मर जाएगा, या उड़ जाएगा। हम सिर्फ प्रतीक्षा कर सकते हैं, कभी-कभार झाड़ी को इधर-उधर कुरेद सकते हैं—किसी अजाने क्षण में जब कभी वह हमारे प्रति उदासीन हो, उससे सम्पृक्त हो सकते हैं; लेकिन हमेशा बाहर से। यह अभिशाप हर उस लेखक के लिए है, जो कलाकार भी है। जो सही माने में यथार्थवादी है, उसके लिए यथार्थ हमेशा झाड़ी में छिपा रहता है।"

स्पष्ट है कि जो कलाकार नहीं है वह 'यथार्थ' को लेकर उठने वाली इस दुविधा को नहीं समझ सकता। स्वयंसिद्ध सत्य की तरह 'यथार्थ' को बाल-सुलभ अबोधता के साथ बार-बार दोहराने वाले आज के अनेक नए कहानीकारों से कहीं आत्म-सजग और ईमानदार प्रेमचन्द थे जिन्होंने जैनेन्द्र कुमार को एक पत्र में लिखा था कि "रियलिस्ट हममें से कोई भी नहीं है।"

इस धाँधली को देखते हुए, जैसा कि किसी लेखक का कहना है, यही निष्कर्ष निकलता है कि "निकृष्ट दर्शन और निकृष्ट आलोचना का एक ही स्रोत है—पदों (टर्म्स) का दुरुपयोग।"

यह दुरुपयोग परम्परा-प्राप्त शब्दों तक ही सीमित नहीं है। कभी-कभी परम्परा-प्राप्त शब्द को घिसते देख, प्रचलन में आए हुए नए शब्द भी अनसधे हाथों दुरुपयोग का दण्ड भोगते हैं। किसी व्यवस्थित आलोचना-परम्परा के अभाव में कहानी के क्षेत्र में ऐसा बहुत हुआ और वह भी स्वयं कहानीकारों के हाथों जो नये कवियों की होड़ में स्वयं ही अपने आन्दोलन के प्रवक्ता और आलोचक बनकर मैदान में उतर पड़े। उदाहरण के लिए, नयी कविता में "अनुभूति की प्रामाणिकता"

की आवाज़ उठी, तो नये कहानीकार भी उसके आकर्षण का लोभ संवरण न कर सके। अपनी हीनता-ग्रंथि के कारण कविता की शब्दावली से वे परहेज़ करते थे, इसलिए उन्होंने 'अनुभूति' शब्द को छोड़कर 'प्रामाणिकता' को चुपके से अपना लिया। युक्ति यह दी गई कि 'यथार्थ' शब्द नाकाफी साबित हो रहा है, इसलिए 'प्रामाणिकता' की शर्त अपनाई गई ताकि "वैयक्तिक वास्तव और परिवेश की सचाई का क्षय न होने पाए।" परिभाषा की समस्या उठने पर पहले तो उसे "बहुत अधिक गहन और संश्लिष्ट" कहा गया, फिर उसे 'अनुभव की सचाई' और 'समय-सत्य' के रूप में व्याख्यायित किया गया। इस प्रकार यह 'प्रामाणिकता' अंत तक अनुभव, समय और इतिहास के बीच चक्कर काटती रही। निश्चित परिभाषा न सही तो ठोस कहानियों के विश्लेषण से ही 'प्रामाणिकता' का अर्थ स्पष्ट किया जा सकता था; किन्तु यह तो तब संभव है जब कोई अवधारणा अपनी कमाई हुई हो अथवा उसे लेकर कुछ दूर तक सोचने-विचारने की तकलीफ़ उठाई गई हो। व्यवहार में इस प्रामाणिकता ने सारी कलई खोल दी और वह भी इस कदर कि इसके बाद अब शायद ही कोई विवेकवान लेखक जल्दी इस शब्द का प्रयोग करना चाहे। और यदि किसी तरह करे भी तो प्रयोग से पहले एक बार ज़रूर सोचेगा। आलोचना के क्षेत्र में इस तरह की फैली हुई भ्रान्तियों को केवल भाषा-विश्लेषण के द्वारा ही दूर किया जा सकता है, इनके लिए किसी बड़े सैद्धान्तिक शस्त्र की आवश्यकता नहीं है।

निःसन्देह इस प्रकार के मूल्य-बोधक शब्द प्रकृत्या ही बहुत-कुछ अस्पष्ट एवं अनिश्चित अर्थ वाले होते हैं, और विज्ञान अथवा तर्कशास्त्र के समान इन साहित्यिक शब्दों को निश्चित अर्थ के साथ बाँध देना सर्वदा सम्भव नहीं है। अस्पष्टता निश्चय ही एक दोष है; क्योंकि, जैसा कि विटगेंस्टाइन ने कहा है, "जो अनिश्चित है वह निश्चित की अपेक्षा अपने लक्ष्य की प्राप्ति में कम सफल होता है। इसलिए मूल प्रश्न लक्ष्य का है।" स्पष्ट है कि यह लक्ष्य ही युक्तियों और अवधारणाओं की अनिश्चितता का निर्णायक है। स्पष्ट लक्ष्य वाला विचारक अस्पष्ट-से-अस्पष्ट अवधारणा को भी विचार और विश्लेषण के क्रम में अभीष्ट निश्चितता प्रदान कर देता है। उदाहरण के लिए 'ईमानदारी' शब्द। ईमानदारी भी 'प्रामाणिकता' से कम अस्पष्ट नहीं है और नई कविता की चर्चा में इसका खूब उपयोग किया गया, यहाँ तक कि प्रयोगकर्ताओं ने किसी के मन में इसकी वस्तुनिष्ठ युक्तता के निर्णय का प्रश्न भी नहीं उठने दिया। संभव है उनके लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह पर्याप्त निश्चित और स्पष्ट रहा हो।

अन्त में मुक्तिबोध ने साहित्य में 'ईमानदारी' की स्वयंसिद्धता के सामने प्रश्नचिह्न लगाते हुए अपने लक्ष्य के अनुसार उसे अर्थवत्ता प्रदान की। उन्होंने एक रचनाकार के अन्दर काम करने वाले उन अन्तर्निषेधों की ओर संकेत किया जो लेखक की ईमानदारी के बावजूद अनजाने ही आत्मछल की सृष्टि करते हैं। इसलिए उन्होंने कहा कि "व्यक्तिगत ईमानदारी वहाँ लक्षित होगी जहाँ वस्तु का वस्तुमूलक आकलन करते हुए लेखक उस आकलन के आधार पर वस्तुतत्त्व के प्रति सही-सही मानसिक प्रतिक्रिया करे।" इस प्रकार मुक्तिबोध ने 'ईमानदारी' की रोमांटिक एवं आत्मपरक अवधारणा को मूल्यांकन में समर्थ आलोचना की वस्तुनिष्ठ कसौटी का रूप प्रदान किया। मुक्तिबोध का यह कथन सामान्यतया आलोचना की सभी 'युक्त' अवधारणाओं के निर्माण के बारे में भी लागू होता है।

किसी ऐसे अनिश्चितार्थ शब्द को निश्चित अर्थ प्रदान करने के अतिरिक्त कोई आलोचक चाहे तो अपने अभिप्रेत की सिद्धि के लिए एकदम नए पारिभाषिक शब्दों का भी निर्माण कर सकता है, अथवा सामान्य शब्दों को पारिभाषिकता प्रदान कर सकता है। ऐसे शब्दों की युक्तता स्थिति-विशेष या सन्दर्भ द्वारा निर्धारित होती है। जैसे स्वयं मुक्तिबोध ने ही 'संवेदनात्मक ज्ञान' तथा 'ज्ञानात्मक संवेदन' का प्रयोग पारिभाषिक ढंग से किया है। इसी प्रकार 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' के अंतर्गत श्री विजयदेव नारायण साही ने व्यक्तिगत ढंग से अनेक शब्दों का पारिभाषिक प्रयोग किया है। किन्तु ऐसी स्थिति में, जैसा कि साही ने किया है, पाठक को इन शब्दों की प्रकृति के प्रति आत्मसजग कर देना आवश्यक है। एक सच्चे आलोचक की आत्मसजगकता का परिचय देते हुए साही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "ये कल्पना चित्र मूलतः आलोचना और विश्लेषण के औज़ार हैं, कृतिकारों के आदर्श और उद्देश्य नहीं। उनकी कसौटी यही है कि वे जीवन और साहित्य के विराट और प्रमथित कर देने वाले उतार-चढ़ाव में कोई पैटर्न, कोई डिज़ाइन, कोई तारतम्य या संगति देखने में मदद कर सकते हैं या नहीं।" इस प्रकार एक बार आलोचक के इन कल्पना-चित्रों का बोध हो जाने के बाद उनके दुरुपयोग का खतरा नहीं रहता।

आज हिन्दी आलोचना की जैसी स्थिति है उसमें किसी सर्वथा नई रचना के साक्षात्कार के समय उसकी विशिष्टता का ठीक-ठीक वर्णन करने में आलोचक की भाषा का एक हद तक अत्यधिक व्यक्तिगत हो उठना असंगत नहीं है। ''शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट'' का विश्लेषण करते हुए श्री विजयदेव नारायण साही ने इसी प्रकार की व्यक्तिगत भाषा का उपयोग करने की विवशता अनुभव की है, जो प्रथम परिचय में अबूझ प्रतीत होती हुई भी अन्ततः कवि की रचना के प्रति एक अन्तर्दृष्टि प्रदान कर जाती है, और इस प्रकार उसके अनेक अलक्षित पक्षों को नये आलोक में रख देती है।

स्पष्ट ही आलोचना की यह व्यक्तिगत शब्दावली सार्वजनिक भाषा की पारिभाषिक पदावली का अंग नहीं बन सकती और कदाचित् उसका उद्देश्य भी यह नहीं है। बल्कि अक्सर व्यक्तिगत छाप वाले ये शब्द दूसरों के हाथ पड़कर अपनी जीवंतता खो बैठते हैं। अंग्रेज़ी आलोचक डॉ० एफ़० आर० लीविस ने 'रियलाइज़ेशन', 'एनैक्टमेंट', 'रेलेवैंस', 'कांक्रीटनेस' जैसे शब्दों पर व्यक्तिगत छाप लगाकर जिस लचीलेपन और जीवंतता के साथ रचनाओं के विश्लेषण में उनका उपयोग किया है, वे उनके अनुयायियों के हाथ पड़कर जड़ यंत्र हो गए। इससे यही प्रमाणित होता है कि सच्चे रचनाकार की तरह कृती-आलोचक की भाषा भी व्यक्ति-विशिष्ट होती है, और यह विशिष्टता केवल शब्दावली में ही नहीं, बल्कि कभी-कभी उसके 'स्वर' अथवा 'तेवर' से भी साफ़ पहचानी जा सकती है। संभवतः इसी दृष्टि से डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने आलोचना की भाषा में पारिभाषिकता की अपेक्षा अनुभव के खुलेपन पर बल देते हुए कहा है कि आलोचक ''अपनी बात को जितनी दूर तक पारिभाषिक शब्दावली नहीं बनने देगा, उतनी ही दूर तक वह आलोचना-कर्म में सफल होगा, क्योंकि रचनाकार के साथ-साथ उसका भी धर्म है कि वह अनुभव को जड़ न होने दे।''

इस प्रकार हम भाषा के उस आदर्श की ओर अग्रसर होते हैं जिसे दर्शन शास्त्र के साक्ष्य पर डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे ने 'सामान्य भाषा' कहा है। साहित्य में जहाँ भावात्मक भाषा की प्रधानता हो, आलोचना की भाषा के भावाविष्ट होने की आशंका दर्शन से भी अधिक है। विशेषरूप से हिन्दी में जबकि किशोरमति छात्रों के तोष के लिए ''एकांकी हिन्दी साहित्य के कपोल पर चुम्बन है'' (खयाल नहीं कि फिर पाँच अंकों वाला नाटक क्या होगा!) जैसी निरर्थक सूक्तियों को आलोचना के रूप में प्रस्तुत करने की अटूट परम्परा रही हो, 'सामान्य भाषा' के आग्रह की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। किन्तु यहाँ भी दर्शन-शास्त्र में 'सामान्य भाषा' के आग्रह के अतिरेक से शिक्षा ग्रहण करते हुए व्यंजक काव्य-भाषा का सर्वथा बहिष्कार नहीं कर सकते। प्रभावाभिव्यंजक आलोचना की छायावादी भाषा के विरोधी आचार्य शुक्ल ने स्वयं ही अपनी बात स्पष्ट करने के लिए आलोचना में उपमाओं और रूपकों का सहारा लिया है। कभी वे घनानंद को 'साक्षात् रसमूर्ति' कहते हैं तो कभी प्रबंध-काव्य और मुक्तक का अंतर समझाते हुए कहते हैं कि ''यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वन-स्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।''

इधर के आलोचकों ने यथास्थान अपनी बात स्पष्ट करने के लिए इसी तरह की अलंकृत भाषा का सहारा लिया है। आलोचना कर्म को स्पष्ट करते हुए श्री विजयदेव नारायण साही एक जगह कहते हैं कि ''यन्त्र-जगत् की एक स्थूल उपमा के द्वारा हम यों कह सकते हैं कि रेडियो की सुई को उचित लहर मान पर लाकर लगा-भर देना आलोचना का काम है, बाकी ट्रान्समीटर से आता हुआ गायन तो रेडियो सेट स्वयं पकड़ेगा। अब अगर यहाँ से गायन आ ही न रहा हो या, आवाज़ में ही गड़बड़ी हो, तो आलोचक गाने वाले के स्वर में स्वर मिलाकर गा नहीं सकता।'' यह उपमा देने से पहले ही उसे 'स्थूल' कहना नए आलोचक की आत्मसजगता का सूचक है जो पहले विरल थी। इसीलिए बहुत से आलोचक अपनी उक्ति को नाकामयाब होते देख कवि के स्वर-में-स्वर मिलाकर गाने का भी हौसला रखते थे। और आज भी आलोचना में अलंकृत भाषा बहुतों के लिए विवशता से अधिक शौक है। हिन्दी में सम्भवतः 'सामान्य भाषा' में आलोचना लिखने का सफल प्रयास डॉ० रामविलास शर्मा ने किया है जो कभी-कभी अतिसरलीकृत प्रतीत होती हुई भी अपने सर्वोत्तम रूप में आज भी आदर्श है। तात्पर्य यह कि 'सामान्य भाषा' का अर्थ सपाट भाषा नहीं है। मूल प्रश्न है भाषा की वाचकता या व्यंजकता का। अंततः भाषा-सामर्थ्य इस बात में है कि ''उसकी काट से आलोच्य कृति में उत्तेजक चमक उजागर हो।'' और इसके लिए आवश्यक है जीवट। 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो' में राहुल सांकृत्यायन ने इसी जीवट की याद दिलाते हुए कहा है कि ''किताब पढ़कर सीखने वालों की भाखा में जीवट नहीं होता। हिन्दी पढ़ने वालों ने सैकड़ों बरस पहले उन गँवारों से भाखा तो ले ली, लेकिन उनका जीवट नहीं लिया।'' यदि यह जीवट हो तो मामूली भाषा में भी बारीक-से-बारीक औज़ार की धार होगी। कुछ लोगों का खयाल है कि वैज्ञानिक विधि से गढ़ी हुई भाषा ही यथातथ्य होती है, लेकिन इधर की गढ़ी हुई पारिभाषिक शब्दावली में

लिखी हुई आलोचना के एक पैराग्राफ से ही इस भ्रान्ति का निराकरण हो सकता है। यथातथ्यता का आभास देने वाली यह भाषा छायावादी गद्य से भी अधिक अस्पष्ट और हवाई होती है।

भाषा-सम्बन्धी इस ब्यौरे से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि रचना के समान ही आलोचना की भाषा के लिए भी कोई निरपेक्ष प्रतिमान स्थिर नहीं किया जा सकता। कठिनाई यह है कि रचना के क्षेत्र में इस बात को स्वीकार करने के बावजूद आलोचना के क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की शास्त्रीय भाषा का आग्रह किया जाता है। शास्त्रियों की धारणा है कि साहित्य शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का कोश ही आलोचना की भाषा है। ऐसे ही आचार्य आलोचना के क्षेत्र में कभी प्रतिमान और मानदण्ड की माँग करते हैं तो कभी पद्धति या 'मेथडॉलॉजी' की। इससे भाषा में एकरूपता आने के साथ ही साहित्य-सम्बन्धी अनुभव की प्रतिक्रियाओं में भी एकरूपता आती है, वाग्जाल की सृष्टि होती है सो अलग। पद्धति में सुरक्षा तो है, किन्तु किसी अर्थगत अन्वेषण की सम्भावना न्यूनतम है। पद्धति के आग्रही वस्तुत: साहित्य-शास्त्री हैं, आलोचक नहीं। वस्तुत: आलोचना में कोई एक पद्धति नहीं, बल्कि पद्धतियाँ हैं। प्रत्येक आलोचना-पद्धति के अपने पारिभषिक शब्द हैं और ये शब्द साहित्य-सम्बन्धी एक निश्चित धारणा से सम्बद्ध हैं। इस सन्दर्भ को भूलकर उन शब्दों और पद्धतियों का सामान्य प्रयोग खतरनाक है। अपनी समझ से तो वे एक अच्छा लगने वाला पारिभाषिक शब्द उठाते हैं, लेकिन उनके अनजाने ही उस शब्द के साथ पूरी एक दुनिया चली आती है। यह प्रवृत्ति कुछ इस प्रकार की है जैसे कोई पुर्जों के ढेर में से ढेर सारे चमकदार पुर्ज़े अपनी मशीन के लिए इकट्ठा कर ले और अन्त तक न जान पाए कि ये पुर्ज़े तो अलग-अलग मशीनों के हैं। आलोचना की भाषा को समृद्ध करने के नाम पर इधर अन्धाधुन्ध इसी तरह के देशी-विदेशी नए-पुराने पुर्जों का ढेर जमा किया जा रहा है और इस प्रकार एक ही पैराग्राफ में अभिनवगुप्त-रिचर्ड्स-क्रोचे-काडवेल—अंग्रेज़ी के नव्य-समीक्षक एक साथ बुरी तरह ठेलमठेल करते दिखाई पड़ते हैं। यह भाषा नहीं मदारी का झोला है। भाषा-विश्लेषण के द्वारा आलोचना में इस प्रकार के भ्रम को बड़ी सरलता से छाँटा जा सकता है।

सर्जनशील आलोचक इस प्रकार की संग्रह-वृत्ति के चक्कर में पड़ता ही नहीं, क्योंकि उसकी समस्या का स्तर ही दूसरा है। किसी एक कृति अथवा एक के बाद एक अन्य कृतियों के साक्षात्कार की प्रक्रिया में उत्पन्न विशिष्ट काव्यानुभूति का वर्णन और मूल्यांकन करते हुए वह धीरे-धीरे एक प्रणाली तथा उससे सम्बद्ध एक विशिष्ट शब्दावली का विकास करता चलता है। यह प्रणाली कभी खुले, कभी छिपे रूप में उसकी जीवन और साहित्य-सम्बन्धी धारणाओं का प्रतिरूप होती है। इसे अधिक-से-अधिक सुसंगत, व्यवस्थित और यथासम्भव व्यापक बनाने के लिए वह भरसक यथातथ्य एवं वाचक भाषा का उपयोग करता है। इसलिए उसकी समस्या अपनी कल्पना और अन्तर्दृष्टि के द्वारा अधिक-से-अधिक इस प्रणाली के प्रक्षेपण में होती है। इस प्रयास में उसके सम्मुख, जैसा कि श्री यशदेव शल्य ने कहा है, सबसे बड़ी चुनौती 'युक्तता' की होती है। आलोचना यदि मूल्यांकन है तो आलोचक का प्रत्येक मूल्य-निर्णय युक्तता की जाँच के लिए खुला हुआ है। श्री शल्य ने अत्यन्त युक्तिसंगत ढंग से यह प्रतिपादित किया है कि यदि एक ओर निर्णयों का युक्तता प्रसंग गोलाकार होता है तो दूसरी ओर मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों की स्थिति तथ्य-सम्बन्धी निर्णयों से भिन्न होती है। दार्शनिक वादविवाद के बीच से उपलब्ध ये विचार-सूत्र साहित्य की आलोचना के लिए अत्यन्त मूल्यवान साबित हो सकते हैं। इसके साथ ही साहित्य की एक परिभाषा अथवा साहित्य-सम्बन्धी एक धारणा भी जुड़ी हुई है, जिसकी ओर श्री शल्य ने स्पष्ट संकेत किया है। आज हिन्दी में अनेक मूल्य-निर्णयों को लेकर आए-दिन जो वितण्डा खड़ा हो जाता है, उसे साफ करने में इससे मदद मिल सकती है और हम युक्त मूल्य-निर्णय कर सकने में न सही, तो कम-से-कम उसकी युक्तता-सम्बन्धी प्रश्न को ठीक-ठीक भाषा में उठा सकने की स्थिति में हो सकते हैं। अनेक प्रसंगों में जहाँ लोग सही या गलत, प्रशंसा या निन्दा-जैसी ऊपरी बातों को लेकर उलझते दिखते हैं, ऐसी बातों की व्यर्थता महसूस करते हुए 'समझने' की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं। समझने और समझे जाने का यह वातावरण ही आलोचना की भाषा में खुलापन और जीवट ला सकता है।

कहना न होगा कि मूल्यों की इस युक्तता के लिए भी आलोचना को निर्मम संघर्ष करना पड़ेगा, क्योंकि यह संघर्ष भी आलोचनात्मक संवाद का ही एक अंग है। यदि आलोचना निष्क्रिय रसास्वाद नहीं, बल्कि सक्रिय मूल्यांकन है तो यह भी निश्चित है कि प्रत्येक मूल्यांकन एक वैचारिक संघर्ष है। साहित्य की कृतियाँ खाने की मेज़ पर करीने से लगाई हुई तश्तरियाँ नहीं हैं जिन्हें मेहमान की तरह कोई आलोचक रसास्वाद लेने के लिए निमन्त्रित हो। साहित्य में जो गहरे स्तर पर संपृक्त है और इस संपृक्ति के नाते साहित्य के वृहत्तर परिवेश से अपने को सम्बद्ध अनुभव करता है, वही

आलोचना-कर्म की गम्भीरता को भी समझता है। यदि ज़िन्दगी में रोटी का हर टुकड़ा एक संघर्ष की उपलब्धि है तो किसी कृति से प्राप्य आस्वाद का हर क्षण भी संघर्ष का ही फल है। यही संघर्ष आलोचना की भाषा को जीवंतता प्रदान करता है। आचार्य शुक्ल की यथातथ्य, संयत, ओजस्वी, तेज, तर्रार, तल्ख और प्रसन्न भाषा इसी लड़ाकूपन के बीच बनी है। निराला ने इसी अर्थ में गद्य को 'जीवन-संग्राम की भाषा' कहा है। पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर की भाषा का तेवर इस संघर्ष की अदा से दिखा सके हैं, और मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' के संवाद में इसी तनावपूर्ण भाषा का जीवन्त संघर्ष है। हिन्दी आलोचना की भाषा का विकास ऐसे ही तथाकथित अशास्त्रीय एवं वैयक्तिक प्रयासों के बीच हो सका है। आलोचना की भाषा में स्फूर्तिप्रद जीवंतता, मानवीय गहराई और निर्णय की स्वच्छता के प्रकाशन के लिए स्पेन-युद्ध में शहीद होने वाले युवा अंग्रेज़ आलोचक राल्फ फॉक्स के निम्नलिखित उद्धरण से अधिक प्रासंगिक संभवतः कुछ और न होगा :

"गद्य की यह कला हमारे अपने युग में मरणासन्न हो रही है। कारण कि चीज़ों को उनके सही नाम से पुकारने के लिए आपके हृदय में उन चीज़ों के प्रति कोई डर नहीं होना चाहिए जिनका कि आपको वर्णन करना है। साथ ही यह भी ज़रूरी है कि आप अपने और उनके बीच कोई दीवार न उठने दें। कौबेट गद्य को कुछ और समझता था, बी० बी० सी० उसे कुछ और समझता है। कौबेट जीवन को व्यक्त करने के लिए भाषा का उपयोग करता था। बी० बी० सी० उसका उपयोग जीवन को छिपाने के लिए करता है। सैनिक-किसान कौबेट के अंग्रेज़ी लहजे में हार्दिकता, अनुराग और समझदारी का पुट होता है। (साथ ही उस आम अनुभूति या समझ का भी जो कि हमारे जीवन की आम चीज़ों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क से पैदा होती है)।

"पोर्टलैण्ड के भद्र पुरुषों की क्षीण वाणी में न भावों का पता चलता है, न अनुराग, विचार या संवेदनशीलता का। जीवन की परिचित तथा प्रिय चीज़ों का कोई भी प्रतिबिम्ब उसमें नहीं दिखाई देता, केवल उन हौवों और भूतनों की पतली छायाएँ नज़र आती हैं जिन्हें हमारे आधुनिक शासकों ने उक्त चीज़ों के बदले अपने दिमागों में खड़ा कर लिया है। शायद यह तुलना अनुचित है। अब और क्या कहें, हालाँकि यह एक दुःखद सत्य है कि कौबेट से लेकर आज तक हमारी भाषा का विकास बी० बी० सी० के इसी रक्तशून्य, दोषरहित आदर्श की दिशा में हुआ है। यह विकास सत्य के प्रति उस भय से सीमित और कुण्ठित रहा है, जो कि हमारे वर्ग-समाज के बौद्धिक जीवन की अत्यन्त उल्लेखनीय विशेषता है। यदि हमें चीज़ों को उनके नाम से पुकारना फिर शुरू करना है तो हमें काफी ज़मीन तय करनी होगी और साहित्य के पण्डितों से अत्यन्त भीषण युद्ध में उलझना पड़ेगा।"

•

आलोचना की भाषा

अर्थ-प्रक्रिया का विश्लेषण और संवर्धन

रामस्वरूप चतुर्वेदी

आलोचना की भाषा अपने-आपमें एक बड़ी कठिन और सुकुमार प्रक्रिया है। अनुभव और अर्थ के जिस संश्लेष को रचनाकार प्रतीक-बिंब के माध्यम से, यानी भाषा के अधिकतम सर्जनात्मक रूप के सहारे व्यक्त करता है, उसे अपेक्षया सीधी-सादी, सपाट भाषा में विश्लेषित और व्याख्यायित करते रहने का दायित्व समीक्षक का है। और फिर यह विश्लेषण-व्याख्या वहीं तक चले जहाँ तक उस सूक्ष्म अर्थ-संश्लेष के विकृत या विरूप होने का खतरा न हो। स्पष्ट ही, हम यहाँ यह मानकर चलेंगे कि भाषा अर्थ-सृष्टि की वाहक-भर नहीं, अर्थ-सृष्टि की प्रक्रिया और इसीलिए एक स्तर पर जीवन की ही प्रक्रिया है। आलोचक को इस विकसनशील अर्थ-प्रक्रिया को उसी सफ़ाई से व्यक्त करना है जितनी कुशलता से रचना स्वयं जीवन की संश्लिष्टता और समग्रता को व्यक्त करती है, जीवनानुभव को ही समृद्ध बनाना चाहती है। और आलोचना रचना की अर्थ-प्रक्रिया को भी प्रशस्त और समृद्ध कर सके, यही तो उचित और काम्य है।

इतने बड़े दायित्व के निर्वाह में यदि उतने ही बड़े खतरे हों तो यह स्वाभाविक है। अपनी प्रक्रिया में समकालीन आलोचना की भाषा को जिन दो खतरों का खास तौर से सामना करना पड़ रहा है यहाँ उनकी ओर संकेत करना चाहूँगा। एक ओर आलोचना की भाषा पंडिताऊ और कड़ी—समझने की दृष्टि से नहीं, संप्रेषण की दृष्टि से—हो जाती है, और दूसरी ओर वह साप्ताहिक पत्रकारिता की पिघलती, उफनती भाषा का रूप धारण कर लेती है। दोनों ही स्थितियों में भाषा का सहज संस्कारी रूप आहत होता है और अनुभव की पकड़ कठिनतर हो जाती है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में रचनात्मक भाषा की ओर ध्यान योंही कम दिया जाता रहा है, और आलोचना की भाषा के बारे में तो चिंता करने की कभी ज़रूरत ही महसूस नहीं की जाती। इसीलिए अनुभव और भाषा में जैसा अभेद विकसित होना चाहिए वैसा नहीं हो पाता।

पंडित (आजकल के डॉक्टर) आलोचकों की भाषा में अनुभव के प्रति विनम्रता या खुलापन नहीं, पांडित्य का कड़ापन और दंभ है। वे शास्त्र से अनुभव को नापते हैं, अनुभव से शास्त्र को नहीं। समसामयिक साहित्य को आधार बनाकर तैयार की गई हिंदी शोध ने भाषा के रूप को निर्जीव बनाने के इस क्रम में और भी सहायता दी है। पंडिताऊ और इतिवृत्तपरक शोध की भाषा ने हिंदी में आलोचना के संवेदनशील गद्य की परंपरा को—जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हाथों कुशल प्रौढता मिली थी—बुरी तरह आच्छादित कर रखा है। शुक्लजी की आलोचना की विशेषता है—जो कि आलोचना मात्र की विशेषता होनी चाहिए—कि उसे पढ़ते समय रचना के अनुभव से सीधा साक्षात्कार होता चलता है, अनुभव के पुनर्सृजन का क्रम बराबर अविच्छिन्न रहता है। पर जैसा कहा गया, परवर्ती आलोचना अनुभव से शास्त्र की ओर चली गई। यहाँ स्मरणीय है कि पूरी शास्त्र-चर्चा वाले अपने निबंधों में भी शुक्लजी अनुभव को ही केन्द्र में रखते हैं, और जहाँ सूर-तुलसी-जायसी या आधुनिक कवियों से संबद्ध व्यावहारिक आलोचना है वहाँ तो शुक्लजी की कलम ने मूल रचना के अनुभव को समृद्धतर ही बनाया है। 'रामचरितमानस' अब हिंदी-पाठक के लिए अकेले तुलसीदास का कृतित्व नहीं है, उसके अनुभव को विकसित करने में शुक्लजी का योग अन्यतम है। और किसी भी आलोचक के बारे में ऐसा कह सकना निश्चय ही आशंसा का उच्चतम स्तर है।

आलोचना की पंडिताऊ और कड़ी भाषा से अनुभव कैसे छूट जाता है इसका एक उदाहरण देना ज़रूरी है—"अज्ञेय की यह कविता नई कविता है और **सुन्दर भी**। इसके आकर्षण का रहस्य क्या है? **सुन्दर** बिंब? हाँ, इन पंक्तियों द्वारा प्रमाता की कल्पना में उद्‌बुद्ध बिंब निश्चय ही अत्यन्त आकर्षक और सजीव है। काँच के पीछे अपनी प्राण-रक्षा के लिए जल में थिरकती हुई, सोन-मछली का चित्र एकदम आँखों के सामने नाच उठता है—चमकती हुई मछली की तरंगित आकृति मानो 'जिजीविषा' शब्द के **वलयित** उच्चारण के साथ शब्दमूर्त हो जाती है। इतने कम शब्दों में ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत कर देना निश्चय ही सधे हुए कलाकार का काम है। परन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या यह शब्द-चित्र ही इस कविता की अंतिम सिद्धि है? क्या प्रस्तुत शब्द-चित्र को रससिक्त करनेवाली संवेदना, **जो केवल मानव-चेतना को ही वरदान-रूप में प्राप्त है**, इसकी चरम सिद्धि नहीं है? बिंब निश्चय ही कला की सिद्धि है, पर उस बिंब को जीवंत करने वाला तत्त्व तो मानव-चेतना का स्पर्श ही है, और उसी का नाम रस है।"

आलोचना की भाषा का पहला खतरा इस उद्धरण के माध्यम से अच्छी तरह समझा जा सकता है। यदि विश्लेषण करें तो भाषा-संबंधी शैथिल्य के कई दुष्परिणाम स्पष्ट दिखाई देते हैं—

(१) काले छापे के शब्द या वाक्यांश पूरे उद्धरण के संदर्भ में कोई संगत भाव व्यक्त नहीं कर पाते। उदाहरण के लिए, कविता की चर्चा करते समय 'सुन्दर' के साथ 'भी' जोड़कर इस प्रत्यय की संप्रभुता को ही आहत किया गया है। कविता सुन्दर हो सकती है—यद्यपि समीक्षा के संदर्भ में वह भी प्रभाववादी प्रतिक्रिया ही होगी—पर 'सुन्दर भी' कहकर तो सौंदर्य-भावना का ही तिरस्कार कर दिया गया है।

(२) उद्धरण के पूर्वार्द्ध में दो बार कविता में प्रयुक्त बिंब को उन्मुक्त कंठ से 'सजीव' स्वीकार कर लेने के बाद अंत में फिर बिंब को जीवंत करने की प्रक्रिया क्यों शेष मानी गई है? नाहक में तर्क यह बनाया गया है जैसे कि इतर जन बिंब को संवेदना से पृथक् मानते हैं, जबकि इस आरोप का कोई संगत आधार नहीं है। आचार्य शुक्ल ने बताया है कि "बिंब ग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की स्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है।"

(३) वास्तविक स्थिति यह है कि ऊपर उद्धृत अज्ञेय की कविता से संबद्ध समीक्षा-अंश में बिंब या कि शब्द-चित्र के साथ संवेदना का बड़ा स्थूल और भोंडा संबंध बैठाया गया है—"प्रस्तुत शब्द-चित्र को रससिक्त करने वाली संवेदना" पढ़ने पर लगता है कि संवेदना वह चाशनी है जिसमें लपेट-लपेटकर शब्द-चित्र के गुलाबजामुन निकाले जा रहे हों। इन पंक्तियों से बिंब और संवेदना का संपृक्त स्वरूप बिलकुल नहीं उभरता, जिसको लेकर समीक्षक का दावा है कि वह औरों की विभ्रमित दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए इस विभावन की व्याख्या कर रहा है, और जिसे व्यक्त करने के लिए शुक्लजी बराबर अपने प्रिय शब्द 'संश्लिष्ट' का सतर्क और सही प्रयोग करते हैं।

(४) इस सबका परिणाम यह है कि उद्धरण का अंतिम अंश, जिसे कि एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है, चक्कर में तर्क करने का (बिंब-संवेदना-रस-बिंब) उदाहरण प्रस्तुत करता है, और रचना के अनुभव को समृद्ध करना तो दूर, प्रकट ही नहीं कर पाता। भाषा में चूक है, इसका अर्थ है कि समझ में ही कहीं कोई चूक है।

भाषा के निपट शास्त्रीय और कड़ी होने से यदि वह जीवनानुभव से विलग हो जाती है तो दूसरी ओर साप्ताहिक पत्रकारिता की भाषा में अनुभव को लेकर आवेश व्यक्त किया जाने लगता है और अनुभव फिर छूट जाता है। इस प्रवृत्ति का भी एक उदाहरण लिया जा सकता है—"अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर इस वर्ग के किसी एक लेखक ने यह साहस नहीं किया कि वह रूढ और अंध संस्थाओं द्वारा स्थापित वर्जनाओं के ख़िलाफ़ एक शब्द कहता। **आदमी के भीतर मरते हुए आदमी** को अभिव्यक्ति देता। आदमी की स्वाधीनता को कैद करने वाले निहित स्वार्थों द्वारा रचे जा रहे षड्यंत्र के विरुद्ध प्रतिवाद करता। मनुष्य जब **अपनी मौत से ज्यादा बड़ी एक और मौत** के लिए मजबूर किया जा रहा है, तब हमारा यह लेखन उन पात्रों को **वैचारिक कफन** उढ़ा रहा है।" मौत और उससे संबद्ध उपकरणों (द्रष्टव्य, काले छापे के अंश) का भाषिक स्तर पर उन्मुक्त प्रयोग अतिनाटकीयता का अनिवार्य अंग है। इस प्रकार की समीक्षा (?) में विश्लेषण की अपेक्षा वक्तृत्व का ही अंश अधिक होगा।

यह स्मरणीय है कि अपनी इस आलोचना से साप्ताहिक पत्रकारिता के महत्त्व को मैं कम नहीं करना चाहता। विकसनशील प्रजातंत्र के उगती हुई शिक्षा और साक्षरता के युग में साप्ताहिक पत्रकारिता का दायित्व और योग निश्चय ही बहुत बड़ा है। पर कठिनाई तब आती है जब साप्ताहिक पत्रकारिता के कॉलम को समीक्षा के मूल-रूप से मिला दिया जाता है। इसमें हानि समीक्षा की ही नहीं, साप्ताहिक पत्रकारिता की भी होती है। पर पिछले कुछ वर्षों में साप्ताहिकों के साहित्यिक कॉलमों की सामग्री समीक्षा के संदर्भ में बड़े आत्मविश्वास और प्रामाणिक भाव के साथ उद्धृत की जाने लगी है और आलोचना की भाषा के विकृत होने का खतरा यहीं आता है।

आलोचना की भाषा रचना के अनुभव को विवृत और समृद्ध करने में कहाँ तक समर्थ है, यह जाँचने का एक अच्छा ढंग यह होगा कि किसी समीक्षक द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट और केन्द्रीय शब्दावली को इस दृष्टि से परखा जाए कि वह अनुभव को किस नए और सार्थक ढंग से पकड़ सकी है। यह ध्यान रखना होगा कि आलोचक द्वारा प्रयुक्त यह शब्दावली विशिष्ट होते हुए भी पारिभाषिक इसलिए नहीं होगी, क्योंकि वह अर्थ और अनुभव की निश्चितता को नहीं, उन्मुक्तता को व्यक्त करना चाहेगी। पिछले साहित्य-चिंतन के प्रत्ययों को आलोचक पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से प्रयुक्त करेगा, पर अपनी बात को जितनी दूर तक वह पारिभाषिक शब्दावली नहीं बनने देगा, उतनी ही दूर तक वह अपने आलोचना-कर्म में सफल होगा, क्योंकि रचनाकार के साथ-साथ उसका भी धर्म है कि वह अनुभव को जड़ न हो जाने दे।

हिंदी में आलोचना के कुछ ऐसे विशिष्ट शब्द-प्रयोग विकसित हुए हैं। रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना-प्रक्रिया को समझने के लिए केन्द्रीय शब्दावली है—'संश्लिष्ट चित्रण', 'लोकमंगल'। हजारीप्रसाद द्विवेदी—जिनके सम्मान में 'आलोचना' के इस अंक का आयोजन किया गया है—का ऐसा ही प्रिय प्रयोग है—'मानव की जय-यात्रा'। अज्ञेय के साहित्य-चिंतन में 'व्यक्तित्व की खोज' का भाव प्रमुख है। इस प्रकार के शब्द-प्रयोगों के पीछे आलोचक का पूरा चिंतन-क्रम परिलक्षित किया जा सकता है, उनकी मुख्य रचना-चिंता समझी जा सकती है। शुक्लजी के दोनों शब्द-प्रयोग अपने में साहित्य की पूरी रचना और आस्वादन-प्रक्रिया को समेट लेते हैं। जीवन और अनुभव, और इसीलिए बिंब-गठन, की संश्लिष्टता पर उनका बहुत बल है। अनुभव की एकांगिता को वे किसी भी बड़ी रचना की दृष्टि से अपर्याप्त समझते हैं। प्रकृति की चर्चा करते समय भी उन्होंने संश्लिष्ट चित्रण की ही बात कही है। वे जानते हैं कि अनुभव की सतत क्रिया-प्रतिक्रिया के बिना रचना-दृष्टि का विकास संभव नहीं हो सकता। अपने इस रूप में शुक्लजी का यह संश्लिष्ट चित्रण का विभावन उनका निजी है।

शुक्लजी के लोकमंगल भाव की चर्चा हिन्दी-समीक्षा के इतिहास में अपेक्षया अधिक हुई है—'संश्लिष्ट चित्रण' की तुलना में निश्चय ही अधिक। 'सामाजिक चेतना' से अभिप्रेरित लेखकों के समर्थन और अनुमोदन ने ही शायद इस

चर्चा को अधिक विस्तृत बनाया हो, जबकि 'संश्लिष्ट चित्रण' उनको रूपवादी और इसीलिए प्रतिक्रियावादी विभावन लगा हो। 'सामाजिक चेतना' और 'लोकमंगल' की तुलना यदि की जाए तो दोनों का अन्तर स्पष्ट होगा—एक में पश्चिमी भावधारा का अनुवाद है तो दूसरा लेखक का मौलिक प्रयोग है। भावबोध के स्तर पर दोनों में कुछ साम्य होते हुए भी 'लोकमंगल' में आध्यात्मिक अर्थ-छाया झलक रही है, जबकि 'सामाजिक चेतना' में पश्चिम के भूतवादी समाज विज्ञान का स्वर प्रमुख है। बहरहाल साहित्य के सृजन और आस्वादन दोनों पक्षों में शुक्लजी का 'लोकमंगल' का विभावन 'संश्लिष्ट चित्रण' के साथ-साथ हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट उपलब्धि है। और, जैसा कहा गया, इन दोनों शब्द-प्रयोगों की बड़ी शक्ति इसमें है कि इनके आधार पर बड़े-से-बड़े शास्त्रवादी को किसी सम्प्रदाय या वाद की प्रतिष्ठा करना कभी आसान नहीं होगा। इस माने में अनुभव की प्रवहमानता का जैसा सम्मान इन प्रयोगों और इनके माध्यम से परिचालित तथा विकसित समीक्षा में देखा जा सकता है वैसा अन्यत्र कठिनाई से ही मिलेगा।

भारतीय समीक्षा की एक बड़ी सीमा यह रही है कि उसका सूक्ष्म साहित्य-चिन्तन स्थूल वर्गीकरणों की भीड़भाड़ में खो गया है। आधुनिक-काल में पश्चिमी समीक्षा के सम्पर्क ने मध्यकालीन भेदों-उपभेदों में जकड़ी हिन्दी समीक्षा को उन्मुक्त और खुला बनाने में सहायता दी है। शुक्लजी का 'लोकमंगल' का विभाजन ठेठ भारतीय है, पर वादों और पद्धतियों से अलग उनकी समीक्षा की खुली और उन्मुक्त प्रक्रिया पश्चिम की टकराहट से विकसित जान पड़ती है। यह उन्मुक्तता पश्चिमी, खासतौर से आधुनिक अंग्रेज़ी समीक्षा का विशिष्ट गुण है। ब्रैडले, रिचर्ड्स, इलियट या एम्पसन सबकी अपनी-अपनी स्वतन्त्र और स्वायत्त विचार-प्रक्रियाएँ हैं। आचार्य शुक्ल की भी समीक्षा-प्रक्रिया इसी कोटि और प्रकार की है। भारतीय और पश्चिमी दोनों पद्धतियों का अच्छा परिचय रखते हुए भी उन्होंने अपने-आपको किसी भी पद्धति के प्रति समर्पित नहीं कर दिया। यही कारण है कि रहस्यवाद और लोकमंगल, अप्रस्तुत विधान और बिम्ब-गठन, रस-परिपाक और संश्लिष्ट चित्रण—इनमें से परम्परित पद्धतियों को समझकर और नई प्रक्रियाओं को विकसित करके उन्होंने रचना के अनुभव में पैठना चाहा है। उन्होंने यह दावा कभी नहीं किया कि इनमें से कोई पद्धति या प्रकिया ऐसी है जिसके माध्यम से हर युग और हर देश के साहित्य को समझा या समझाया जा सकता है। अनुभव और इसीलिए रचना के प्रति उनकी दृष्टि आक्रमण की नहीं, विनम्रता की रही। पर अधिकांश परवर्ती समीक्षा ने शास्त्र की सहायता से रचना पर आक्रमण करना ही मानो आलोचना का धर्म माना है। यही कारण है जिससे मतिराम और अज्ञेय दोनों पर एक ही शास्त्र की सहायता से लिखी गई इस तरह की समीक्षा की भाषा एक-जैसी है। जबकि शुक्लजी की मध्यकालीन और आधुनिक कवियों की समीक्षा में भाषा और पदावली का रूप, उनके अनुभव की तरह, अलग-अलग देखा जा सकता है और यह स्मरणीय है कि शुक्लजी द्वारा की गई आधुनिक काव्य की समीक्षा किसी भी तरह उनकी अन्य समीक्षाओं की तुलना में कम मूल्यवान नहीं है। उनके द्वारा लिखी जायसी-सूर-तुलसी और छायावादी कवियों की समीक्षाओं में भाषा का अन्तर इसलिए है कि शुक्लजी की दृष्टि बराबर वैशिष्ट्य सन्धान की है—"बिंब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा सामान्य या जाति का नहीं।"

शुक्लजी के साहित्य-चिन्तन की शक्ति का यह एक बड़ा कारण है—और प्रमाण भी—कि वे अपनी चिन्तन-प्रक्रिया में आक्रान्त कभी नहीं हुए। जैसी सामर्थ्य के साथ उन्होंने भारतीय आचार्यों का विश्लेषण किया वैसे ही सहज आत्म-विश्वास के साथ उन्होंने क्रोचे और रिचर्ड्स की व्याख्या की है। उपयोग उन्होंने सबका किया, पर अभिभूत वे किसी से नहीं हुए।

पश्चिमी समीक्षा का यह रचनात्मक सम्पर्क शुक्लजी के बाद भी चलता रहा है। इधर के नए रचनाकारों और समीक्षकों ने इस सम्पर्क का कुछ अधिक लाभ उठाया है। अपने निबन्ध 'हिन्दी आलोचना और रचनात्मक साहित्य' को शुरू करते हुए कुँवरनारायण ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है—"शायद इस अनुभव में मैं अकेला नहीं हूँ कि वे साहित्यकार जो स्वतन्त्रता के बाद से सक्रिय रहे हैं, उन्हें विदेशी रचनात्मक साहित्य की अपेक्षा विदेशी आलोचनात्मक साहित्य ने अधिक प्रभावित किया, विशेषकर ऐसे आलोचनात्मक साहित्य ने जिसने साहित्य-सम्बन्धी बुनियादी प्रश्न उठाए। टी० एस० इलियट कवि के रूप में

उतना महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं रहे, जितना आलोचक के रूप में।" (क ख ग-६)। विदेशी रचना के संस्कारों की बजाय विदेशी आलोचना के विचारों के प्रति ग्रहणशीलता अधिक होना स्वाभाविक ही है। पूर्व और पश्चिम के इस बढ़ते हुए सम्पर्क के रचनात्मक और फलप्रद होने के लिए यह उत्तरोत्तर अधिक ज़रूरी होता गया है कि विदेशी संघात का उपयोग करने में लेखक का आत्मविश्वास अधिक विकसित हो, हीनता और दम्भ के बीच की सन्तुलित स्थिति में यह इसलिए और भी आवश्यक है कि भौगोलिक संसार की तुलना में रचना-संसार आज अधिक गति के साथ विस्तृत हो रहा है। और इस फैलते हुए रचना-संसार के साथ संवेदनात्मक संगति बैठाने में लेखक के व्यक्तित्व को कहीं अधिक दवाव और तनाव झेलना होगा। समकालीन हिन्दी-समीक्षा बहुत बार अंग्रेज़ी पदावली के रूपान्तरण से बोझिल दिखती है। यहाँ अनुभव के आक्रांत हो जाने का एक और खतरा है जिसमें से होकर हम सबको गुज़रना पड़ रहा है। आपत्ति विदेशी पदावली पर नहीं है, पर ज़रूरी यह है कि यह पदावली अनुवाद के माध्यम से ही नहीं, अनुभव के माध्यम से विकसित हो। तभी रचना की मौलिक प्रतिभा तक उसकी पहुँच सम्भव होगी।

रचना-संसार के विस्तृत होने का समीक्षा के क्षेत्र में एक अनिवार्य परिणाम यह होगा कि आलोचक को सिद्धान्तों और प्रतिमानों की चिन्ता कुछ कम करके वैविध्य और वैशिष्ट्य की परख को अधिक महत्त्व देना होगा। शुक्लजी ने पहले ही इस बात को पकड़ा था। इसीलिए उनके साहित्य-चिन्तन में रचना का केन्द्रीय तत्त्व 'विशेष या व्यक्ति' है। और यही कारण है कि इतनी अच्छी—और इतनी अधिक भी—संवेदनशील गद्य में समीक्षा लिखने के बावजूद उन्होंने अपने को न किसी सिद्धान्त पर आश्रित रखा, और न ही किसी सिद्धान्त को गढ़ने की चेष्टा की। जिस तरह रचनात्मक साहित्य के आधार पर आलोचना का उदय होता है, उसी तरह व्यावहारिक समीक्षा में से व्यापक सिद्धान्तों का विकास होता है; क्योंकि अनुभव में विकास के साथ-साथ सिद्धान्त पिछड़ सकते हैं, पर व्यावहारिक समीक्षा रचना के अनुभव से निकटतम रूप में सम्बद्ध होकर ही विकसित होती है। प्रतिमानों में निष्पत्ति की स्थिति है, पर अधिक महत्त्व तो प्रक्रिया का ही है।

आलोचना की भाषा को क्रमशः इस वैशिष्ट्यपरक दृष्टि को ही विवृत और विकसित करना है। यानी उसमें पारिभाषिक शब्दावली के फैलाव की बजाय विशिष्ट शब्द-प्रयोगों का सन्धान अधिक अपेक्षित है। इससे समीक्षा रचना के सामान्य गुण-दोष कथन से आगे उसकी मौलिक, विशिष्ट प्रकृति के अन्वेषण और पुनरन्वेषण में संलग्न होगी, और अपनी पकड़ में सीमित न रहकर अनुभव मात्र के प्रति अधिकाधिक उन्मुख और ग्रहणशील हो सकेगी। ●

स्पष्टता और संगति का आग्रह

कृष्णनारायण कक्कड़

जो हम कहना चाहते हैं और जो कह पाते हैं उसमें हमेशा अंतर होता है। इस बात के कहने में मैं भाषाविद् की तरह बात करने की चेष्टा नहीं कर रहा हूँ। सिर्फ़ मैं सभी के द्वारा अनुभव किए जाने वाले एक तथ्य की ओर इशारा कर रहा हूँ। वैसे तो भाषाविद् भी इसी प्रकार की बात कहते आए हैं। वैचारिक स्तर पर यह मानना आवश्यक हो जाता है कि अभिव्यक्ति की सीमाएँ कई प्रकार की होती है। मैं उस सीमा की ओर इशारा कर रहा हूँ जो स्वाभाविक रूप से किसी विचार के मन में होने और उसके कहे जाने या लिखे जाने तक की प्रक्रिया में अंतर्निहित है।

लेकिन फिर भी प्रयास तो हमेशा आदर्श रूप से यही होता रहा है कि हम जो कहना चाहते हैं वही अभिव्यक्त करने में सफल हों। साहित्य के अन्य अंगों का इस समय ज़िक्र न करके यदि हम केवल आलोचना के ही प्रश्न को लें

तो इतना मानना ही पड़ेगा कि इस क्षेत्र में विशेष रूप से यही प्रयत्न होते रहे हैं कि आलोचक अपनी समझ को भाषा के माध्यम से स्पष्ट करता रहे। इस स्पष्ट करने के दौरान दोनों संभावनाएँ हो सकती हैं—एक ओर भाषा अधिक स्पष्ट होती हुई मालूम पड़े और दूसरी ओर अधिक अस्पष्ट या वायवी। इस बात को दूसरी तरह से भी कहा जा सकता है। एक समय पर आलोचक चाहे कितनी ही व्यापक दृष्टि रखता हो और चाहे उसकी समझ कितनी ही पैनी हो, कुछ चीज़ों को समझने में अपने को समर्थ नहीं कर पाता। इस तथ्य को मानना कठिन नहीं होगा, हो सकता है इस तथ्य के कारणों को मानना कठिन हो। संभवतः कुछ ऐसे तथ्य या तत्त्व होते हैं जिन्हें एक समय या युग में पूर्ण रूप से ग्रहण कर सकना या उन पर पर्याप्त ज़ोर देना हमेशा संभव नहीं होता। डॉ० जानसन, जो अंग्रेज़ी के महान् आलोचक थे, बहुतेरे कवियों के संबंध में कई तथ्यों को नज़रंदाज़ कर देते थे जिन्हें मोटे तौर पर आप चाहें तो युग की सीमाएँ कह सकते हैं। यह इसी प्रकार की बात है जो हम हिंदी के एक महान् आलोचक रामचन्द्र शुक्ल के बारे में कहते हैं कि छायावादी कविता के संबंध में उनकी दृष्टि उदार नहीं थी। (वैसे यह भी स्पष्ट कर दिया जाए कि मूल रूप से डॉ० जानसन या रामचन्द्र शुक्ल को ग़लत कह देना उचित न होगा, क्योंकि आज जब हम उनके विचार पढ़ते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि उन्होंने एक विशेष दृष्टि से बात को समझने की कोशिश की थी जो अब इतनी अटपटी नहीं मालूम पड़ती।) हम इस तथ्य की ओर इशारा कर रहे हैं कि किसी समय-विशेष में किसी आलोचक की पूर्ण रूप से सर्वांग दृष्टि का होना एक काल्पनिक स्थिति है। यदि हम इस व्यापक तथ्य को मान लें तो हमें इस नतीजे पर भी स्वाभाविक रूप से आ जाना चाहिए कि पूर्ववर्ती आलोचकों की अपेक्षा वर्तमान आलोचक उन तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेगा ही जो पिछले आलोचक छोड़ गए हैं। यह दो रूपों में होगा—एक तो उस चीज़ को स्पष्ट करने के रूप में जो पहले के आलोचकों को नहीं दिखाई दी थी और आज के आलोचक देख रहे हैं। दूसरी ओर यह भी होगा कि वर्तमान आलोचक वे बहुत-सी चीज़ें देख सकने की चेष्टा करेंगे जो पूर्ववर्ती आलोचक छोड़ गए हैं।

यहाँ हम हिंदी के दो उदाहरण लेंगे—एक महावीरप्रसाद द्विवेदी का जो कविता की भाषा के संबंध में कहते हैं, "पद्य और गद्य की भाषा पृथक्-पृथक् नहीं होनी चाहिए। हिंदी एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है—बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है।" दो टूक शब्दों में बात को कहना, यहाँ तक कि बात के इधर-उधर निकले हुए किनारों को काटकर साफ़-सुथरा कर देना—उस समय महावीरप्रसाद द्विवेदी के लिए आवश्यक था, क्योंकि उन्हें ऐसी बातें कहनी थीं जो औरों के लिए मान्य या सुलभ नहीं थीं। इसी के विपरीत हम एक दूसरा उदाहरण लेना चाहेंगे। नई कविता के संबंध में एक 'नई कविता' के आलोचक के शब्द हैं, "**नई कविता से हमारा आशय होता है उसकी नई परिप्रेक्षणीयता, अनुभूतियों के नए रूपांतरण, सौंदर्य-बोध के नए धरातल···तादात्म सत्य की वे परिधियाँ जिनमें हमारा रागात्मक रसबोध नए आयामों का अन्वेषण करने की सामर्थ्य पाता है।**" इस वाक्य की अस्पष्टता (यदि हम यह मानकर चलते हैं कि आलोचक बात पूरी ईमानदारी से कह रहा है) का कारण संभवतः उन पहलुओं की ओर हमारा ध्यान खींचने का प्रयत्न है जिनको अभी तक हम समझ नहीं पाए थे या पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर पाए थे और आलोचक अपनी इस कोशिश में अपनी बात को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं है।

निष्कर्ष के रूप में यह मान लेना कठिन नहीं होगा कि जो हम कहना चाहते हैं और जितना-कुछ कह पाते हैं उसमें एक खाई है, लेकिन साथ-साथ हम उतने ही एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर आते हैं कि उस खाई को समानांतर पाटने का भी आलोचक का अथक प्रयत्न रहता है। जहाँ पर वह अस्पष्ट लगता है उसके पीछे भी इस खाई को दूर करने का प्रयास छिपा होता है।

इसीसे जुड़ी हुई एक दूसरी बात भी है। अभी तक हम सैद्धांतिक दृष्टि से इसकी चर्चा कर रहे थे कि जो-कुछ कहा जाता है उसमें और जो सोचा जाता है कि कहा जाए, उसमें अभिव्यक्ति के स्तर पर एक खाई है और जैसा कि कहा जा चुका है यह कुछ सीमा तक अनिवार्य होता है और उसके मोटे तौर पर दो कारण हो सकते हैं—एक तो विचार और अभिव्यक्ति का आदर्श रूप में समानांतर न होना और दूसरा एक विशेष युग-संदर्भ या स्थिति में आलोचक का कहीं-न-कहीं

मर्यादित या संकुचित होना। इसके अलावा एक और बात भी है। अक्सर ऐसा होता है कि बहुत-सी बातें हम कह जाते हैं बिना यह सोचे कि हम कुछ कह रहे हैं या नहीं और उसका कारण अभिव्यक्ति का उपलब्ध होना होता है। इस बात को सबसे आसानी से दो उदाहरणों से समझा जा सकता है। जब हम आज उत्तर-छायावादी कविता या छायावादी गद्य पर दृष्टि डालते हैं तो ऐसा अनुभव होता है कि उनके साहित्य में अभिव्यक्ति उस सीमा तक ही सहज है जिस सीमा तक विचार का अनुपस्थित होना। इसके लिए यहाँ उदाहरण देने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी बात को रामचन्द्र शुक्ल ने इस तरह कहा था, "वस्तु योजना चाहे लोकोत्तर हो, पर भावनाभूति का रूप सच्चा अर्थात् स्वाभाविक वासनाजन्य है।"

१९३० तक आते-आते छायावादी कविता ने अपनी चहारदीवारियाँ बना ली थीं। वे आज हमको चहारदीवारियाँ मालूम पड़ती हैं, उस समय लोगों के लिए प्रलोभन थे। कितना आसान था कवियों के लिए एक विशेष प्रकार की भाषा के आश्रित हो जाना और अभिव्यक्ति की नदी को उसी के सहारे समझना, कि हमने पार कर ली। व्यापक रूप से उसके बाद के लेखकों ने इस चीज़ को समझ लिया और ऐसे प्रलोभन (सीमाएँ) स्वीकार करने से इनकार कर दिया और उन्हें अभिव्यक्ति के नए 'आयाम' दिखाई देने लगे। यही नहीं, हिंदी में विशेष रूप से लगभग २५ वर्षों से भाषा के स्तर पर विकास तरह-तरह से हुए और उसके कारण नए विषयों, नए दृष्टिकोणों तथा नए 'नुएंसेज़' (सूक्ष्मताओं) को पकड़ने की चेष्टा थी। इसकी दोतरफ़ा प्रक्रिया हुई। एक ओर अभिव्यक्ति के स्तर पर विस्तार और दूसरी ओर एक ऐसी भाषा-सामग्री का उपलब्ध हो जाना जिसने अभिव्यक्ति को आसान बना दिया। आज के आलोचक के लिए, जैसा कि पहले भी होता रहा है, एक विशेष प्रकार का प्रलोभन है। वह एक विशेष प्रकार की भाषा प्रयोग कर सकता है बिना किसी विशेष बात को कहे। ऊपरी स्तर पर यह भी लग सकता है कि उसकी अभिव्यक्ति काफ़ी आधुनिक है। आलोचना की भाषा के संबंध में इस समस्या का विशेष महत्त्व होता है क्योंकि आलोचना की विधा कुछ ऐसी है कि हर स्थिति पर आलोचक यह रुककर सोचने के लिए बाध्य हो जाता है कि वह जो बात कह रहा है उसका कोई अर्थ-विशेष है। आलोचक को अपनी बात आलोच्य-विषय से अनिवार्य रूप से जोड़नी पड़ती है और वह आलोच्य-विषय आलोचना के लिए स्वतः एक परीक्षा के रूप में, शोधन के रूप में होता है। यह आलोचना का अपना अनुशासन है, अतः वे आलोचक, जो थोड़ी देर के लिए समय-समय पर अपनी कही हुई बात पर विचार करने के लिए बाध्य होते हैं, उन्हें किसी उपलब्ध अभिव्यक्ति के प्रलोभन में पड़ जाने की स्थिति का बोध हो ही जाता है, चाहे वे इस बोध से लाभ उठाएँ या न उठाएँ। आज के वर्तमान आलोचक के सम्मुख यह समस्या सबसे महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एक उद्धरण देंगे।

यद्यपि उस समय की समस्या में और आज की समस्या में एक मौलिक अंतर है लेकिन उन्होंने प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा के उस समय के 'फ़ैशन' के विरोध में जो विचार व्यक्त किए हैं वे आज भी महत्त्व रखते हैं। उन्होंने कहा था, **"इस ढंग की समीक्षाओं में प्रायः भाषा विचार में बाधक बनकर आ खड़ी होती है। लेखक का ध्यान शब्दों की तड़क-भड़क, उनकी आकर्षक योजना में, युक्ति के चमत्कार आदि में उलझा रहता है जिनके बीच स्वच्छंद विचार-धारा के लिए जगह ही नहीं मिलती। विशुद्ध आलोचना के क्षेत्र में भाषा की क्रीड़ा किस प्रकार बाधक हुई है, कुछ बँधे हुए शब्द और वाक्य किस प्रकार विचारों को रोक रहे हैं, ऐसी बातें जिनकी कोई सत्ता नहीं किस प्रकार घने वाग्जाल के भीतर से भूत बनकर झाँकती रही हैं, यह दिखाते हुए बीसवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध समालोचना-तत्त्वज्ञ ने बड़ी खिन्नता प्रकट की है।"** उनका आशय आई० ए० रिचर्ड्स से है।

जिस समस्या की ओर मैं ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ और जिन भाषा-प्रलोभनों का मैं ज़िक्र कर रहा हूँ, उनको इतना महत्त्व देने की आवश्यकता इसलिए और भी अधिक पड़ गई है कि नए विचारों और उनकी समीक्षाओं को अभिव्यक्त करने के दौरान हमने एक प्रकार की भाषा को जन्म दिया है। स्वाभाविक है कि वह भाषा चेष्टा के रूप में अपनी पूर्ववर्ती भाषा से अधिक विस्तृत और सक्षम होगी। लेकिन उसका यह विस्तार और उसकी यह सक्षमता एक ऐसा सस्ता निराकरण भी होता है जो अभिव्यक्ति को सहज बनाने प्रयास में अभिव्यक्ति की सीमाओं को संकुचित कर देता है।

यहाँ अप्रासंगिक न होगा यदि हम एक व्यापक दृष्टि बीसवीं शताब्दी की हिन्दी-आलोचना और आलोचकों पर डालें। इस परीक्षण से सम्भवतः हम आलोचना की भाषा और उसकी बदलती हुई आवश्यकताओं को समझ सकेंगे। यह सारी बात हम आदर्श रूप में ले सकते हैं, यानी उस रूप में जिस रूप में हम विश्व में अन्य उन्नत साहित्य की आलोचना-सम्बन्धी भाषा की आलोचना करते हैं, लेकिन इस अध्ययन में उस तथ्य को नज़रन्दाज़ करना ठीक न होगा कि हिन्दी की अपनी विशेष वर्तमान स्थिति है। यानी हिन्दी गद्य और विशेष रूप से आलोचना का विकास बीसवीं शताब्दी में काफ़ी तेज़ी से हुआ और विभिन्न विषयों, विचारों के विभिन्न प्रकारों तथा सूक्ष्मताओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। मैं यहाँ पर न तो हिन्दी के सभी आलोचकों की सूची पेश कर रहा हूँ और न सभी आलोचना-पद्धतियों को प्रकट करने की कोशिश कर रहा हूँ; मैं केवल कुछ आलोचकों और उनके कुछ उदाहरणों को ले रहा हूँ जो भाषा की दृष्टि से महत्त्व रखते हैं। हम महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक उदाहरण दे चुके हैं, हम उनका एक और उदाहरण देंगे।

"किसी भी प्रचलित परिपाटी का क्रमभंग होते देख प्राचीनता के पक्षपाती बिगड़ खड़े होते हैं और नई चाल के विषय में नाना प्रकार की कुचेष्टाएँ और दोषोद्भावनाएँ करने लगते हैं, यह स्वाभाविक बात है। परन्तु इस प्रकार की टीकाओं से लोग डरते तो संसार से नवीनता का लोप ही हो जाता। हमारा यह मतलब नहीं कि पादान्त से अनुप्रास वाले छन्द लिखे ही न जाएँ, हमारा कथन इतना ही है कि इस प्रकार के छन्दों के साथ अनुप्रासहीन छन्द भी लिखे जाएँ, बस।" —रसज्ञ रंजन—कविता और छन्द

महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचना की मुद्रा एक साफ़-सुथरी बात को, जो हिन्दी के कवि उस समय मानने को तैयार नहीं थे, साहस और अधिकार के साथ कहने की है। संभवतः इस अंदाज में कि वह जो बात कह रहे हैं वह दूसरों के लिए एक उपदेश के रूप में स्वीकार की जा सकती है। आलोचना की भाषा में कोई जटिलता नहीं है और बात के कहने में काफी सफाई है।

दूसरा उदाहरण हम रामचन्द्र शुक्ल का लेंगे। एक उदाहरण हम पहले भी दे चुके हैं, लेकिन जैसाकि सर्वमान्य स्वीकृत है, रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना की भाषा को स्थिर करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, अतः यह उचित ही है कि हम उसकी आलोचना पर एक गहरी दृष्टि डालें। उनकी 'रसानुभूति', 'विश्लेषण शक्ति' या 'बौद्धिक व्याख्या' या 'रसग्राहिता' या 'उदार दृष्टि' आदि पर 'फोकस' करने के बजाय हम उनकी भाषा पर ही एक नज़र डालेंगे।

" 'पल्लव' के भीतर 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'परिवर्तन' और 'बादल' आदि रचनाएँ देखने से पता चलता है कि 'यदि छायावाद' के नाम से एक वाद नहीं चल गया होता तो पंतजी स्वच्छन्दता के शुद्ध और स्वाभाविक मार्ग (ट्रू रोमांटिसिज्म) पर ही चलते। उन्हें प्रकृति की ओर सीधे आकर्षित होने वाला, खुले और चिरंतन रूपों के बीच खिलने वाला हृदय प्राप्त था। यही कारण है कि छायावाद शब्द मुख्यतया शैली के अर्थ में, चित्रभाषा के अर्थ में ही उनकी रचनाओं पर घटित होता है।" —हिन्दी साहित्य का इतिहास

रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसी आलोचना की भाषा स्थापित कर रहे थे जो उनके चिंतन, विश्लेषण की सम्पूर्ण गहराई को स्पष्ट और ज़ोरदार शब्दों में अभिव्यक्त कर सके। यद्यपि कहीं-कहीं उनकी भाषा में महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह एक अध्यापकीय स्वर दिखाई देता है, लेकिन साधारणतया वे चिंतन की तटस्थता स्वीकार करते हैं, साथ-साथ उनके अपने विचार हैं जिनकी वे अक्षुण्णता बनाए रखते हैं। ऊपर वाले उदाहरण में छायावाद और 'रोमांटिसिज़्म' के भेद को उन्होंने स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यहाँ इस उदाहरण को देने का एक कारण यह भी है कि रामचन्द्र शुक्ल के छायावाद से सम्बन्धित विचार काफ़ी आलोचना का विषय रहे हैं, किन्तु आज जब हम उन्हें पढ़ते हैं तो उनमें एक विशेष दृष्टि तो स्पष्ट दिखाई देती है, फिर भी वे काफ़ी संयत हैं।

अब हम हजारीप्रसाद द्विवेदी को लेंगे। उन्होंने आलोचना की भाषा को निश्चित विस्तार प्रदान किया है। कबीर के सम्बन्ध में वे कहते हैं—

"वाणी द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्त्व की ओर इशारा किया है, उसे ध्वनित किया है। ऐसा करने के लिए उन्हें भाषा द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्य-शास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूप द्वारा अरूप

की व्यंजना, कथन के द्वारा अकथ्य का ध्वनन, काव्य-शास्त्र का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है।'' —'कबीर'

कहने का बेलाग तरीका, कुछ इस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करना कि अन्दर कुछ ऐसा है कि जो वह कह देना चाहते हैं अतः शब्द एक-दूसरे से सम्बद्ध, साथ ही जो कुछ कहा जा रहा है वह किसी गहनतम विचार को अभिव्यक्त करने का प्रयास है। यद्यपि ऐसी भाषा में रुककर विश्लेषण करने की प्रवृत्ति उतनी प्रखर नहीं है।

रामविलास शर्मा ने भाषा को एक अस्त्र या 'टूल' की तरह प्रयोग किया है और इसीलिए उनकी भाषा में वे विशेषताएँ हैं जो इस प्रवृत्ति से उत्पन्न होती हैं। जो भाषा को 'टूल' की तरह प्रयोग करता है वह यह मानकर चलता है कि उसे अपने विरोधी विचारों को हास्यास्पद स्थिति में ले आना है, लेकिन वही आलोचक इस कार्य को सम्पन्न कर सकता है जिसमें विचारों को सरलीकृत करने, उनको संयोजित कर सकने की क्षमता हो। यहाँ उनके हम दो उदाहरण देंगे।

''साहित्य आर्थिक परिस्थितियों से नियन्त्रित होता है लेकिन उनका सीधा प्रतिबिंब नहीं है। उसकी अपनी सापेक्ष स्वाधीनता है। साहित्य के सभी तत्त्व समान रूप से परिवर्तनशील नहीं हैं। ऐन्द्रिय-बोध की अपेक्षा-भाव और भावों की अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तनशील हैं। युग बदलने पर जहाँ विचारों में अधिक परिवर्तन होता है वहीं ऐन्द्रिय-बोध और भाव-जगत् में अपेक्षाकृत स्थायित्व रहता है। यही कारण है कि युग बदल जाने पर भी उसका साहित्य हमें अच्छा लगता है।''

''हालत तो यह है कि दिल और दिमाग़ दुरुस्त नहीं हैं, लेकिन सस्ते समाधानों से बचने की चेतावनी दे रहे हैं, दूसरों को। भय और कायरता छाई है इन पर और हिम्मत और ईमानदारी का पाठ पढ़ा रहे हैं सारी दुनिया को।'' —'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य'

पहले उदाहरण से स्पष्ट है कि उन्होंने छोटे-छोटे वाक्यों या वाक्य-खण्डों के प्रयोगों से बात को अधिक-से-अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। 'है', 'नहीं है', 'होता है', 'रहता है', 'अच्छा लगता है' आदि वाक्यांशों से उन्होंने प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। बात को जितना उन्होंने सरलीकृत किया है वह कहाँ तक अभीष्ट है उस पर हम फ़िलहाल विचार स्थगित कर दें, क्योंकि उनकी आलोचना और उनकी भाषा का प्रयोजन ही यही है। दूसरा उद्धरण भाषा के उस आग्रह से उत्पन्न होता है जिसकी शर्त होती है दुश्मन को परास्त करना। ऐसी भाषा की अतिवादिता का विवेचन हम यहाँ नहीं करेंगे, क्योंकि वह उसकी एक अन्तर्निहित स्थिति है। फिर भी रामविलास शर्मा ने इस दृष्टि से आलोचना-भाषा-शस्त्र को पैना अवश्य किया है।

अब हम अज्ञेय का एक उद्धरण देंगे जिसमें भाषा का संस्कार है—वह संस्कार जो वैचारिक सूक्ष्मता से उपजा है।

''प्रत्येक शब्द को प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता नया संस्कार देता है। इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है, यही उसका कल्प है। इसी प्रकार शब्द वैयक्तिक प्रयोग भी होता है और प्रेषण का माध्यम भी बना रहता है। दुरूह भी होता है और बोधगम्य भी, पुराना परिचित भी रहता है और स्फूर्तिप्रद अप्रत्याशित भी···, दुरूहता अपने-आप में कोई दोष नहीं है न अपने-आपमें इष्ट है। इस विषय को लेकर झगड़ा करना वैसा ही है जैसा इस चर्चा में कि सुराही का मुँह छोटा है या बड़ा, यह न देखना कि उसमें पानी भी है या नहीं।'' —'तीसरा सप्तक', भूमिका

ऐसी भाषा की विशेषता, विचार की सूक्ष्मताएँ, उनके 'नुएंसेज़' हैं। यद्यपि अज्ञेय का ऐसा आलोचना-साहित्य अधिक उपलब्ध नहीं है जिसमें हम उनके अपने विचारों और उनकी मौलिक सूक्ष्मताओं का दर्शन कर सकें, फिर भी जहाँ कहीं वे उपलब्ध हैं उसमें भाषा का आवश्यक संस्कार है। आलोचक का यह प्रयास है कि वह भाषा का कहीं ऐसी लापरवाही से इस्तेमाल न कर दे कि विचार और उसकी सारी अपेक्षित सूक्ष्मताएँ कुण्ठित हो जाएँ। ठीक इसी के विपरीत हम गिरिजाकुमार माथुर के कुछ वाक्य उद्धृत करेंगे।

''अस्वीकृत दिशा की कविता में विपर्यय का बोध मानवीय भविष्य की आशंका, त्रासपूर्ण स्थितियाँ, यन्त्र-युग की यातनाएँ और अकेलापन, विडम्बना की अभिव्यक्ति, विकृत परिस्थितियों का व्यंग्य, आसन्न संहार की भयावह चेतना यदि है तो वह विक्षुब्ध पीढ़ी या बीटनिकों की विवश चीत्कार या नपुंसक खिजलाहट नहीं है बल्कि अपने परिवेश में मूल्यों के खोखलेपन, दृष्टियों के व्यापक विक्षेप एवं अनभोगी स्थितियों की तटस्थता के कारण है।''

—'नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ'

ऐसी भाषा ठीक उसी स्थिति में उत्पन्न होती है जब कोई आलोचक, 'संस्थापक, व्याख्याता या पुरोधा' बनने की चेष्टा करता है।

इन वाक्यों को आरम्भ में दिये गए नई कविता के एक आलोचक के उद्धरण से मिलाएँ। दोनों का स्वर एक-सा है। अब हम यहाँ एक और उद्धरण देंगे।

"विज्ञान की परम्परा थी, न उसके निर्माण में हमने भाग लिया इसलिए उसकी माँगों को न हमने गहराई से समझा न इसकी आवश्यकता महसूस की कि उसको स्वीकार करने के लिए हमें कुछ बहुत निजी विश्वासों को त्याग देने की जरूरत है। वह उपयोगी सूचना और साधन बनकर रह गया। धर्म का आन्तरिक ज्ञान घिसा-पिटा और निर्जीव हो गया और विज्ञान की बाह्य सूचना-प्रधान मान्यताएँ आधुनिकता के नाम पर स्वीकार कर ली गईं। सहज ज्ञान और विवेकपरक तत्त्व, दोनों आराम से बिना एक-दूसरे का प्रतिरोध किये हुए इसलिए निहायत गतिहीन स्थिति में, हमारे अंग बन गए। इससे हमें बेहिसाब अन्तर्विरोधों के बीच रहने के लिए तैयार कर दिया।"

—विपिनकुमार अग्रवाल
'भारतीय बौद्धिक कौन और कैसा ?'

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि उनकी भाषा का एक निश्चित बौद्धिक स्तर है—तर्क पर आधारित है और साथ-साथ एक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इस बात का प्रयत्न करती है कि बात यथासम्भव बेलाग कही जाए।

इसी के साथ-साथ हम आज के वर्तमान आलोचकों पर आते हैं। यहाँ हमारे लिए आवश्यक नहीं है कि हम बहुत-से उदाहरण एकत्र करें, लेकिन कुछ तत्त्व स्पष्ट होते जा रहे हैं जिनका हम अधिक गहराई से अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे और हम उन्हें ऐतिहासिक सन्दर्भ में भी देखने की चेष्टा करेंगे। यहाँ पर उपयोगी होगा कि हम पहले वर्तमान अंग्रेज़ी आलोचना पर एक दृष्टि डालें।

आधुनिक अंग्रेज़ी आलोचना सैद्धान्तिक रूप से आन्तरिक अवस्थाओं और उनकी बाह्य अभिव्यक्ति के सम्बन्ध को स्वीकार करती रही है। यह मान लिया गया है कि उन दोनों के बीच एक स्वाभाविक सम्बन्ध होता है, मगर इधर हाल की अंग्रेज़ी आलोचनाओं में 'आत्मपरक' तथा 'वस्तुपरक' स्थितियों की द्वन्द्वात्मकता का अध्ययन अधिक विस्तार से किया गया है। या तो यह मानकर चला जाए कि साहित्य के प्रति हमारी प्रतिक्रिया केवल व्यक्तिगत होती है और बात वहीं खतम कर दी जाए, या हम वैज्ञानिक रूप से उन स्थितियों का वर्णन करें जो किसी कृति के पढ़ने से पाठक पर होती हैं। अक्सर इस दुतरफ़ा स्थिति का जब हम अध्ययन करते हैं तब उन भावनाओं या संवेगों की तरफ़, जिन्हें हम कृति से जोड़ते हैं, हमारी दृष्टि या तो रोमांटिक या फिर संकुचित होती है। हमारे लिए यहाँ उपयोगी होगा कि हम अंग्रेज़ी के कुछ इधर के महत्त्वपूर्ण आलोचकों को लें जिन्होंने इस द्वन्द्व को समझने और समझाने की कोशिश की है। उन्होंने उन प्रश्नों को भी उठाया है जो इस सारी बात से जुड़े हुए हैं।

सुसेन लैंगर का कहना है कि कला उन प्रारूपों की रचना है जो मानवीय भावनाओं के प्रतीक हैं। लैंगर की धारणा के अनुसार वाक्यों का अर्थ वस्तु-जगत् के ही संदर्भ में संभव है। विचारों का मूल उन सम्बन्धों में निहित है जो उन प्रतीकों और उन वस्तुओं में होता है, जिसके वह प्रतीक हैं। वहीं वस्तु संभावित है जो भाषा के तर्कसंगत ढाँचे के अन्तर्गत है। कलाकृतियाँ भावनाओं को उनके प्रारूपों द्वारा अभिव्यक्त करती हैं, अतः भावनाओं और कलाकृतियों का सम्बन्ध एक तर्कसंगत धरातल पर है। लैंगर का तर्क बड़ा आसान है। वे कहती हैं कि यदि कहीं भावनाओं का प्रारूप स्थापित नहीं हो पाता, वह कलाकृति नहीं हो पाती है। किसी वस्तु को कलाकृति माना जाए या न माना जाए, इसका निर्णय वे अवश्य कर देती हैं, लेकिन प्रश्न रह जाता है कि किस कलाकृति को अच्छा और किसको बुरा माना जाए।

इसी प्रकार हैराल्ड आसबर्न ने अपने तर्कों में एक संपूर्णता तथा समग्रता स्थापित करने की कोशिश की है। उन्होंने किसी कृति के स्वभाव, सौंदर्यानुभूति और आलोचना-पद्धति सबको एक साथ समेटने वाला सिद्धान्त प्रतिपादित किया। कलाकृति सुन्दर वस्तुएँ हैं, और उनका सौन्दर्य ही उनका गुण है। इसीलिए आसबर्न कहते हैं कि जब तक कोई आलोचक अपनी मान्यताओं को परिभाषित नहीं करता—या तो उनको शब्दों द्वारा वर्णित करके या अन्य किसी स्पष्ट रूप से—उसके निर्णय वास्तव में अर्थहीन होंगे। इसी प्रकार वे कहते हैं कि समाज में कलाकृति कई कार्य करती है। कला-

कृति सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक प्रोपेगैंडा का अस्त्र हो सकती है, नैतिकता को प्रोत्साहित कर सकती है, तथा जीवन के कठोर व्यापारों से हमें राहत दिला सकती है या हमारी बौद्धिक तथा आर्थिक चेष्टाओं को पूरा कर सकती है, लेकिन ये कला के सारे व्यापार अकेले कला के ही साथ नहीं जुड़े हुए हैं तथा हर कलाकृति के लिए आवश्यक या सर्वमान्य नहीं हैं। सारांश में, आसबर्न ने अपने तर्कों को एक व्यापक संगति प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

अब हम टी० एस० इलियट के विचारों पर एक दृष्टि डालेंगे। टी० एस० इलियट के पूर्व अंग्रेज़ी के महत्त्वपूर्ण आलोचकों ने और टी० एस० इलियट ने खुद कवि की आन्तरिक स्थिति और बाह्य दुनिया के बीच की खाई को समझने की कोशिश की है और उन्होंने अपने 'वस्तुपरक संसर्गों' के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि कला के रूप में भावनाओं को अभिव्यक्त करने का केवल एक ही तरीका है और वह है उनके वस्तुपरक सम्बन्धों को खोज निकालना, जिनको कि वह उस विशेष भावना का फार्मूला बताते हैं और इसी विधा द्वारा वे समझते हैं कि भावनाएँ तुरन्त उत्पन्न कराई जा सकती हैं। यह प्रतिपादन इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता है कि आखिर वह कौन-सी चीज़ है जो कवि अभिव्यक्त करता है और सुनने या पढ़ने वाला उसको किस प्रकार ग्रहण करता है। लेकिन इस सम्बन्ध में यह कठिनाई अवश्य उत्पन्न होती है कि कवि के लिए तो उन्होंने यह निर्धारित कर दिया है कि भावनाओं को उत्पन्न कराने के लिए भावनाओं को वस्तुपरक करना आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में, कवि के द्वारा प्रस्तुत रूप, बिंब, आकार या स्थिति का अर्थ वे भावनाएँ हैं जिनको उत्पन्न कराने की चेष्टा की जा रही है। लेकिन पाठक भी उसको उसी रूप में लेता है, उसको स्वीकारने में कठिनाई है। कवि अपनी व्यक्तिगत स्थितियों को बाह्य रूप देता है—हो सकता है यह प्रक्रिया सही हो, लेकिन दूसरे इसको उसी प्रकार से कैसे सही मान लें।

टी० एस० इलियट के बाद के आलोचकों ने इन सारे प्रश्नों को एक दूसरे रूप में समझने की कोशिश की है। हम विंटर्स और उनकी आलोच्य-पद्धति का यहाँ उदाहरण देंगे। उनका कथन है कि कविता मानवीय अनुभवों के सम्बन्ध में शब्दों में किया गया वक्तव्य है। शब्द मूलतया धारणापरक हैं और क्योंकि मानवीय अनुभव शुद्ध रूप से धारणामूलक नहीं हैं, उन शब्दों ने भावनाओं का लक्ष्यार्थ ग्रहण कर लिया है। अतः कवि धारणा और लक्ष्यार्थ दोनों का यथासंभव क्षमता के साथ उपयोग करता हुआ वक्तव्य देता है। एक कविता उस सीमा तक अच्छी है जहाँ तक वह किसी मानवीय अनुभव के सम्बन्ध में एक तर्कसंगत विज्ञप्ति करती है, साथ-साथ उन भावनाओं को प्रेषित करती है जो उस अनुभव की तर्कसंगत समझ से प्रेरित होती हैं। वास्तव में विंटर्स की दी हुई व्यापक परिभाषा से ही कविता का अच्छा या बुरा होना निकलता है। शब्द अवधारणाओं को अभिव्यक्त करते हैं और उसके बाद भावनाएँ प्रेषित करते हैं। जब इस परिभाषा को वे आगे बढ़ाते हैं तो वे अन्य निष्कर्षों पर भी आते हैं, जैसे कोई काव्यात्मक अनुभव उस सीमा तक मूल्यवान है जिस सीमा तक वह सम्पूर्ण है। इसी प्रकार वे और आगे बढ़ते हैं और कहते हैं कि कविता मानवीय अनुभव की जागरूकता को अधिक सम्पन्न करने का एक तरीका है और वह भावी कार्यों में बुद्धि के उपयोग की सम्भावनाओं को बढ़ाती है। वे यह भी कहते हैं कि कविता हमारी नैतिक ग्रहणशीलता या समझ की एक अधिक प्रखर तथा सम्पन्न विधा है। उन्होंने वास्तव में एक तर्कसंगत 'स्कीम' देने का प्रयत्न किया है। लेकिन इस सारी तर्कसंगति को क्लींथ ब्रुक्स तथा अन्य आलोचकों ने खंडित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इस प्रश्न पर विचार किया है कि कविता को एक विज्ञप्ति या वक्तव्य मानना कहाँ तक ठीक है। इस प्रकार की स्थापनाओं को एक बार स्वीकार करने के बाद जो भी निष्कर्ष निकलते हैं, उनको मानना भी जरूरी हो जाता है। मूल प्रश्न यह है कि ऐसी स्थापनाएँ कविता समझे जाने वाले एक बहुत बड़े अंश को कविता की संज्ञा से वर्जित कर देती हैं।

अब हम यहाँ पर सारांश में एफ० आर० लीविस के कुछ विचार प्रस्तुत करेंगे, क्योंकि वे एक मूल प्रश्न की ओर हमारा ध्यान ले जाते हैं। लीविस की यह स्थापना है कि किसी भी कृति से जब हमारा साक्षात्कार होता है तो हम मूल्य-निर्णय भी साथ-साथ करते रहते हैं। लीविस की धारणा है कि आलोचक या कविता के पाठक का कार्य मूल्य-निर्णय से सम्बन्धित है, लेकिन साथ-साथ वह यह भी कहते हैं कि वह बाहर से किसी वस्तु पर आरोपित करने के लिए मान्यता नहीं बटोर लाता। एक आलोचक का काम किसी भी

कृति का अधिक-से-अधिक प्रखरता और सम्पूर्णता के साथ प्रत्यक्षीकरण (रियलाइज़ेशन) करना होता है और इस प्रत्यक्षीकरण में एक सीमा तक मूल्य-निर्धारण अंतर्निहित है। ज्यों-ज्यों वह आलोचक अधिक परिपक्व होता जाता है, वह स्पष्ट रूप से यह प्रश्न करता है कि यह कलाकृति अन्य कलाकृतियों के समक्ष कैसी ठहरती है, उसका सापेक्ष महत्त्व क्या है? लीविस के अनुसार, यही 'प्लेसिंग' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है न कि एक परिकल्पित सैद्धान्तिक ढाँचा। इस दृष्टि से लीविस जिन आधारों पर खड़े हैं वे अन्य आलोचकों से भिन्न हैं।

साथ ही कलाकृति और नैतिकता के सम्बन्ध में भी अंग्रेज़ी आलोचकों ने विचार किया है जो मूल्यों से जुड़ा है। अंग्रेज़ी के बहुत-से आलोचक डॉ० जानसन, आर्नल्ड तथा वे बहुत-से जिनका कि हमने ऊपर विवरण दिया है—आलोचना में मूल्य-निर्धारण के साथ-साथ नैतिकता का भी प्रश्न उठाते हैं। एक कविता सौन्दर्य की दृष्टि से अच्छी हो सकती है, नैतिकता की दृष्टि से बुरी। साथ ही यह भी स्थापना की जा सकती है कि वह कविता, जो नैतिक दृष्टि से बुरी हो, सौन्दर्य की दृष्टि से अच्छी न हो, आदि। प्रश्न केवल यहाँ पर नैतिकता को परिभाषित करने का है। सारांश में किसी कृति के वर्णित किए जाने या उसका मूल्यांकन किए जाने या उसकी नैतिकता के निर्धारण में आपस में क्या सम्बन्ध है? साथ ही आत्मपरक और वस्तुपरक के सम्बन्ध क्या हैं? अंग्रेज़ी आलोचकों ने किसी कृति के सम्बन्ध में ऐसी तर्क-संगत स्थापनाएँ करने का प्रयत्न किया है जिसके अनुरूप किसी कृति पर आलोच्य-दृष्टि डाली जा सके, साथ ही उन्होंने वे भी तरीके अपनाए हैं जिनमें किसी सैद्धान्तिक परिकल्पना को स्वीकार करके चलना आवश्यक नहीं होता। ये सारे प्रश्न, वास्तव में यदि गम्भीरता से विचार किया जाए, भाषा के मौलिक प्रश्नों से स्वतः निकलते हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न भाषा के सम्बन्ध में यह है कि क्या शब्द का अर्थ हमेशा किसी पदार्थ से जुड़ा होता है कि नहीं। बहुत-से दार्शनिकों, ने जिन्होंने भाषा के प्रश्न पर विचार किया है, किसी-न-किसी रूप में शब्द को वस्तु से जोड़ा अवश्य है। यदि हम यह मानकर चलें कि शब्द वस्तु का नामकरण है तब कुछ कठिनाइयाँ अवश्य उपस्थित होती हैं। हम किसी शब्द को जिस स्थिति में प्रयोग करते हैं, उसी शब्द का अन्य स्थिति में क्या वही अर्थ होगा? जब हमारा मस्तिष्क किसी वस्तु से एक समय पर सम्बन्ध स्थापित करता है और उसके लिए एक शब्द प्रयुक्त करता है तो क्या यदि हम दूसरी बार उसी शब्द का प्रयोग करते हैं तो दूसरे और नए सम्बन्ध स्थापित होते हैं? मस्तिष्क, वस्तु तथा शब्द, इन तीन इकाइयों के बीच में क्या सम्बन्ध हैं, इस पर दार्शनिकों ने काफ़ी विचार किया है। इसीसे जुड़े अन्य प्रश्न हैं। जैसे किसी कृति के प्रति हमारी प्रतिक्रिया भावनात्मक होती है या बौद्धिक? क्या किसी कृति के सम्बन्ध में हमारे निर्णय पूर्ण रूप से वस्तुपरक हो सकते हैं? मैं यहाँ पर केवल कुछ प्रश्नों का ज़िक्र करूँगा, क्योंकि इन सारे प्रश्नों से आलोचना की भाषा का सीधा सम्बन्ध है। जब हम अर्थ का प्रश्न उठाते हैं तब यह भी कहा जाता है कि उनका सीधा सम्बन्ध 'मानसिक बिंब' से है, लेकिन ऐसा मानने में यह प्रश्न अवश्य उठ जाता है कि क्या एक चित्र हमें यह बाध्य करता है कि उसे एक ही रूप में देखें? क्या वह चित्र कई रूपों में नहीं देखा जा सकता? साथ-साथ दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि क्या भाषा पूर्ण रूप से व्यक्तिगत हो सकती है? यदि किसी वस्तु के नामकरण को हम शब्द कहते हैं और उसके साथ हम 'मानसिक बिंब' के सिद्धान्त को मानते हैं तो हम यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि भाषा काफ़ी सीमा तक व्यक्तिगत है। लेकिन ऐसा मान लेने के साथ एक कृति के प्रति हमारी प्रतिक्रिया भी व्यक्तिगत हो जाती है। इस प्रकार के प्रश्नों को उठाने का तात्पर्य मेरा केवल इतना है कि सौन्दर्य-शास्त्रीय समस्याएँ दार्शनिक समस्याओं से जुड़ी हुई हैं। मूल प्रश्न है वस्तु और उसके नामकरण में किसी व्यक्ति के मस्तिष्क की प्रक्रिया। इसीसे जुड़ा हुआ प्रश्न मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का है। किसी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए आवश्यकता होती है कि जिस व्यक्ति के बारे में विश्लेषण किया जाए, वह व्यक्ति उस विश्लेषण को स्वीकार करे। विश्लेषक का काम ऐसे सुबूत पेश करना है जो उस व्यक्ति को ग्राह्य हों, लेकिन क्या वे एक निर्णीत तरीके से थोपे जा सकते हैं? जब हम ऐसे सुबूत पेश करते हैं, तो किसी चीज़ को वर्णित तो करते ही हैं उसके साथ-साथ मूल्यांकन भी करते हैं। इसी तरह एक उपयुक्त भावनात्मक स्थिति उत्पन्न करना तथा एक सही मूल्यांकन करना वास्तव में सौन्दर्य-शास्त्र का भी मूल प्रश्न है। यदि कोई आलोचक किसी

पाठक की किसी कृति को एक विशेष प्रकार से देखने में सफल हो जाता है तो उस सीमा तक आलोचक अपने कार्य में सफल हो गया है।

यहाँ पर उपयुक्त होगा कि हम किसी वस्तु के वर्णन या मूल्यांकन के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करें। मूल रूप में भाषा के दो भेद माने जाते रहे हैं। एक वर्णन की भाषा मानी जाती रही है जिसका कार्य किसी वस्तु को जिस रूप में वह होती है वर्णित करती है, दूसरे मूल्यांकन की भाषा होती है जो उस वस्तु की तरफ़ जो हमारी दृष्टि होती है उसको अभिव्यक्त करती है। जहाँ तक मूल्यांकन की भाषा का सम्बन्ध है उसके दो भेद किए जाते हैं—निर्णय-मूलक और भाव-मूलक। साथ ही मूल्यांकन की भाषा के लिए हम दो अन्य भेद करते रहे हैं—सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी और नैतिकता-सम्बन्धी। लेकिन इस प्रकार के विभाजन कर देने में कठिनाइयाँ अवश्य प्रस्तुत होती हैं, क्योंकि इसमें हमको कई स्तरों पर विभाजन करने पड़ जाते हैं। वर्णन और मूल्यांकन में भेद करना और फिर मूल्यांकन का सौन्दर्य-सम्बन्धी और नैतिकता-सम्बन्धी विभाजन करना, यह कठिनाई प्रस्तुत करता है कि हम मूल्यांकन को नैतिकता से जोड़ लेते हैं और उसको वर्णन से अलग कर देते हैं। इस बात को कहने का यह आशय है कि यदि हम आलोचना की भाषा के तीन स्तर—वर्णन, मूल्यांकन, नैतिक निर्णय—स्थापित करें तो यह ध्यान रहे कि कहाँ वे एक-दूसरे को काटते हैं, कहाँ एक-दूसरे से अलग हैं। किसी भी आलोचना में इन स्तरों को परिभाषित करना आवश्यक होता है।

अब हम आज की वर्तमान हिन्दी आलोचकों की भाषा का ज़िक्र करेंगे जिसमें कुछ विशेष प्रकार दिखाई दे रहे हैं, यद्यपि निश्चित रूप से कह सकना कि वे सभी किसी निश्चित बात के परिचायक हैं सम्भव नहीं। जब हम आलोचना की भाषा की बात करते हैं तो उसके साथ जुड़े कुछ अन्य प्रश्न भी सामने आ जाते हैं। भाषा एक प्रतीकात्मक आकार है और उसका अध्ययन दर्शन से जुड़ा हुआ है। अर्थ की समस्या जो शब्दों की अन्तर्निहित समस्या है, दो स्तरों पर चलती है। अर्थ के इस स्थानांतरण के पीछे जो प्रक्रिया निहित है अलग से भाषा की ही अपनी समस्या नहीं है।

इसके अतिरिक्त जब हम आलोचना की भाषा की बात करते हैं तो हम स्पष्ट रूप से आलोचक की उस दृष्टि को भी ध्यान में रखते हैं जिसके सहारे वह किसी कृति को वर्णित (डिस्क्राइब) करता है या उसका मूल्यांकन करता है। यहाँ इस बात को कह देने का अभिप्राय केवल इतना है कि जब हम आलोचना को भाषा की वर्तमान स्थिति का अध्ययन करें तो भाषा और उसकी प्रेषणीयता को दर्शन-क्षेत्र में अलग न मानें। साथ ही आलोचक की उस 'स्कीम' का भी ध्यान रखें जो किसी कृति के समझने-समझाने या मूल्य-निर्धारण में काम आती है।

अतः हम यहाँ पर कुछ उदाहरण इधर हाल में ही लिखे गए कुछ आलोचकों के या उन कृतिकारों के, जिन्होंने आलोच्य-दृष्टि का प्रदर्शन किया है, पेश करेंगे।

एक उदाहरण एक कवि का है जिसने एक काव्य-पुस्तक पर अपनी राय देते हुए कुछ बातें कही हैं। कुछ वाक्यांश हैं, **"बौद्धिक कवि, कवि नहीं होता---किसी असंगठित समाज को नाम देने के लिए संगठित धर्म से प्रतीक उधार नहीं लिया जा सकता। अस्तित्ववादी आत्मबोध केवल आत्म-बोध है।"** या **"कवि अपनी आस्था की खोज करता हुआ अपनी आस्था अर्जित करता है, आस्था की खोज करता हुआ काव्य अर्जित नहीं करता। कविता के मूल्य ही कवि के जीवन-मूल्य होते हैं, उनसे अलग कोई जीवन-मूल्य नहीं होते। अलग से जीवन-मूल्यों की खोज करने वाला कवि ऊपरी खोज करता है। उसका अंदाज़ पैग़म्ब-राना हो जाता है और रचना विकृत होती है, भाषा पण्डिताऊ और किताबी हो जाती है।"** सूत्रों में बात कहने की और उसको पूरे साहस और विश्वास के साथ कहने की, साथ ही वाक्य की ध्वनि कुछ चक्करदार होने को और साथ ही कुछ पूर्वकथ्यों को बिना परीक्षण पहले से मान लेना और उसी के अनुरूप निर्णय देने की प्रवृत्ति, —ऊपर दिये गए उदाहरण से स्पष्ट है। यहाँ पर यह कहने का प्रयत्न नहीं किया जा रहा है कि आलोचना किसी प्रस्ताव-निरूपण से प्रारम्भ नहीं हो सकती। केवल यह कहा जा रहा है कि जिस आधार से बात को आरम्भ किया जाए, वह पुख़्ता होना चाहिए, जिससे कि उस पर खड़े किये गए निष्कर्ष या उस पर खड़े होकर किये गए प्रहार संगत या संयत मालूम पड़ें।

एक दूसरे कवि की हम कुछ पंक्तियाँ लेंगे जिन्होंने गद्य

की भाषा के परिष्कार और प्रसार में विभिन्न स्तरों पर योग दिया है। वे कहते हैं, "**जो एक बार व्यक्ति की हैसियत से समकालीन उथल-पुथल में योग दे चुका है, रचना करते हुए कवि की हैसियत से वह दुबारा योग देता है, अपनी शक्ति-भर, छोटे-छोटे विविध अंशों में दोबारा योग देने में ही उसकी सार्थकता है और यह सार्थकता तभी है जब वह योगदान कला के स्तर पर हो। केवल स्थापना, घोषणा या नारेबाज़ी का मौका जीवन में और जगह बहुत है और वहीं उसका फ़ायदा उठाना भी मना नहीं है।**" जिस पूर्व-कथ्य से वह आरम्भ करते हैं उसको सम्भवतः नकारना संभव नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि रचनाकार व्यक्ति की हैसियत से योग देता है, रचनाकार की हैसियत से भी, लेकिन उसके बाद जब उसकी सार्थकता का प्रश्न उठता है तो स्पष्ट है कि यहाँ पर 'उसकी' शब्द का अर्थ समकालीन उथल-पुथल में योग करने वाले व्यक्ति रचनाकार की संयुक्त हैसियत का है। लेकिन उसकी सार्थकता यहाँ केवल कला के स्तर पर मानी गई है और अगले वाक्य में यह भ्रम उत्पन्न करा दिया है कि जीवन, 'जिसका अर्थ स्पष्ट रूप से समकालीन उथल-पुथल से है', वास्तव में स्थापना, घोषणा या नारेबाज़ी से ही है और शब्द 'फ़ायदा उठाना' में उस हैसियत का मूल्य के स्तर पर गिरा देने का आशय है। इस सारे अन्तर्विरोध के बावजूद कि कथ्यों में वह एक सीढ़ी नीचे की तरफ़ उतरते चले आए हैं, क्रम-बद्धता है और इस प्रकार के वैचारिक चमत्कार से सहमत न होने पर भी विरोध ही क्या हो सकता है।

अब हम एक तीसरा उदाहरण देंगे। यह उदाहरण आज के आलोचक का है जिसने अज्ञेय के एक वाक्य पर अपनी टिप्पणी दी है। "**अज्ञेय में वह अस्मिता संभवतः शेष है इसलिए वे कह सकते हैं कि भाषा ही सब-कुछ है; जब पता चले कि हर तरफ के आघात के बावजूद भाषा कुछ-न-कुछ अर्थ से जुड़ी रह जाती है तब वे यह भी कह सकते हैं कि शब्द सब-कुछ है। यह लेखक के गम्भीर दायित्व से, जो इस समय कम होने के बदले बढ़ गया है, कतराने का कौशल है और निस्सन्देह जब तक आकर्षक रूप में कारगर है तब तक महान् कला की आशा नहीं की जा सकती। मुझे शंका होती है—एक तरह का रक्षा-व्यूह निर्मित करने की चतुराई बरती गई है।**" इन वाक्यों से कुछ नतीजों पर हम आते हैं। पहले यह कि आलोचक यह मानता है कि लेखक का दायित्व कम होने की जगह बढ़ गया है और उससे कतराना उचित नहीं। दूसरे, वे भाषा से शब्दों को पृथक् करके उनके अर्थ के सम्बन्ध में चर्चा उचित नहीं समझते। यह स्थापना अवश्य की जा सकती है, लेकिन साथ-साथ आलोचक का यह दायित्व हो जाता है कि वह इसके अतिरिक्त सारी सम्भावित परिस्थितियों को गलत सिद्ध कर दे। अज्ञेय ने इस प्रश्न पर कई स्थानों पर अपने विचार प्रकट किए हैं। वे सम्भवतः अन्तर्विरोधी भी हैं, लेकिन इस बात पर उनका बल देना—कि कवि के नाते वे केवल शब्दों के द्वारा भाषा का प्रयोग करते हैं (कवि किसी अनुभव से इसलिए संलग्न है कि वह आवश्यक रूप से शब्दों से जुड़ा है) मैं केवल यहाँ पर तर्क की एक सम्भावना पेश कर रहा हूँ—विचार करने योग्य नहीं था। क्या इस सम्भावना पर आलोचक का ग़ौर करना आवश्यक नहीं था ?

हम एक चौथा उदाहरण देंगे। यह भी एक वर्तमान आलोचक के शब्द हैं—"**लेखक के लक्ष्य से अलग, रचना की उपलब्धि का बहुधा अपना महत्त्व होता है। लेखक किसे संबोधित करता है, क्या कहता है, इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि रचना किसे सम्बोधित करती है, क्या कहती है, जिस परिवेश में जन्म लेती है वह उसे कहाँ तक लाँघ जाती है।**" उदाहरण से स्पष्ट है कि आलोचक ने रचनाकार और रचना के पृथक् लक्ष्यों का ज़िक्र किया है। यहाँ पर प्रश्न इस बात का है कि जब रचना और लेखक के भिन्न लक्ष्यों की चर्चा की जा रही हो तो स्पष्ट रूप से यह आवश्यक था कि इस दुतरफ़ा स्थिति को साफ़-साफ़ कहा जाए। यदि रचना लेखक के अतिरिक्त भी कहीं सम्बोधन करती है तो उसका विवेचन आवश्यक है, क्योंकि इस प्रश्न से रचना प्रक्रिया जुड़ी हुई है। क्या ऐसी स्थिति में आलोचक से यह अपेक्षा करना ग़लत है कि वह अपनी 'स्कीम' को स्पष्ट करे, यह बात और भी अधिक महत्त्व रखती है क्योंकि इस उदाहरण में और सबसे पहले वाले उदाहरण में कहीं कोई अन्तर्विरोध दृष्टिगत होता है, हो सकता अन्तर्विरोध वास्तविक न हो लेकिन जब तक आलोचक अपने पूर्व-कथ्यों को एक संगत तरीके से स्पष्ट नहीं कर देता, यह कठिनाई आ ही जाती है।

मैंने आज की वर्तमान आलोचना के कुछ उदाहरण इसलिए यहाँ पेश किए हैं क्योंकि ये सभी उदाहरण रचना-

प्रक्रिया से सम्बन्ध रखते हैं और जब हम आलोचना की भाषा की बात करते हैं तो रचना-प्रक्रिया की बात भी आ ही जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अपनी प्रस्तावित धारणाएँ स्पष्ट की थीं और उनके पेश करने में एक तर्क-संगति थी।

ये सभी उदाहरण विशेष प्रवृत्ति की ओर हमें ले जाते हैं और वह यह है कि आज के आलोचक या कवि-आलोचक (कवि-आलोचकों की बात मैं इसलिए और भी कर रहा हूँ क्योंकि हिन्दी में ही नहीं अन्य भाषाओं में भी अक्सर ऐसा देखा गया है कि आलोचना के मान कवि-आलोचकों ने काफ़ी सीमा तक स्थापित किए हैं) इस बात को स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि बात से कतराने का प्रयत्न न किया जाए या दूसरे शब्दों में, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, उपलब्ध अभिव्यक्ति-प्रलोभनों में न पड़ा जाए। अन्य विधाओं की तरह आलोचना की भाषा अधिक बेलाग होती जा रही है। इससे यह साफ़ हो जाता है कि वह धीरे-धीरे उन खतरों की ओर से सजग होते जा रहे हैं जो हमने २०-२५ वर्षों में पुराने खतरों से बचने के प्रयास में एकत्र कर लिए थे। मैंने आज की वर्तमान आलोचना के उन उदाहरणों को फ़िलहाल नहीं लिया है जिसमें 'मैं' शैली अपनाई जाती है। ●

मूल्यान्वेषण और अर्थ-विवेक

यशदेव शल्य

वाह्य या आन्तरिक विश्व का ग्रहण हम अनेक प्रकार के रचना-संदर्भों में करते हैं, भाषा उनमें से एक और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना-सन्दर्भ है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए क्योंकि अन्य सब मानवीय रचना-संदर्भ—कला, धर्म, विज्ञान आदि—इस रचना-सन्दर्भ को माध्यम बनाते हैं। इस बात को कुछ कम दार्शनिक भाषा में कहें तो कहा जा सकता है कि भाषा न केवल ऐसे शब्द-प्रतीक हैं जो भाव और विचार की अभिव्यक्ति के साधन हैं, बल्कि यह कि भाषा भाव-विचार का एक आयाम है। इस प्रकार से, किसी मानव-वर्ग की भाषा के अध्ययन का अर्थ है उस वर्ग के अस्तित्व के अर्थ को समझना। इसलिए भाषा का अध्ययन अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है।

किन्तु भाषा की इन सम्भावनाओं का अध्ययन एक बात है और इसके पक्ष-विशेष का अध्ययन दूसरी बात। बहुत प्राचीन युगों से काव्य की भाषा का अध्ययन किया जाता रहा है, क्योंकि काव्य में भाषा का असाधारण प्रयोग होता है और परिणामतः यह निर्वचन की चुनौती देता है। एक प्रकार से, न्याय क विचार अथवा तर्क की भाषा का अध्ययन कहा जा सकता है। निरुक्त और व्याकरण भाषा के अन्य पक्षों के अध्ययन हैं। भाषा-पक्षों के इन अध्ययनों को विज्ञान अथवा शास्त्र कहा जा सकता है, क्योंकि इनमें अध्ययन-विषयगत वस्तुस्थिति की संरचना को समझने का प्रयत्न रहता है। सिद्धान्त और व्याख्या नियम देने, आकलन करने और वर्गी-करण के प्रसंग में प्रवर्तित होते हैं। यद्यपि न्याय का अध्ययन दर्शन के एक विभाग-रूप में किया जाता है, किन्तु शुद्ध न्याय शास्त्र अथवा विज्ञान है। किसी विषय के उसके विशिष्ट शब्दों और वाक्य-प्रयोगों की वैचारिक संरचना, अथवा तार्किक संरचना, का विश्लेषण उस भाषा का दार्शनिक अध्ययन कहा जाता है।

आलोचना की भाषा के वैज्ञानिक या शास्त्रीय अध्ययन का कोई विशेष अर्थ नहीं है, क्योंकि उस दृष्टि से आलोचना की भाषा में साधारण भाषा से कोई विशेषता नहीं रहती। जहाँ तक दार्शनिक विवेचन का प्रश्न है, उसके लिए पहले यह देखना आवश्यक है कि आलोचना क्या है? यह परि-भाषा का प्रश्न है, अर्थात् इस शब्द के विभिन्न प्रयोगार्थों में से एक अर्थ स्थिर और स्पष्ट करने का।

'आलोचना' शब्द का एक प्रचलित अर्थ निन्दा करना है। किन्तु यह इसका बोलचाल की भाषा में एक शिथिल प्रयोग है जो वास्तव में इसके पारिभाषिक अर्थ से ही लिया गया है। किन्तु पारिभाषिक प्रयोग में भी इसके दो अर्थ

हैं : एक अर्थ में, किसी कृति के इतिहास, सन्दर्भ, स्वरूप आदि का विवेचन-विशदीकरण आलोचना है। एक दूसरे अर्थ में किसी कृति के गुणावगुण का निर्णय आलोचना है। इनमें प्रथम प्रकार की आलोचना में यह आवश्यक नहीं है कि आलोचक आलोच्य कृति का मूल्यांकन भी करे, जबकि दूसरे प्रकार की आलोचना में मूल्यांकन ही लक्ष्य होता है और अन्य सब प्रसंग मूल्यांकन के लिए युक्तता का सन्दर्भ (कांटेस्ट ऑफ़ वैलीडिटी) प्रस्तुत करते हैं। किन्तु तब भी, इस प्रकार की आलोचना में आलोच्य कृति के निर्माण-काल का अनुसन्धान, उसमें प्रयुक्त छन्दों, अलंकारों की गणना और वर्गीकरण आदि जैसी चीज़ें अप्रासंगिक होती हैं। संक्षेप में, हमारे विश्वविद्यालयों में लिखे जाने वाले शोध-प्रबन्धों में बहुत-कुछ मूल्यांकन-प्रसंग में अप्रासंगिक होता है। यद्यपि 'आलोचना' शब्द का प्रयोग दोनों ही अर्थों में होता है, किन्तु मुख्य रूप से इसका प्रयोग 'मूल्यांकन' के अर्थ में ही होता है। इसलिए यहाँ हम इस शब्द को मूल्यांकन के अर्थ में ही लेंगे। किन्तु सब मूल्यांकनों को आलोचना नहीं कहा जा सकता। किसी वस्तु अथवा कृति की उत्कृष्टता-निकृष्टता का अंकन मूल्यांकन है, इस निर्णय के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मूल्यांकन-कर्ता अपने निर्णय की युक्तता भी प्रतिपादित कर सके, बहुत बार युक्तता-सम्बन्धी प्रश्न भी अप्रासंगिक होता है—"मुझे मंगोल मुखाकृति की अपेक्षा आर्य मुखाकृति अधिक सुन्दर लगती है" कहने वाले से इसकी युक्तता की माँग नहीं की जा सकती। अभ्यास आदि के रूप में इस पक्षपात के कारणों का निरूपण इस निर्णय का युक्तता-निदर्शन नहीं है। किसी निर्णय की युक्तता निर्णय-विषय में ऐसे गुणों की विद्यमानता दिखाने से उपलब्ध होती है जिन्हें उस निर्णय के लिए उचित प्रमाण कहा जा सके। मूल्य-निर्णयों के लिए यह उतना ही सही है जितना अन्य किसी भी प्रकार के निर्णयों के लिए—कोई मूल्य-निर्णय तभी युक्त निर्णय कहा जा सकता है यदि मूल्यांकन-विषय में ऐसे गुण दिखाए जा सकें जिन्हें उचित रूप से 'उत्कृष्टता-विधायक' गुण कहा जा सकता है। इसीलिए, अधिकांशतः आलोचक-आलोच्य कृति को उत्कृष्ट या निकृष्ट कहने के बजाय उसमें ऐसे गुणों का ही निदर्शन करता है जिसकी विद्यमानता यदि उस कृति में स्वीकार कर ली जाए तब यह तर्कतः अनुगत होता है कि वह कृति उत्कृष्ट है।

इस प्रकार आलोचना की भाषा का विश्लेषण वास्तव में युक्त मूल्यांकन की भाषा का विश्लेषण है। स्वभावतः मूल्यांकन के मानदण्ड मूल्यांकन-विषय के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे, उदाहरणतः कलाकृति के मूल्यांकन के मानदण्ड वे नहीं हो सकते जो दार्शनिक कृति के मूल्यांकन के मानदण्ड होंगे, और ये सर्वथा उनसे भिन्न प्रकार के होंगे जो किसी व्यक्ति के अपने पड़ोसी के साथ व्यवहार को आँकने के लिए होंगे। किन्तु यहाँ हमारा विवेच्य मान-दण्ड नहीं है बल्कि मूल्यांकन विवेच्य है, इसलिए हमारे लिए यहाँ "मेघदूत एक उत्कृष्ट काव्य है" और "महात्मा गांधी एक महान् व्यक्ति थे" निर्णयों में अन्तर प्रासंगिक नहीं है। वास्तव में कोई आलोचक भी किसी कलाकृति को अनेक आधारों पर आँक सकता है—इसका नैतिक प्रभाव क्या होगा, इसमें संप्रेषणीयता कितनी है, तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को वह किस प्रकार से चित्रित करती है, इसका शब्द-विन्यास कैसा है, आदि।

किन्तु मूल्य-निर्णयों की युक्तता के प्रश्न पर अधिकांश विचारकों की धारणा यह है कि अन्तिम विश्लेषण में यह युक्तता वास्तविक नहीं होती, क्योंकि युक्तता के तथाकथित आधारों के लिए कोई युक्तता नहीं होती, ये मनोवैज्ञानिक कारणों से—आवेग, सह-संबंध, अभ्यास आदि से—निर्धारित होते हैं। उदाहरणतः, "निर्धनों को दान देना उत्तम है" में मूल्य-निर्णय है और इसकी युक्तता इस बात पर निर्भर करती है कि हम दान-कर्म में ऐसा गुण दिखाएँ जिसके होने के कारण यह कर्म उत्तम कहना उचित है। मान लें कि वह गुण "संसार में दुःख की मात्रा का ह्रास" है। किन्तु हम यह कैसे पहचान सकते हैं कि "संसार में दुःख-ह्रास योग्यता" उत्तमकर गुण है ? यही बात किसी कलाकृति के मूल्यांकन की युक्तता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

प्रथम दृष्टि में यह एक अत्यन्त निराशाजनक स्थिति प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में उपर्युक्त धारणा बहुत-से पूर्वाग्रहों पर प्रतिष्ठित है। अन्तिम विश्लेषण में, सभी प्रकार के निर्णयों का युक्तता-प्रसंग गोलाकार होता है—उसका औचित्य तद्बाह्य नहीं होता। एक तथ्यात्मक निर्णय की युक्तता का प्रसंग-निर्णय तथ्य के अर्थाभ्युपगम को पूर्वकल्पित करके ही प्रवृत्त होता है और स्वयं उस अर्थाभ्युपगम के लिए कोई औचित्य नहीं दिया जा सकता। अर्थात् किसी तथ्य-

निर्णय की युक्तता जबकि वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर स्थापित की जा सकती है उस तथ्य के वैज्ञानिक निर्धारण का कोई औचित्य नहीं बताया जा सकता, यह नहीं बताया जा सकता कि उसका जादुई निर्धारण क्यों उचित नहीं है ? वास्तव में, यदि विश्लेषण की अन्तिमता को ज़रा और आगे खिसकाया जाए तब, उसका न्यूटनीय निर्धारण, शांकर निर्धारण, स्पिनोज़ाई निर्धारण आदि भी हो सकते हैं। किन्तु यदि इतनी दूर नहीं भी जाया जाए, तब भी वैज्ञानिक और जादुई दो निर्धारण हैं जिनके लिए कोई औचित्य नहीं दिया जा सकता।[1] किन्तु किसी तथ्य-निर्णय की युक्तता को इस कारण से विषयिनिष्ठ कहना अर्थापघातक है। जब मैं कहता हूँ कि "राम को ज्वर है" अथवा "यह पुल धातु-थकान के कारण टूटा है", तब मैं अपनी किसी अभिवृत्ति या आवेग को व्यक्त नहीं कर रहा हूँ, मैं वस्तु-विश्व के सम्बन्ध में ही बात कर रहा हूँ, किन्तु न ही इसका कोई अर्थ है कि मेरा उक्त निर्णय इस अर्थ में विषयनिष्ठ है कि यह वस्तु-सत्-विषयक है, अथवा यह सार्वजनीन भी है। इसी प्रकार मूल्य-निर्णय के लिए भी—इस निर्णय में कि "मेघदूत उत्तम कृति है" मेघदूत के सम्बन्ध में कहा जा रहा है और यह कथन उतना ही मेघदूत के सम्बन्ध में है जितना सूर्य की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति के संबंध में कथन सूर्य के सम्बन्ध में कथन है।

किन्तु मूल्य-निर्णयों में तथ्य-निर्णयों से कुछ अधिक निहित है—मूल्य-निर्णय के विषय स्वयं मूल्य-सृष्ट होते हैं जो कर्त्तृत्व के अर्थ-बोध के साथ उत्पन्न होते हैं।[2] आलोचक के कार्य को समझने के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि आलोच्य कृति मूल्यात्मक प्रयत्न के रूप में ही मूल्य-निर्णय का विषय होती है, यह उसे उस सन्दर्भ में प्रस्तुत नहीं होती जिस सन्दर्भ में वनस्पति वैज्ञानिक को पौधे प्रस्तुत होते हैं, अथवा भौतिक वैज्ञानिक को भौतिक विषय प्रस्तुत होते हैं। इन विषयों की अपनी निजी कोई संरचना नहीं होती, कोई निजी 'सत्' नहीं होता, ये वैज्ञानिक के रचना-व्यापार से अनुसृष्ट होते हैं। इसके विपरीत, मूल्यांकन के विषय मूल्यात्मक प्रयत्न होने से इनका अस्तित्व मूल्यांकनकर्त्ता से स्वतन्त्र रहता है, ये विषय स्वरचित और स्वार्थगर्भ होते हैं। आलोचक का मूल्य-निर्णय केवल सैद्धान्तिक सुविधा या उपयोग की सुविधा (प्रैग्मैटिक क्राइटीरियन) से निर्धारित नहीं हो सकता।

मूल्यात्मक प्रयत्न और अन्य वस्तुओं के मूल्यांकन में बहुत अन्तर है। गुलाब, उषा और मणि सुन्दर हैं, इन्हें 'सुन्दर' कहना इनका मूल्यांकन करना है, और इसी प्रकार किसी मुँह को 'कुरूप' कहना उसका मूल्यांकन करना है। किन्तु किसी चित्रित कुरूप मुखाकृति को 'कुरूप' नहीं कहा जा सकता, इस रूप में एक महत्त्वपूर्ण नवीन तत्त्व का समावेश हो गया रहता है। करुण स्थिति और करुण चित्र में अन्तर की व्याख्या करने का प्रयत्न बहुत पुराना है। इनमें अन्तर यह है कि चित्रित मुख और काव्याभिव्यक्त करुण स्थिति मूल्य-सृष्टियाँ हैं जबकि कुरूप मुख और करुण स्थिति मूल्य-सृष्टियाँ नहीं हैं। मुँह का सौन्दर्य आह्लादजनकता में है, उसकी कुरूपता विकर्षण उत्पन्न करने में। इस आकर्षण और विकर्षण के लिए कोई औचित्य नहीं है, इनके लिए इसके अतिरिक्त कोई युक्तता नहीं है कि ये ऐसा करते हैं, अथवा हम ऐसा अनुभव करने के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से अभ्यस्त हैं—अर्थात् हमारे व्यवहार की कारण-कार्य-परक व्याख्या यहाँ युक्त है—स्वयं फूल के सौन्दर्य की अथवा मुँह की कुरूपता की कोई युक्तता नहीं है। इसके विपरीत, किसी कलाकृति के मूल्यांकन में हमारी मनोवैज्ञानिक अभिवृत्ति क्या है, यह अप्रासंगिक है. "यह कृति उत्कृष्ट है" कहने वाले के संस्कार-स्वभाव का इस निर्णय की युक्तता से कोई सम्बन्ध नहीं है, इस निर्णय की युक्तता इस कृति में चरितार्थित मूल्यात्मक सौन्दर्य से उपलब्ध होती है।

सुन्दर और सौन्दर्य-मूल्य में आधारभूत अन्तर है, इसे अधिकांशतः देखा नहीं गया है। "सौन्दर्य मूल्य है" प्रतिज्ञा का अन्तर्भाव "सुन्दर वस्तु प्राप्तव्य है" में नहीं किया जा सकता, यदि यह किया जा सकता हो तब सुन्दर लड़की को प्राप्त करना और रसगुल्ले को प्राप्त करना भी मूल्यों का चरितार्थन हो जाएगा। "सौन्दर्य मूल्य है" का अर्थ है "सौंदर्य चरितार्थ्य है" अर्थात्, यह किसी वस्तु की उपलब्धि द्वारा नहीं कर्त्तृत्व के अर्थ-बोध द्वारा मूल्य बनता है। चरितार्थ्यता में कर्त्तृत्व और अर्थान्वेषण दोनों का समावेश है, अर्थात् मूल्य कर्त्तृत्व तथा उसकी प्रयोजनवत्ता के बोध की

१. इस प्रसंग में प्रस्तुत लेख की 'ज्ञान और सत' पुस्तक में प्रवेश प्रदत्त तथा व्याख्या अध्याय द्रष्टव्य। प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९६७।

२. वहीं, 'मानव-प्रतिमा' अध्याय।

संज्ञा है। मूल्य के अर्थ में "अर्थान्वेषण" अथवा "प्रयोजन-वत्ता का बोध" निहित होने से ही सौन्दर्य मंगल का अविरोधी ही नहीं पोषक भी है। (राम और कृष्ण में सुन्दर और मंगल का सामंजस्य आकस्मिक नहीं है।) मूल्य का यह अर्थ 'शिव' और 'सत्य' से और भी अधिक स्पष्ट देखा जा सकता है। 'शिव मूल्य है' का अर्थ 'शुभ वस्तु प्राप्तव्य है' करना उपहासास्पद होगा, क्योंकि कोई वस्तु शिव या शुभ नहीं हो सकती, इसलिए इसका अर्थ "शिव सम्पाद्य है" ही उचित है। इसी प्रकार सत्य के लिए भी, यदि क मेज़ है तो "क मेज़ है" निर्णय सत्य है, किन्तु इस निर्णय या प्रत्यक्ष की सत्यता में कोई मूल्यवत्ता नहीं है, मूल्यवत्ता सत्य की अन्वेष्यता में है, इसीलिए "कुत्ते के रोटी का ग्रास दबोच लेने में" सत्य की मूल्यवत्ता उपलब्ध नहीं होती और न उसके ग्रास के प्रतिबिम्ब को ग्रास समझकर नदी में कूद जाने को बलिदान कहा जा सकता है, सत्य की मूल्यवत्ता वैज्ञानिक और दार्शनिक कर्मों में उपलब्ध होती है।

वैज्ञानिक सत्य का अन्वेषण सूचनाओं का संकलन नहीं है, यह एक व्याख्या-संदर्भ का सर्जन है। वैज्ञानिक के विषय इसी सन्दर्भ में रचित होकर सत्य होने का सम्मान पाते हैं। इस प्रकार, वैज्ञानिक के विषय अन्वेष्य सत्य से आविष्ट रहते हैं। यही कलाकार के लिए भी सही है, वह चरितार्थ्य सौंदर्य के सन्दर्भ में विषय-रचना करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि कला का शिव और सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु कला में सत्य व्यंजित होता है अन्वेषित नहीं, इसी प्रकार कला में शिव आभासित होता है सम्पादित नहीं। यह उन कलाओं में स्पष्टतः देखा जा सकता है जिनमें भाषा का आश्रयण नहीं किया जाता। बहुत-से आलोचक और पाठक कला-कृति में सम्पादित शिव और अन्वेषित सत्य की माँग करते हैं, जो कला के स्वरूप को न समझने के कारण है। किन्तु कला-कृति में व्यंजित सत्य और आभासित शिव का साहचर्य अनिवार्य है। चरितार्थ्य सौन्दर्य और सुन्दर वस्तु में इस मौलिक अन्तर को समझकर ही हम वीभत्स की रसवत्ता का अर्थ समझ सकते हैं।

आलोचक के लिए और यहाँ हम केवल कला के आलोचक के सम्बन्ध में ही कह रहे हैं, इस प्रकार के मूल्याविष्ट विषय मूल्यांकन के लिए प्रस्तुत होते हैं। साधारण पाठक अनभ्यस्त और अल्प शिक्षित होने के कारण इन विषयों में अर्थ-विवेक नहीं कर सकता। आलोचक का कार्य इन विषयों का अर्थ-विवेक कर पाठक को कलाकार के मूल्यान्वेषण का अनुभव कराने में सहायक होना है। असमर्थ आलोचक प्रायः ही इसमें असफल रहता है—वह या तो किसी सिद्धांत अथवा मतवाद की कसौटी पर कला-कृति को कसता है, अथवा संवेद्य सौन्दर्य (इन्द्रियगोचर सौन्दर्य) को कला-कृति का वास्तव सौन्दर्य (अथवा असौन्दर्य) समझ लेता है, या फिर कला-कृति की व्यंजना को समझ न पाकर उस पर असत्य या अमंगल होने का आरोप लगाता है। मतान्धता की प्रवृत्तियाँ हम हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों में (जिनमें 'पंत का काव्य और युग' के लेखक का भी समावेश है) देखते हैं और सिद्धान्तान्धता की प्रवृत्तियाँ 'आधुनिकतावादी' आलोचकों में (यद्यपि ये लोग किसी भी सिद्धान्त से नितान्त अपरिचित हैं)। वाहवाही वाली असमर्थ आलोचना छायावाद के आलोचकों में बहुत थी, समर्थ आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य में शिव और सत्य का भाग नहीं समझ सके थे।

किन्तु आलोचक का कार्य छद्म-कलाकारों का उद्घाटन करना भी है। ये तथाकथित कलाकार किसी मूल्यादर्श से सम्मोहित नहीं होते, ये केवल सिर हिलाकर सम्मोहन में होने का नाटक करते हैं। इनके सन्दर्भ में आलोचक दण्डधर की भूमिका में आता है। यहाँ आलोचक का कार्य यह दिखाना है कि किस प्रकार आलोच्य कृतिकार सौन्दर्य का चरितार्थन नहीं कर रहा है बल्कि केवल सौन्दर्य का वर्णन कर रहा है, किस प्रकार उसका वीभत्स वास्तव में वीभत्स है—वह सौन्दर्य-सृष्टि नहीं है, और यदि कोई कला-कृति उस सौन्दर्य-साधना से शून्य है, जो कि कला-कृति के लिए एक-मात्र औचित्य हो सकता है, तब उसमें शिव और सत्य को देखना बेकार है, क्योंकि वहाँ कला-कृति ही नहीं है।

किन्तु इन दो छोरों के बीच दीर्घ परम्परा होती है: किसी कृति में कलाकार मूल्यादर्श से आकृष्ट होकर भी रचना प्रक्रिया में उसके सम्मोहन से रिक्त हो जाता है, किसी कृति में उसकी दृष्ट प्रतिमा को सफल अभिव्यक्ति नहीं मिल पाती, अनेक बार कलाकार अपने परिवेश से इतना दब जाता है कि उसका कर्तृत्व मूल्य-बोध में पूरा समर्थ नहीं होता। आलोचक का कार्य यहाँ नीर-क्षीर-विवेक का होता है।

दुर्भाग्यवश हिन्दी-आलोचना की स्थिति इस समय बड़ी

दयनीय है। छायावादी युग में सही आलोचना की दिशा में कुछ लक्षण दिखाई दिए थे, कम-से-कम आचार्य शुक्ल और कबीर के आलोचक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी छायावादी आलोचकों के लिए आलोचना का एक आदर्श प्रस्तुत कर चुके थे, यद्यपि स्वयं छायावादी आलोचक वाहवाही तक अधिक सीमित थे और उसका कोई अर्थ और परिप्रेक्ष्य नहीं देख पा रहे थे। किन्तु शीघ्र बाद ही मार्क्सवादी आलोचक झंझा के समान आए और उन्होंने सही आलोचना की सम्भावनाओं को जड़ से उखाड़ फेंका। इधर तथाकथित 'युग के मूल्य-बोध' के नाम पर अनास्था, क्षणिकता, कुरूपता आदि कवि के लिए विशेष रूप से और कथाकार के लिए सामान्य रूप से उसके चरितार्थ्य बन गए हैं। इस साहित्य के आलोचक, अधिकांशतः अभिज्ञता के अभाव के कारण, इस स्थिति से ऊपर नहीं उठ पा रहे हैं। मूल्य का यह विचित्र अर्थ है कि साहित्यकार अपने मूल्य (मूल्यहीनता ?) युग से प्राप्त करे। यह मूल्य का समाजवैज्ञानिक अर्थ है जो 'कंडीशंड रीफ्लैक्स' के मनोविज्ञान पर आधारित है। दुर्भाग्यवश बहुत-से तथाकथित आधुनिक कवियों का मूल्य-बोध (मूल्यहीनता) 'कंडीशंड' ही है और इन्हें कोई आलोचक नहीं मिला है जो 'युग-बोध' के ऊपर उठकर मूल्य-बोध प्रदान करे। बल्कि, जिस प्रकार प्रगतिवाद के आलोचक मार्क्सवाद को मानदण्ड बनाकर खरे-खोटे का निर्णय कर देते थे, उसी प्रकार ये आलोचक 'अनास्था' और 'धुरी-हीनता' आदि को मानदण्ड बनाकर निर्णय कर देते हैं। और तुर्रा यह कि ये 'अनास्था का दर्शन' और 'क्षण-बोध का दर्शन' जैसे पद-प्रयोग कर अपने अर्थहीन और दिशाहीन प्रलाप को सिद्धान्त का जामा पहनाने का प्रयत्न भी करते हैं।

हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलोचक की भ्रान्तता को केवल भाषा-विश्लेषण द्वारा नहीं समझा जा सकता; प्रगतिवादी आलोचकों की भूल उनके भाषा-प्रयोग से नहीं समझी जा सकती और न छायावादी आलोचकों की असमर्थता पूरी तरह से समझी जा सकती थी। किन्तु 'अनास्था का दर्शन' और 'क्षण-बोध का दर्शन'-जैसे पद ही अर्थ-हीन हैं, यह देखा जा सकता है। अनास्था एक मानसिक स्थिति है, जिससे कोई व्यक्ति अथवा युग पीड़ित हो सकता है। इस स्थिति के कारण व्यक्ति और युग का मूल्य-बोध भी प्रभावित हो सकता है, किन्तु यह केवल उस अवस्था में जबकि यह मनःस्थिति है और बोध-विषय नहीं है, अर्थात् जब तक व्यक्ति का अनास्थाभिभूत आत्म उसका बोध-विषय नहीं बनता। बोध-विषय होते ही यह विचार, और अतएव मूल्य का भी निर्धारक नहीं बन सकता, क्योंकि विषय निर्धारक नहीं विवेच्य हो सकता है। इसलिए 'अनास्था का दर्शन' वदतोव्याघात है। यही बात 'मूल्य-हीनता का बोध' के बारे में भी कही जा सकती है। मूल्य-हीनता बोध की नहीं अबुद्धता की स्थिति है : यह मनःस्थिति है, बोध-स्थिति नहीं। दुर्भाग्यवश हमारे अधिकांश कलाकार और आलोचक इस समय 'मनःस्थिति' में हैं, बोध-स्थिति में नहीं।

सौभाग्य की बात यही है कि आलोचक अभी कवियों के समान उतने प्रभावशाली नहीं हुए हैं, सिवाय कुछ कवि-आलोचकों के। कम-से-कम ये अभी उस प्रकार से त्रास की स्थिति उत्पन्न नहीं कर पाए हैं जिस प्रकार से प्रगतिवादी आलोचकों ने पहले ही आक्रमण में कर दी थी। किन्तु शेष अधिकांशतः रह जाते हैं विश्वविद्यालयों के वे महानुभाव जो विश्वविद्यालयों में नौकरी पाने के लिए या लेक्चरर से रीडर बनने के लिए पेपरों की संख्या में वृद्धि करने में अधिक संलग्न हैं बजाय कुछ समझने या आस्वादन करने के। इनकी पीली, कल्पनाहीन, बुद्धिहीन और शब्द-बहुल आलोचनाओं को तो शतवार प्रणाम।

सामान्य भाषा और मूल्यांकन

सुरेन्द्र बारलिंगे

'आलोचना की भाषा' पर विचार करते हुए मेरे मन में कई प्रश्न उठते हैं। सबसे पहले, 'आलोचना की भाषा' यह शब्द-प्रयोग ही मुझे संदिग्ध लगता है। बहुधा यह 'लेंग्वेज ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' का हिन्दी पर्याय या भाषान्तर है। किन्तु 'लैंग्वेज ऑफ़ क्रिटिसिज़्म' का एक अर्थ आलोचना का स्वरूप भी हो सकता है, न कि केवल आलोचना की भाषा । अर्थात् आलोचना के स्वरूप में आलोचना की भाषा का भी अन्तर्भाव्य होता है।

आलोचना के स्वरूप के सम्बन्ध में जब मैं विचार करता हूँ तो मेरे मन में एक प्रश्न उठता है। आलोचना के स्वरूप और मूल्यांकन के स्वरूप में क्या भेद है ? जब कोई व्यक्ति किसी काव्यकृति की आलोचना करता है तो क्या वह उस काव्यकृति का मूल्यांकन नहीं करता ? क्या जब कोई किसी कलाकृति का मूल्यांकन करता है तो क्या वह उस कलाकृति की आलोचना नहीं करता ? मुझे ऐसा लगता है कि इन दोनों शब्दों (मूल्यांकन और आलोचना) का प्रयोग समानार्थी भी हो सकता है और नहीं भी। बहुत सारा 'समय' (कन्वेंशन) पर निर्भर है। काव्य-साहित्य में मूल्यांकन शब्द का प्रयोग कुछ नवीन-सा है। बहुधा यह बीसवीं शताब्दी की देन है। जब काव्य-साहित्य को कला के कक्ष में लाया गया तो जो प्रयोग कला के संदर्भ में किया जाता था वह साहित्य के संदर्भ में भी किया जाने लगा । एक दृष्टि से देखा जाए तो संगीत-चित्र और शिल्प का मूल्यांकन तो हो सकता है, किन्तु आलोचना नहीं। और जब हम चित्र की आलोचना जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमें चित्र का मूल्यांकन ही अभिप्रेत होता है। मैं यह मानता हूँ कि आलोचना या मूल्यांकन में से किस शब्द का प्रयोग करना उचित है—यह 'कन्वेंशन' या रूढि पर ही निर्भर है, किन्तु रूढि की दृष्टि से देखा जाए तो आलोचना में यथातथ्य वर्णन या विवरण के लिए बहुत-कुछ जगह है। जब हम किसी साहित्य-कृति की आलोचना करते हैं तो उस आलोचना में साहित्य-कृति का जो वर्णन आता है वह साहित्य-कृति को समझने के लिए उपयुक्त होता है। एक दृष्टि से देखा जाए तो 'वर्णन' से ही मूल्य ध्वनित करना आलोचना की विशेषता है। साहित्य की भाषा के समान ही आलोचना की भाषा में भी 'वर्णन' का महत्त्व है। कारण, सारा साहित्य यह 'वर्णन' का ही प्रकार है। इसलिए जब हम साहित्य की आलोचना में 'वर्णन' का प्रयोग करते हैं तो वह विवरण मूल्यांकन का पोषक होता है। जिसको हम मूल्य की भाषा कहते हैं वह भी आरम्भ में बहुत-कुछ हद तक 'वर्णन' की ही भाषा थी। किन्तु वर्णनात्मक भाषा द्वारा भी मनुष्य मूल्यात्मक चित्र निर्माण कर सकता है। इसीसे धीरे-धीरे शब्द पर मूल्य के पुट चढ़ते हैं। सारांश यह कि जहाँ तक साहित्य का विषय है अच्छी आलोचना में मूल्यांकन के बीज छिपे रहते हैं। क्या आलोचना के बिना भी साहित्य का मूल्यांकन हो सकता है ? यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' है तथापि इस प्रकार का मूल्यांकन यथार्थतः केवल एक शब्दात्मक वाक्य में —अच्छा या बुरा, सुन्दर या असुन्दर, वाक्य में ही—हो सकता है।

जिस प्रकार हम साहित्य-कृति की आलोचना कर सकते हैं, उसी प्रकार क्या हम चित्र, शिल्प या संगीत की 'आलोचना' कर सकते हैं ? एक दृष्टि से तो कर ही सकते हैं। कारण, आलोचना हो या मूल्यांकन, यह भाषा का—शब्दजन्य भाषा का ही प्रकार है। अतः ध्वनि द्वारा किया हुआ कोई भी आस्वादन शब्दयुक्त भाषा का ही स्वरूप लेगा। किन्तु अजन्ता के गुहाचित्रों को देखकर स्तिमित हो जाना, कोणार्क का शिल्प देखकर स्तम्भित हो जाना या अल्लादिया खाँ की चीज़ सुनकर किसी विशिष्ट स्थान पर सिर हिलाना यह भी तो मूल्यांकन का ही प्रकार है। जब कोई सहृदय कलाकृति में सौंदर्य का साक्षात्कार करता है तो वह निमिष मात्र को स्तब्ध, स्तिमित, स्तम्भित हो जाता है। यही कला का 'चमत्कार' है। मूल्यांकन, सच्ची दृष्टि से देखा जाए तो, एक 'शब्द' में होता है। उसे न तो वर्णनात्मक भाषाडंबर की ज़रूरत है, न आलोचना की। आलोचना से साहित्येतर कला का सौंदर्य बढ़ता नहीं घटता है। एक तो साहित्येतर कलाकृति का भाषा में वर्णन करना 'भाषांतर' का प्रकार है; भाषांतर के सब दोष यहाँ प्रादुर्भूत हो जाते हैं। दूसरे इस प्रकार की आलोचना

में कला के अंगोपांगों का भाषा में विवरण देने से वर्णन में कला की दृष्टि से एक प्रकार की निकृष्टता आ जाती है। सौंदर्य की 'सूचना' वहाँ नष्ट हो जाती है। जो 'संकेत' कला के इतर माध्यम में मिलता है वही संकेत उसका भाषा में भाषान्तर हो जाने के बाद नहीं मिलता है। एक तो ऐसी कृति में सौंदर्य का सृजन नहीं होता। जो होता है वह नीरस वर्णन होता है। ऐसी कलाकृति को मम्मट का दिया हुआ 'चित्र-काव्य' नाम बहुत युक्त होगा। और चित्र-काव्य को मम्मट में कनिष्ठ कोटि का माना है। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि कोई कवि अजंता की कलाकृति पर या संगीत पर कोई उत्तम कोटि का काव्य नहीं कर सकता। लेकिन ऐसा काव्य उस कवि की अपनी निजी कृति होगी, भाषांतर या आलोचना नहीं होगी। सर्वसाधारण की भाषा में सर्वसाधारण मनुष्य ऐसी कलाकृति का भाषात्मक आलेख (ग्राफ) तो शायद दे देगा, किन्तु ऐसे आलेख में वह कला का प्राण—सौंदर्य कैसे निर्माण करेगा। भाषा ही आलोचना का माध्यम होने से साहित्येतर कला की आलोचना करने में उन कलाओं का कलात्व—सौंदर्य घट जाता है। साधारण मनुष्य लंबाई, चौड़ाई, रंग, वक्रिमा आदि में चित्र का वर्णन तो कर लेगा किन्तु यह करना चित्र की आलोचना नहीं, विडंबना होगी। इसीलिए मेरी दृष्टि में साहित्येतर कलाओं का मूल्यांकन हो सकता है, आलोचना नहीं।

यदि मेरी उपरिनिर्दिष्ट विचारसरणि ठीक है तो उससे एक बात सिद्ध हो जाती है। साहित्य की कलाकृति के क्षेत्र में अच्छी आलोचना साहित्य की कलाकृति की पूरक या पोषक हो सकती है। ऐसी आलोचना का स्वरूप कलाकृति के स्वरूप से मिलता-जुलता रहेगा, न कि उसके मूल्यांकन से साहित्य कलाकृति का माध्यम और आलोचना का माध्यम एक होने से यह हो सकता है।

वह साहित्य की कलाकृति का मूल्यांकन न होगा। वह एक प्रकार से कलाकृति के मूल्यों का उद्घाटन होगा। आलोचना को वस्तुतः 'माइक्रोस्कोप' का कार्य करना चाहिए, अर्थात् उसे आवश्यकतानुसार कलाकृति के सौन्दर्य को नष्ट किए बिना कुछ विशिष्ट तत्त्वों को विवर्धित करके सामान्य पाठक के सम्मुख मूल्य-निर्णय के लिए छोड़ देना चाहिए। साहित्य-समालोचक लेखक और पाठक के बीच दुभाषिया है। वह लेखक को पाठकों से परिचित कराता है। इसलिए स्वयं समालोचक को भी एक प्रकार से साहित्य-सर्जक होना चाहिए; और वह जो आलोचना प्रस्तुत करता है उसे अर्ध-कलाकृति होना चाहिए। किन्तु पाठकों को शिक्षित करने के लिए उसे मूल कृति का सौन्दर्य नष्ट किए बिना **पुनर्गठन** करना पड़ता है। यह कार्य बहुत-कुछ भूगोल में उपयोगी 'मार्केटस प्रक्षेपण' जैसा है। लेकिन स्मरण रखने की बात यह है कि साहित्यिक कृति और उसकी आलोचना—दोनों का सम्बन्ध मूलतः एक ही भाषा से है। वे दोनों बहुत-कुछ एक ही स्तर से सम्बद्ध हैं जो मूल्यांकन से नितांत भिन्न है, क्योंकि मूल्यांकन तत्त्वतः एक अन्य ही स्तर की अवधारणा है।

निश्चय ही, साहित्य-समालोचक कभी-कभी कला-कृतियों के मूल्यांकन में भी प्रवृत्त होता है और ऐसा करते समय वह एक भिन्न स्तर पर संचरण करता है। किन्तु इसका अर्थ यही है कि वह एक ही साथ निर्णायक एवं आलो-चक दोनों के कार्यों का निर्वाह कर सकता है। साहित्यिक कृति के बाहर इस प्रकार भटक जाने की संभावना इसलिए होती है कि साहित्यिक कृति प्रकृत्या 'निर्बन्ध' होती है। वस्तुतः स्वयं रचनाकार भी ऐसे आलोचनात्मक कार्य में प्रवृत्त होता है। इस दृष्टि से काव्य में 'अर्थान्तरन्यास' द्रष्टव्य है। यह इसलिए सम्भव होता है कि साहित्यिक कृति अन्य कलाकृतियों के समान ऐसी परिबद्ध इकाई नहीं होती जिसमें बहुभूमिक गतिशीलता सर्वथा वर्जित हो। वस्तुतः साहित्य-कला का माध्यम सामान्य भाषा है, जिसकी गत्वरता सदैव एकभूमिक नहीं होती, बल्कि बहुभूमिक होती है—यहाँ तक कि उसमें सामान्य भाषा या वस्तु-भाषा-विषयक अवधारणाएँ तथा आधिभाषिक अवधारणाएँ एक ही साँस में व्यक्त की जा सकती हैं।

यदि मेरे उपरिनिर्दिष्ट विचार ठीक हैं तो उससे 'आलो-चना की भाषा' के संकुचित अर्थ से किये हुए प्रयोग पर भी प्रकाश पड़ेगा। आलोचना की भाषा को कृति की भाषा का पूरक ही रहना पड़ेगा। जहाँ कृति की भाषा गूढ़ है वहाँ तो आलोचना की भाषा को स्पष्ट और अर्थवादी रहना पड़ेगा। किन्तु जहाँ कृति की भाषा सरल और अर्थवादी है वहाँ आलोचना की भाषा को गूढ़, दुर्बोध या निरर्थक करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि अर्थवाही होने के लिए भाषा में उपमा-जैसे अलंकारों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि उपमान को ज्ञान का प्रमाण भी समझा गया है; तथापि

'अर्थवाही' होना भाषा का आद्य लक्षण है। भाषा-प्रयोग से अर्थ का स्फोट होना चाहिए। यदि मैं 'यह रंग सुन्दर है' ऐसा प्रयोग करूँ तो उससे ज़रूर अर्थबोध होगा। किन्तु यदि मैं कहूँ कि 'यह रंग त्रिकोण या अष्टकोण है' तो यह कथन न केवल दुर्बोध होगा, बल्कि मूर्खतापूर्ण भी होगा। उपमान या दृष्टान्त का प्रयोजन भी यही है कि उससे समझने में आसानी हो। यदि उससे अर्थ-हानि होती है तो भाषा का भाषात्व ही नष्ट हो जाएगा। इस दृष्टि से यदि कुछ आलोचकों की आलोचना पढ़ने का कष्ट किया जाए तो जान पड़ेगा कि उसमें 'निरर्थ गौरव' ही प्रायः मिलता है। ऐसे आलोचक बहुधा ऐसा समझते हैं कि शब्द का आडम्बर ही भाषा है। किन्तु यह केवल नादजंजाल है। ऐसे आलोचकों को यह भी देखने की आवश्यकता है कि क्या उनके वाक्य में एक शब्द दूसरे की संगति में है, क्या उनके एक शब्द-प्रयोग से दूसरे शब्द की 'आकांक्षा है, क्या उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द उस सन्दर्भ में दूसरे शब्द के साथ-साथ जाने की योग्यता रखता है। मेरी दृष्टि में जब ऐसी आकांक्षा-योग्यताहीन भाषा का प्रयोग किया जाता है तब वह आलोचना की भाषा नहीं हो सकती, क्योंकि उससे आलोचना के उद्देश्य की क्षति होती है। इसलिए आलोचना के लिए 'सामान्य भाषा' ही सबसे उपयुक्त है।

यहाँ 'सामान्य भाषा' का स्वरूप स्पष्ट कर लेना चाहिए। 'भाषा' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। प्रथमतः भाषा अभिव्यक्ति और संप्रेषण का साधन है। भाषा को 'साधन' कहने का अर्थ यह है कि भाषा मूलतः 'प्रतीकात्मक' होती है। विचार हो या भावना, सामान्य भाषा के द्वारा ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को संप्रेषित करता है। इसका यह अर्थ है कि वह मनुष्य विचार या भावना को ध्वनि में रूपान्तरित कर देता है। इसी ध्वनि-पैटर्न को हम सामान्यतः भाषा के नाम से समझते हैं। कभी-कभी लिप्यन्तरित भाषा को भी हम भाषा कहते हैं। किन्तु लिप्यन्तरित भाषा मूल अर्थ में भाषा नहीं है। लिप्यन्तरित भाषा को भाषा के नाम से संबोधन का कारण यह है कि लिप्यन्तरित भाषा और सामान्य भाषा में हम सह-संबंध (को-आर्डिनेशन) पैदा कर सकते हैं। किन्तु जिन लोगों को इस सह-संबंध की अवधारणा नहीं है वे लिप्यन्तरित भाषा को चित्र का प्रकार समझ सकते हैं। किन्तु जिस प्रकार हम अपने विचार को ध्वनि में रूपान्तरित करते हैं, उसी प्रकार हम अपने विचार को भावमुद्रा, नृत्य, चित्र आदि में भी रूपान्तरित कर सकते हैं। जैसे ध्वन्यन्तरित भाषा को हम भाषा या 'शब्द' कह सकते हैं वैसे ही रूपान्तरित—चाक्षुष रूपों में रूपान्तरित भाषा का हम 'रूप' नाम से उल्लेख कर सकते हैं। इस दृष्टि से चित्र-शिल्प आदि 'रूप-भाषा' के प्रकार हैं।

इसके विपरीत भाषा का द्वितीय प्रयोग वह है जिसमें शब्द अथवा ध्वनि का स्थान गौण होता है। यहाँ भाषा का तात्पर्य शब्द नहीं बल्कि वह अर्थ है जो उससे व्यक्त होता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए मैं अपने कशोर भाषाबोध का एक उदाहरण दे सकता हूँ जिसमें मैंने 'रामचन्द्र दशरथ के पुत्र थे' का अंग्रेज़ी अनुवाद इस प्रकार किया था : 'राम मून वाज़ द सन ऑफ़ टेन चैरियट'। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम किसी भी शब्द का प्रयोग किसी जगह कर सकते हैं। इससे यदि कोई यह निष्कर्ष निकाले तो उसका मतलब इतना ही होगा कि उसके मन में भाषा की रचना और विकास की धारणा यान्त्रिक है और हम किसी भी शब्द को कोई भी अर्थ देकर भाषा बना सकते हैं। वैसे, कुछ भाषा-पंडित व्यवहार में भाषा का ऐसा ही प्रयोग करते हैं। ऐसे प्रयोग में भाषा के विकास के नियम का, यद्यपि ऐसे नियमों में निरंकुशता है, उल्लंघन ही दिखाई देता है। इससे भाषा के कार्य (फ़ंक्शन) एवं उद्देश्य (पर्पज़) की सचमुच हानि ही होती है। यदि इन लोगों के भाषा-प्रयोग की नृतत्त्वशास्त्रीय निकष पर परीक्षा की जाए तो प्रकट होगा कि इन लोगों के प्रयोग में बालिशता है और उनका विकास 'मैजिक' के टप्पे से आगे नहीं बढ़ा है। मुझे यहाँ पतंजलि के एक वाक्य की याद आती है। वे लिखते हैं कि यदि मुझे घट लेना हो तो मैं कुंभकार के पास जाकर उससे कहता हूँ कि हे कुम्भकार, मुझे एक घट बना दो (जिसे मैं पानी भरने या अन्य किसी काम में ला सकूँ), किन्तु मुझे यदि किसी शब्द का प्रयोग करना है तो मैं वैयाकरण या किसी भाषाशास्त्री के पास जाकर यह नहीं कहता कि हे भाषाशास्त्री, मुझे एक शब्द बना दो जिसका प्रयोग मैं अपनी भाषा में करूँ। जैसे घट के गठन (स्ट्रक्चर) और कार्य (फ़ंक्शन) में अन्तर है, वैसे ही शब्द और उसके अर्थ में अन्तर नहीं है (यद्यपि ध्वनि और अर्थ में अन्तर है)। प्रथम घट बनता है तदनन्तर उसका उपयोग होता है। किन्तु प्रथम अर्थ की अवधारणा होती है बाद में उसका ध्वनि में

रूपान्तर। शब्द का मतलब ही उसके प्रयोग से —उपयोग से है। भाषा का यह स्वरूप न समझने से ही हम भाषा को ध्वनि (नाद) के रूप में समझते हैं। इससे अर्थ को हम ध्वनि के कार्य के रूप में देखते हैं और यही ग़लती है। शब्द और अर्थ का संबंध कारण-कार्य संबंध नहीं है। इसीलिए हमारे आचार्यों ने इस संबंध को 'समय' नाम दिया है और उसको नित्य माना है। जैमिनी के 'शब्दस्य अर्थेन सह औत्पत्तिकस्तु सम्बंध:' इस सूत्र से भी यही व्यक्त होता है। शब्द और शब्द का प्रतीक जो ध्वनि है उनमें अभेद की कल्पना करने से और शब्द और अर्थ में भेद की कल्पना करने से ही भाषा-संबंधी विकृत कल्पना उत्पन्न हो जाती है। यदि भाषा में अर्थ ही सब-कुछ है, अर्थ ही अभिव्यक्त करना है, अर्थ ही संप्रेषित करना है यह यदि समझा गया तो कृत्रिमतया कोई उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग साहित्य के मूल्यांकन में या आलोचना की भाषा में नहीं करेगा। कारण, आलोचना की भाषा और साहित्य-कलाकृति की मूल भाषा में एक प्रकार की संवाद-लय होती है। और प्रत्येक आलोचक को इस संवाद-लय पर ध्यान देना चाहिए। यदि कोई आलोचक यह लिखे कि 'त्रासदी साहित्य शास्त्र के दरवाज़े पर एक टकटक है' तो यह रूपक केवल हास्य का विषय हो जाएगा। इससे केवल इतना ही सिद्ध होगा कि ऐसे लेखक की बुद्धि अभी भी 'कैशोर' है, उसे भाषा का विकास आलोचनामात्र भी गम्य नहीं है। किन्तु यदि कोई लिखे, जैसा कि 'कुवलयानन्द' में लिखा है—'नैवं सुधांशु: किं तर्हि व्योमगंगा सरोरुहम्' तो उससे आनन्द की वृद्धि होती है। कारण, यह भाषा कृत्रिम गोंद से जोड़ी हुई भाषा नहीं है। वह एक 'अर्थ-समग्र' है यद्यपि यह वाक्य कई ध्वनि प्राकारों (साउंड-पैटर्न्स) का बना हुआ है। किन्तु ऐसे 'ध्वनि-प्राकार' को एकत्र लाने में इसलिए चिन्ता नहीं है कि वह अर्थ के अखंडत्व को खंडित नहीं करता है। अर्थ की दृष्टि से वाक्य अखंड होता है। 'ध्वनि-प्राकार' की दृष्टि से वाक्य-रचना के स्तर पर उसमें आकांक्षा योग्यता सन्निधि भी ज़रूरी है।

मैंने ऊपर एक जगह यह कहा है कि साहित्य की आलोचना अन्य कलाकृति की आलोचना की अपेक्षा अधिक सुविधापूर्वक हो सकती है। इसका कारण अब और भी स्पष्ट होगा। कारण, साहित्य-कलाकृति तथा उसकी आलोचना ये दोनों अर्थाभिमुख होते हैं। (मैं यह जानता हूँ कि मेरे इस कथन का स्वीकार उसकी मर्यादा समझकर ही लेना चाहिए। जैसे कि प्रगति और उपन्यास के अर्थाभिमुखत्व में भेद होगा)। मेरी दृष्टि में अर्थ की भी एक कोटि नहीं होती। जिस स्वरूप से हम साहित्यकृति के 'अर्थ' को समझ सकते हैं, उसी स्वरूप में हम चित्र-शिल्प के अर्थ को नहीं समझ सकते। और यदि संगीत में भी अर्थ हो तो यह अर्थ साहित्यकृति के अर्थ से सुतरां भिन्न है। अत: जिस प्रकार की संवादलय साहित्यकलाकृति और उसकी आलोचना में आ सकती है वैसा ही संवादलय अन्य कलाओं और उनकी आलोचना में कठिनाई से ही आ पाएगी। मेरी दृष्टि में इस प्रकार की संवादिता प्रस्थापित करना अन्य कलाओं के क्षेत्र में आवश्यक भी नहीं है। यदि साहित्येतर कलाओं का विवरणात्मक स्पष्टीकरण कोई करे तो प्रधानतया आलोचना की दृष्टि से, सैद्धान्तिक दृष्टि से नहीं करता, बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से, छात्रों को प्रशिक्षित करने की दृष्टि से करता है। साहित्यिक कृति की आलोचना में अर्थ को समझने की प्रक्रिया में मूल्यांकन अपने-आप सूचित हो जाता है, जबकि अन्य कलाकृतियों का मूल्यांकन, शब्दों में परिवेष्टित होने के बावजूद, पूर्णतया मूल्यांकन नहीं होता। कारण, अन्य कलाकृतियों के मूल्यांकन में संप्रेषण की समस्या नहीं रहती। वह हर व्यक्ति की निजी बात होती है। वैसे, गौण रूप से यह कलाकृति सुन्दर है या नहीं, अच्छी है या नहीं—इस प्रकार का दंडक कलाकृति के प्रति रखा जा सकता है; और मानवी भाषा के विकास के कारण वह संप्रेषित भी किया जाता है।

किन्तु यह जानना आवश्यक है कि अन्य कलाओं में जहाँ अर्थ गौण रहता है, साहित्य में अपेक्षाकृत अर्थ की प्रधानता होती है। अत: साहित्य और उसकी आलोचना एक अर्थाभिमुख सामान्य भाषा के स्तर पर साथ-साथ चल सकते हैं, जबकि अन्य कलाओं में यह सरलतया संभव नहीं है।

नाट्य-समीक्षा की भाषा

सुरेश अवस्थी

नाट्य-समीक्षा की भाषा की प्रवृत्तियों और उसकी विशिष्ट शब्दावली के निर्माण और विकास के मूल नियामक तत्त्व और उसकी समस्याएँ बहुत-कुछ वही हैं जो काव्य-समीक्षा की भाषा की हैं। इन नियामक तत्त्वों में सबसे महत्त्व-पूर्ण तत्त्व स्वयं रचनात्मक साहित्य का रूप और उसकी प्रवृत्तियाँ तथा समीक्षात्मक-बोध हैं। एक अर्थ में नाट्य-समीक्षा की भाषा की समस्याएँ और उसका रूप-विकास अन्य साहित्यिक विधाओं और कलारूपों की समीक्षा-भाषा की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल है, क्योंकि नाटक एक ऐसी विधा है जिसकी रचना और प्रेषणीयता सहित्य के नियमों द्वारा अनुशासित होकर भी कई अन्य कलाओं के तत्त्वों और व्यवहारों द्वारा नियंत्रित और प्रभावित होती है। रंगशाला और उसकी आनुषंगिक कलाएँ, संवादों का संप्रेषण करने वाला अभिनेता और रंगशाला में बैठा हुआ दर्शक-समाज नाटक की प्रेषणीयता और उसके रसानुभव की प्रकृति को सर्वथा विशिष्ट बना देता है। प्रेक्षक की अभिनयात्मिका वृत्ति नाटक की संवेद्य वस्तु को जिस प्रकार ग्रहण करती है, वह उससे भिन्न है जिस प्रकार भावक की रागात्मिका वृत्ति काव्य की संवेद्य वस्तु को ग्रहण करती है। नाट्य-समीक्षा की भाषागत प्रवृत्तियों को ठीक-ठीक समझने के लिए नाटक की इस विशिष्ट प्रकृति को समझना आवश्यक है। वास्तव में, नाटक का एक ओर साहित्य से और दूसरी ओर रंगमंच के साथ जो दुहरा और जटिल सम्बन्ध है वही नाट्यालोचना के स्वरूप और उसकी भाषागत प्रवृत्तियों को बहुत-कुछ निर्धा-रित करता है। पिछली एक शताब्दी में अंग्रेज़ी में नाट्या-लोचना में विवाद का प्रमुख विषय नाटक का यही दुहरा सम्बन्ध रहा है।

साहित्य-समीक्षा, विशेषकर नाट्य-समीक्षा की भाषा के स्वरूप के निर्माण में विशिष्ट प्राविधिक शब्दावली का बहुत बड़ा महत्त्व है। नाट्य-समीक्षा नाटक के साहित्य की विवेचना रंगमंच के सन्दर्भ में करती हुई जिस प्रकार उसके रूपबंध का विश्लेषण करती है और उसकी प्रेषणीयता और प्रदर्शन-क्षमता का परीक्षण करती है, उसमें रंगमंच की अनेक कलाओं की संकल्पनाओं और मूल्यों का योग रहता है। अतः नाट्य-समीक्षा की पारिभाषिक शब्दावली में बहुत बड़ी विविधता और विस्तार रहता है। साहित्यिक समीक्षा की प्राविधिक शब्दावली अन्य विषयों के समान संकल्पनामूलक होती है, क्योंकि प्रत्येक पारिभाषिक शब्द एक विशिष्ट संकल्पना (कांसेप्ट) का बोधक होता है। इसी प्रकृति के कारण साहित्यिक समीक्षा की भाषा के सम्बन्ध में एक मौलिक कठिनाई होती है। विकास-धर्मी और परिवर्त्तनशील रचना-त्मक साहित्य के साथ-साथ समीक्षात्मक संकल्पनाएँ और रूढियाँ भी बदलती रहती हैं, और इससे शब्दावली स्थिर नहीं हो पाती और उसके प्रयोग और प्रयोजन में एक प्रकार की युग-सापेक्षता अनिवार्य हो जाती है। फिर भी हम एक ओर तो अन्य विषयों की शब्दावली के समान साहित्यिक समीक्षा में भी परिभाषित शब्दों की एकरूपता, अर्थ-निष्ठा और प्रयोगरूढता की बात करते हैं, और दूसरी ओर नए ऐतिहासिक और साहित्यिक संदर्भों और नई संवेदनाओं के अनुरूप नई शब्दावली के विकास की माँग करते हैं। इस प्रकार समीक्षा की भाषा और शब्दावली एक प्रकार के अन्तर्विरोध से घिरी रहती है। हिन्दी नाट्य-समीक्षा में यह अन्तर्विरोध कई कारणों से और भी तीव्र और जटिल हो गया। संस्कृत में नाटकों के शुद्ध सैद्धान्तिक विश्लेषण की जो समृद्ध परम्परा और शब्दावली है, वह उस हिन्दी नाटक के विश्लेषण और मूल्यांकन के लिए बिलकुल बेकार हो गई जिसका रचना-विधान और जिसकी रूढियाँ संस्कृत नाटक से सर्वथा भिन्न थीं। हिन्दी की काव्य-समीक्षा के विकास में संस्कृत की सैद्धान्तिक विवेचना की काव्यशास्त्रीय शब्दावली जैसा जो कुछ भी योगदान दे सकी, वैसा भी नाटक में संभव न हो सका। उधर हिन्दी में रंगमंच की कोई अखंड और समृद्ध परम्परा न होने के कारण नाटक की मूल कलात्मक प्रकृति का ही उद्घाटन न हो सका और रंगमंच के संदर्भ में उसके मूल्यांकन की नई शब्दावली और भाषा-शैली का विकास न हो सका।

हिन्दी में नाट्य-समीक्षा का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

के प्रसिद्ध निबन्ध 'नाटक' (संवत १९४०) से माना जाता है। यद्यपि इस निबंध में न तो नाट्य-समीक्षा के कोई सिद्धांत और व्यवहार ही निर्देशित किए गए हैं और न किसी प्रकार का समीक्षा-बोध ही प्रकट होता है। इसमें तो संस्कृत नाट्य-सिद्धान्तों तथा नाटक-इतिहास का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है, और प्रसंगवश नवीन पश्चिमी नाट्य परम्परा की अत्यन्त परिचयात्मक चर्चा की गई है। लेकिन इस निबन्ध में भारतेन्दु बाबू ने नाटक के वस्तु-संगठन आदि के सम्बन्ध में जो नितान्त व्यावहारिक बातें कही हैं, उनसे हिन्दी की आरम्भिक नाट्य-रचना और समीक्षा-दृष्टि का कुछ आभास मिलता है। वे लिखते हैं: "नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी। नाट्यकला-कौशल दिखलाने की देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी, वर्त्तमान काल में नहीं होती।" वे नाट्य-रचना में नये पश्चिमी शैली के रंग-मंच के अनुशासनों के महत्व की बात भी करते हैं: "आज-कल यूरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंग देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वे सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है।"

हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास की यह एक बड़ी भारी विडंबना है कि जहाँ आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य का प्रवर्त्तन नाटकों से हुआ और सम्यक् आलोचना का आरंभ भी नाटकों की आलोचना से ही हुआ (बालकृष्ण भट्ट तथा बदरीनारायण 'प्रेमघन' द्वारा लाला श्रीनिवास के नाटक 'संयोगिता स्वयम्वर' की समीक्षा) वहीं आगे चलकर न तो नाट्य-समीक्षा का ही कोई स्वरूप विकसित हो सका और न वह आधुनिक नाटक साहित्य की सम्यक् विवेचना करने में ही समर्थ हो सकी। यह विडंबना और भी बड़ी लगती है जब हम देखते हैं कि इसी आरंम्भिक काल में विविध रूपों और शैलियों में इतना समर्थ नाटक-साहित्य रचा गया। इसका शायद सबसे बड़ा कारण रंगमंच का अभाव था। यदि भारतेन्दु युग में समर्थ रंगमंच-परम्परा रही होती और नाटक-रचना के साथ-साथ समीक्षा का भी विकास हुआ होता तो आज हिन्दी नाटक का इतिहास कुछ और ही हुआ होता। अन्य साहित्यिक रूपों की अपेक्षा नाटक में समीक्षा का विशेष महत्व है, क्योंकि उसका रचनात्मक स्तर पर तात्कालिक प्रभाव पड़ता है। काव्य के क्षेत्र में रामचन्द्र शुक्ल ने यह महत्वपूर्ण कार्य किया कि एक ओर तो उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र की शब्दावली को नए संदर्भों में प्रयोग कर उसे नई अर्थवत्ता प्रदान की और दूसरी ओर पाश्चात्य काव्य-समीक्षा की पद्धतियों और संकल्पनाओं को व्यक्त करने वाली नई शब्दावली का विकास किया। लेकिन नाटक के क्षेत्र में ऐसा संभव न हो सका। उसे कोई ऐसा समीक्षक न मिला जिसकी मेधा एक ओर तो संस्कृत की नाट्य-शब्दावली को नया संस्कार दे देती और नई नाट्य-रचना के अनुरूप समीक्षा की नई संकल्पनाओं को व्यक्त करने वाली शब्दा-वली का विकास करती।

हिन्दी नाट्य-समीक्षा के इतिहास के दूसरे चरण में हम वर्तमान शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में आते हैं, जब प्रसाद ने हिन्दी नाटक को सर्वथा नवीन रचनात्मक स्तर प्रदान किया। भारतेन्दु के समान जयशंकर प्रसाद ने भी अपनी रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। वे अपने नाटकों में दी हुई लम्बी-लम्बी भूमिकाओं में नाटक की कथावस्तु के ऐतिहासिक पक्ष का तो गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं लेकिन नाटकों के वस्तु-निर्माण और रचना-शिल्प के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखते। उनके निबन्ध संग्रह 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में संग्रहीत तीन निबंधों में नाट्य विषय की चर्चा की गई है। इनमें से दो निबन्ध-'नाटकों में रस का प्रयोग' और 'नाटकों का आरंभ' में तो प्राचीन भारतीय नाट्य-कला की परम्परा का संक्षिप्त परि-चय दिया गया है, तथा तीसरे निबन्ध 'रंगमंच' में संस्कृत की नाट्यशाला और इसके विविध तत्त्वों का विवेचन है। इसी निबन्ध में प्रसाद ने प्रसंगात कुछ ऐसे विचार प्रकट किए हैं जो उस समय के नाट्य-रचना-बोध और समीक्षा-दृष्टि का संकेत देते हैं। वे लिखते हैं कि 'रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएं। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो

व्यावहारिक है।'' प्रसाद अपने समय के अत्यन्त व्यवसायी पारसी रंगमंच से असन्तुष्ट थे और 'नए' नाटक को उससे उबारकर नई साहित्यिक गरिमा प्रदान करना चाहते थे। लेकिन नाटककार अपने समकालीन रंगमंच के रूप और उसकी रूढ़ियों की पूरी तरह अवहेलना नहीं कर सकता। वास्तव में, रंगमंच का रूप, और उसकी मूल रूढ़ियाँ तथा प्रदर्शन की पद्धतियाँ और व्यवहार ही नाटक के रचना-शिल्प और वस्तु-निर्माण की विधियाँ और व्यवहार निर्धारित करते हैं। यही कारण है कि हम स्वयं प्रसाद के नाटकों में उसी फ़ारसी रंगमंच के कितने ही व्यवहार और रूढ़ियाँ पाते हैं जिसे उन्होंने अस्वीकार किया।

नाटक के साहित्यिक स्वरूप के सम्बन्ध में हमारे अधकचरे बोध और रंगमंच के अभाव के कारण हिन्दी में जिस नाट्य-समीक्षा-बोध का विकास हुआ और जिस भाषा और शैली का प्रचलन हुआ वह एकांगी और अधूरी थी, और उसकी प्रेरणा नाटकेतर स्रोतों से आई। उसने मूलतः कथा-साहित्य की समीक्षा-पद्धति और शब्दावली से समीक्षा-बोध और शब्दावली ग्रहण की, और यही कारण है कि वह कथानक और चरित्र-चित्रण के संकुचित घेरों में ही उलझ कर रह गई। नाटक की विशिष्ट साहित्यिक प्रकृति को ठीक-ठीक समझकर उसके समूचे रूपबंध, रचना-रूढ़ियों और उसकी पूर्ण और पुनराभिव्यक्ति के मौलिक माध्यम रंगशाला के साथ होने वाले उसके कलात्मक सम्बन्धों का उद्घाटन वह न कर सकी। कथानक का विश्लेषण करने वाली हिन्दी की 'साहित्यिक' नाट्य-समीक्षा यह झूठा आभास देती है कि वह नाटक के रूपबंध का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत कर रही है, लेकिन वास्तव में वह इस विश्लेषण को न तो रंगमंच से सम्बद्ध कर पाती है और न नाटक के कथानक और चरित्रों को एक साथ लेकर कोई समेकित और पूर्ण मूल्यांकन ही प्रस्तुत करती है। वह केवल कुछ बँधे-बँधाए सूत्रों में नाटक के रूपबन्ध का नितान्त कृत्रिम विश्लेषणात्मक परिचय देती है। यही कारण है कि नाटक-रचना की लगभग एक शताब्दी की उपलब्धियों के बाद भी हमारी समीक्षा उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर सकी। भारतेन्दु-युग के अत्यन्त समृद्ध और प्राणवान नाटक-साहित्य के कला-स्रोतों और रचना-रूढ़ियों का परीक्षण आज तक नहीं हो सका। और शायद हमारी अपंग नाट्य-समीक्षा का ही यह अभिशाप है कि पिछले दो दशकों में हिन्दी रंगमंच का अभूतपूर्व विकास होने पर भी भारतेन्दु-युग के नाटक हमारे रंगमंचीय क्रिया-कलाप का अंग नहीं बन सके। और प्रसाद के महान् नाटकों के सम्बन्ध में हमारे मन में आज भी दुविधाएँ बनी हुई हैं और हम तीन दशकों से उनकी 'अभिनेयता' पर ही बहस कर रहे हैं।

इस समीक्षा-बोध का आभास हमको स्वयं नाटककारों की रचना-दृष्टि में मिल जाता है, जो स्थिति को और भी अधिक तीव्रता के साथ व्यक्त करता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र 'संन्यासी' नाटक (संवत् १९८६) की भूमिका में लिखते हैं : ''मैंने जान-बूझकर मनोरंजन करने के लिए या धोखा देने के लिए किसी को पापी और किसी को पुण्यात्मा नहीं बनाया है। मैंने अपने चरित्रों को जिन्दगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों के चक्करदार घेरे में होकर रुकते हुए, थकते हुए, ठोकर खाते हुए, आगे बढ़ते गए हैं और मैं बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह उनके पीछे बड़ी सावधानी से चलता रहा हूँ।'' नाटकीय पात्रों की ऐसी परिकल्पना और सृजन-दृष्टि कथा-साहित्य से आई है। नाट्य-समीक्षा नाटकीय पात्रों का जैसा चरित्र-विश्लेषण करती है, वह भी पात्र-परिकल्पना की इसी कथा-दृष्टि से प्रभावित है। हिन्दी के नाटककार और समीक्षक ने नाटकीय पात्रों को कथा-पात्रों का ही पर्याय मान लिया है। इस समीक्षा-पद्धति की परिणति डॉ० जगन्नाथ शर्मा के 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' (१९४३) में हुई। स्कन्दगुप्त की विवेचना के कुछ अंश इस सम्बन्ध में रोचक होंगे :

''कार्य की भारतीय प्रत्याशावस्था की स्थापना नियमतः तृतीय अंक की समाप्ति के साथ-साथ होनी चाहिए। परन्तु उस अंक के अन्त में प्रत्याशा का रूप उपस्थित न होकर पाश्चात्य चरम सीमा का रूप निश्चित और स्पष्ट होता है।''

भारतीय पद्धति से चौथे अंक में नियताप्ति होनी चाहिए। फल की प्राप्ति नियत-निश्चित हो जानी चाहिए, परन्तु ऐसा स्पष्ट दिखाई नहीं देता। उसका प्रच्छन्न प्रतिपादन अवश्य है, परन्तु जितनी सुन्दर पाश्चात्य निगति दिखाई पड़ती है उतनी नियताप्ति नहीं।''

यह समीक्षा-पद्धति जहाँ एक ओर नए सन्दर्भ में संस्कृत शब्दावली की निरर्थकता सिद्ध करती है, वहीं प्रसाद के नाट-

कीय रूप-विधान को समझ सकने में अपनी असमर्थता भी प्रकट करती है।

हिन्दी नाटक का यह बड़ा भारी दुर्भाग्य था कि नाटक के अध्ययन की ऐसी ही 'शास्त्रीय' पद्धति हमारे कालेजों और विश्वविद्यालयों में प्रचलित और स्वीकृत हो गई। हमारे समीक्षा-ग्रन्थ तथा परीक्षोपयोगी अध्ययन-पुस्तिकाएँ इसी समीक्षा-बोध का परिचय देती हैं और ऐसी ही भाषा का प्रयोग करती हैं। इस प्रकार की किसी भी अध्ययन-पुस्तिका को उठा लें, उसमें नाट्य-समीक्षा बहुत-कुछ निम्नांकित शीर्षकों में मिलेगी : कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कार्यावस्थाएँ, कथोपकथन, अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व, नाटक का नायक, सुखान्त या दुखान्त, देशकाल, भाषा-शैली, रस, संवाद और गीत। मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' जिसकी रचना के बाद ही कई समर्थ प्रदर्शन हो चुके हैं, और जिसकी बड़ी ही गम्भीर समीक्षाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं, जब पाठ्यक्रम में स्वीकृत होता है तो उसकी भूमिका में विश्व-विद्यालयीय अध्यापक लिखता है :

"भरत मुनि के भारतीय मत से नाटक में मृदु-ललित पद की बहुलता, गूढ़ शब्दार्थ का अभाव, जनपद की बोधगम्यता, नृत्य का संयोजन, सन्धियों का संचयन, रस का समावेश आवश्यक माना गया है। इस कसौटी पर परीक्षण करने से यह नाटक अंकों की संख्या के अतिरिक्त अन्य सभी लक्षणों से संयुक्त प्रतीत होता है। इसके कथानक का आरोह एवं अवरोह बड़ा ही चमत्कारी सिद्ध होता है।"

हिन्दी नाट्य-समीक्षा का तीसरा चरण नई नाट्य-समीक्षा के साथ सन् १९५६ में आरम्भ हुआ जब 'कल्पना' में डॉ० धर्मवीर भारती के नाटक 'अंधायुग' की एक लम्बी व्यावहारिक समीक्षा[१] प्रकाशित हुई जिसमें उसके रूपबन्ध का विश्लेषण और उसकी वस्तु-योजना तथा रंग-विधान के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन प्रस्तुत किया गया। नाटक में इसी सम्बन्ध की खोज और उसका रूप-निर्धारण नई नाट्य-समीक्षा की मूल प्रेरणा और मौलिक उपलब्धि है। इस समीक्षा का एक अंश यहाँ प्रासंगिक होगा :

"अन्धायुग की वस्तु-योजना और उसके रंग-विधान में एक प्रकार की विसंगति है। उसकी रचना-रूढ़ियाँ अपने सहधर्मी रंगमंच की सृष्टि न करके विपरीत रूप-स्वभाव वाले रंगमंच पर आरोपित की गई हैं।...इस नाटक के व्यापार-खण्डों की बहुरूपता, निरन्तरता और स्थान-परि-वर्तनशीलता को लोक रंगमंच की ही नाट्य-धर्मिताएँ सहजता के साथ ग्रहण कर सकती हैं, रंगद्वार और ठोस दृश्यबंधों वाले आधुनिक रंगमंच की रूढ़ियाँ और व्यवहार नहीं।"

इसके बाद धीरे-धीरे नाट्य-समीक्षा की नई भाषा, शैली और शब्दावली का विकास होने लगा। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्व की बात यह है कि इस भाषा का विकास नाट्य-प्रदर्शनों की समीक्षाओं के साथ-साथ हुआ जो 'कृति', 'कल्पना', और 'धर्मयुग' में प्रकाशित होने लगी थीं। आज भी 'धर्मयुग', 'दिनमान' आदि पत्रों में नियमित रूप से प्रद-र्शन-समीक्षाएँ प्रकाशित होती हैं और हिन्दी में नाट्य-प्रदर्शनों की समीक्षा की एक समर्थ परम्परा बन गई है। नाटक की समीक्षा के स्वरूप और उसकी भाषागत प्रवृत्तियों के निर्माण में प्रदर्शन-समीक्षाएँ बहुत बड़ा योग देती हैं और उनका यह योगदान साहित्य-समीक्षा को पुस्तक-समीक्षाओं के योगदान से भिन्न और अधिक होता है। आज नाट्य-प्रदर्शनों की इस समीक्षा-परम्परा का ही यह परिणाम है कि 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' की रचना के तुरन्त बाद इतनी व्यापक और गम्भीर चर्चा होती है। इस सम्बन्ध में यह महत्त्व की बात है कि मोहन राकेश ने इस चर्चा से लाभ उठाकर अपने नाटक 'लहरों के राजहंस' के नए संस्करण में कुछ रूपगत परिवर्तन किए हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ऐसा पहली बार सम्भव हो सका है।

नई नाट्य-समीक्षा की इसी प्रवृत्ति को और अधिक स्पष्ट तथा प्रमाणित करने के लिए हम वीरेन्द्रनारायण की एक लेख-माला का उल्लेख कर सकते हैं जो 'स्कन्दगुप्त : एक अध्ययन' नाम से कल्पना में १९६० में प्रकाशित हुई। इस लेख-माला में उन्होंने पहली बार प्रसाद के एक नाटक का अत्यन्त गम्भीर और प्राविधिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस विश्लेषण में स्कन्दगुप्त के संभावित प्रदर्शन का सर्वांगीण रूप प्रस्तुत किया गया और रंगमंच के रूप, रंगसज्जा, पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान, उनके गति-विधान, संगीत और वेश-भूषा का बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया गया और इस रंगमंचीय विवेचना को उन्होंने नाटक की कथा-स्थितियों और पात्र-योजना के साथ सम्बद्ध किया। इस प्रकार की लेख-माला

१. इस समीक्षा के लेखक डॉ० सुरेश अवस्थी हैं।—सं०

हिन्दी-नाटक समीक्षा के इस नये संदर्भ में ही और उसकी नई भाषा-प्रवृत्तियों और शैलियों द्वारा सम्भव थी। इससे २०-३० वर्ष पहले शायद इस प्रकार का विश्लेषण और मूल्यांकन सम्भव ही नहीं था। यही कारण है कि प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया और ऐसे ही अध्ययन की परम्परा बन गई। इस लेख-माला की भाषागत प्रवृत्तियों और उसके समीक्षा-बोध का आभास देने के लिए उससे एक उद्धरण देना संगत होगा :

"मैं यह मानता हूँ कि किसी भी नाटक के प्रदर्शन की दिशा और शैली मूलतः नाटक के स्थापत्य में ही निहित रहती है। स्थापत्य की दृष्टि से प्रसाद शेक्सपियर की ही शैली के हैं, बल्कि यों कहें कि संस्कृत-नाटकों की अयथार्थ-वादी परंपरा में पड़ते हैं। जब दृश्यों का स्पष्ट विभाजन नहीं किया गया तो इसका अर्थ है कि घटनावलियों की एक अटूट शृंखला के रूप में इन्हें प्रस्तुत करना पड़ेगा, जिसमें दर्शकों को पहला विराम अंक की समाप्ति पर ही मिल पाएगा। यानी प्रदर्शन की दृष्टि से संस्कृत नाटकों की ही परम्परा में और शेक्सपियर के नाटकों की तरह पूरा अंक इस तरह प्रस्तुत किया जाना चाहिए कि एक खंड दूसरे में पिरोया-सा हो, उसकी अपनी एक अलग रूपरेखा तो हो पर इतनी सुपुष्ट नहीं कि वह दृश्य की संज्ञा पा सके।"

हिन्दी नाट्य-समीक्षा के इस विकास और उसकी उपलब्धि का सर्वोच्च बिन्दु हिन्दी की पहली नाट्य-पत्रिका त्रैमासिक 'नटरंग' का प्रकाशन है। यह पत्रिका नेमिचन्द्र जैन के सम्पादन में जनवरी ६५ में निकली और अब तक इसके पांच अंक प्रकाशित हो चुके हैं। नई नाट्य-समीक्षा की आंतरिक शक्ति और सार्थकता का ही यह परिणाम था कि वह एक दशक के भीतर ही 'नटरंग' जैसी पत्रिका को जन्म दे सकी। इस पत्रिका में नाटक और रंगमंच की विविध कला-अभिव्यक्तियों की जिस प्रकार की चर्चा हुई वैसी नये काव्य-लेखन की भी नहीं हुई। एक ओर तो इसमें संस्कृत नाटक साहित्य और नाट्य परंपरा तथा हिन्दी की आरम्भिक नाटकीय परम्परा का पहली बार प्रामाणिक पुनर्मूल्यांकन हुआ और उनके नाट्य-तत्त्वों की खोज की गई, और दूसरी ओर रंगमंच की विशिष्ट—कलाओं जैसे दृश्यांकन, संगीत, अभिनय आदि की प्राविधिक चर्चा हुई, और नाटकों और नाट्य-प्रदर्शनों की बड़ी ही गम्भीर समीक्षाएं लिखी गईं। नेमिचन्द्र जैन ने साहित्यिक समीक्षा, विशेषकर काव्य समीक्षा की भाषा और शब्दावली तथा समीक्षात्मक मूल्यों और मानदंडों को नाटक के विश्लेषण और मूल्यांकन में नियोजित किया। 'आषाढ़ का एक दिन' की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं :

"नाट्य रूप की दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' सुगठित यथार्थवादी नाटक है जिसमें बाह्य ब्यौरे की बातों से अधिक परिस्थिति के काव्य को अभिव्यक्त करने का प्रयास है। इस दृष्टि से शायद हिंदी का यह पहला यथार्थवादी नाटक है जो बाह्य और आंतरिक यथार्थ को उनकी समन्विति में, उनके अन्तर्द्वन्द्व में, देखता और प्रस्तुत करता है। उसके कार्य-व्यापार के संयोजन में गति पर्याप्त तीव्र ही नहीं है, उस तीव्रता के भीतर विविधता भी है; विभिन्न भावों और स्थितियों को, विभिन्न पात्रों को इस प्रकार आमने-सामने रखा गया है कि वे अपने आपमें नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करते हैं और परवर्ती परिणति को भी यथासंभव अनिवार्य और विश्वसनीय बनाते हैं।"

इस प्रकार से नई नाट्य-समीक्षा ने अपना कला-बोध नाटक की प्रकृति की सच्ची और प्रमाणिक अवधारणा से विकसित किया है और यह बोध ही उसकी भाषागत प्रवृत्तियों का निर्माण और विकास कर रहा है। इसकी एक और उपलब्धि यह है कि उसने समीक्षात्मक संकल्पनाओं और विचारों को व्यक्त करने वाली नई शब्दावली का निर्माण और विकास किया है। इसके साथ-ही-साथ अब तक प्रयोग में आने वाले पारिभाषिक शब्दों के अर्थ और प्रयोग अधिक निश्चित और अर्थ-गर्भित हुए हैं। रंगसज्जा, दृश्य-बन्ध(सेट), प्रस्तुतीकरण, रंगचर्या, रंगशिल्प, दृश्यांकन, अंक-विधान, रूपबंध, अभिनयात्मिका वृत्ति आदि अनेक नये शब्दों के साथ समीक्षा की नई संकल्पनाएँ आई हैं। इसी प्रकार से प्रेक्षणीयता, अभिनेयता, रूढ़ि और व्यवहार जैसे शब्दों की प्रयोग-बहुलता समीक्षा की नई पद्धति का आभास देती है। नई समीक्षा ने प्राचीन संस्कृत शब्दावली को भी नया संस्कार दिया है और उसे समसामयिक अर्थव्यंजनाएँ देकर प्रचलित किया है। रंगपीठ, रंगशीर्ष और नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी शब्द आज नई नाट्य-शब्दावली के अभिन्न अंग बन गए हैं। कार्य-व्यापार, चरित्र, नाटकीयता और अभिनेता आदि शब्दों की संकल्पनाएं भी अपने पूरे संदर्भों और अर्थों में पहली बार स्पष्ट हुई हैं और नाट्य-समीक्षा को सार्थकता प्रदान कर रही

हैं। इस समीक्षा-पद्धति से पहली बार यह आशा बँधी है कि वह भारतेन्दु और प्रसाद के नाटक-साहित्य का भी ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकेगी। और शायद यही नाट्य-समीक्षा किसी दिन संस्कृत नाटक साहित्य का ऐसा मूल्यांकन कर सकेगी कि वह हमारे लिए सार्थक हो जाएगा।

●

सार्थकता, प्रसंगानुकूलता और प्रामाणिकता

अशोक वाजपेयी

आलोचना का बुनियादी काम है महत्त्वपूर्ण रचना चुनकर उसमें जो घटता है उसका ऐसी उत्कटता से बखान करना कि पाठक के लिए वह रचना अपनी सार्थकता में गहरे अधिक उपलभ्य हो सके। पर इसके लिए ज़रूरी है कि आलोचना रचना की सार्थकता की खोज करे, उसे परिभाषित करे और इस परिभाषा को भरसक मनुष्य की खोजों की सार्थकता और उनके द्वारा पाई गई दूसरी परिभाषाओं से जोड़ सके। ज़ाहिर है कि यह सब कर पाने में समर्थ होने के लिए आलोचना को ऐसे औज़ारों से लैस होना चाहिए जो सूक्ष्म हों, प्रसंगानुकूल और समकालीन हों और जिनकी विश्वसनीयता की पड़ताल उन्हें इस्तेमाल करनेवाला बराबर सावधान रहकर करता चले। ऐसे औज़ारों में प्रमुख है आलोचना की भाषा। लेकिन भाषा से मतलब सिर्फ़ शब्द-व्यवस्था नहीं है, उसमें धारणाएँ, जिज्ञासाएँ और दृष्टि शामिल हैं।

किसी रचना से साक्षात् के समय आलोचक कौन-से सवाल पूछता-उठाता है यह उसकी भाषा को नियमित करता है। अगर वे सवाल प्रासंगिक हैं तो उसकी भाषा में मानवीय तात्कालिकता होगी और वह रचना को उसके अर्थ और महत्त्व दोनों पक्षों में उपयोगी ढंग से उजागर कर सकेगा, यानी उसकी भाषा जीवन्त होगी, उसमें रचनात्मक उत्तेजना होगी, वह शब्दों की एक मूल्यवान और सार्थक व्यवस्था होगी। ज़रूरी नहीं कि आप उस भाषा के पीछे काम कर रही दृष्टि से वैचारिक सहमति रखें या रखना चाहें। वैसी सहमति उद्देश्य भी नहीं होगी। विचारों और धारणाओं का इस्तेमाल, आलोचक महत्त्वपूर्ण रचना चुनकर उसमें जो होता है उसका, बखान करने के लिए कर रहा होगा। एक दिलचस्प उदाहरण गजानन माधव मुक्तिबोध की आलोचना है। उनकी तीन आलोचना-पुस्तकों में कई बार कष्टसाध्य भाषा का प्रयोग हुआ है। वह अक्सर सूक्ष्म होने की कोशिश में पाण्डित्यपूर्ण और दुरूह हो गई है पर इसके बावजूद वह सार्थक और प्रसंगानुकूल भाषा है। उसमें एक तलाश है समकालीन दबावों और तनावों में के प्रति खुला रहकर, उनसे प्रतिकृत होते हुए अपने समय की रचनाओं को समझने और उसकी सार्थकता को परिभाषित करने में सक्षम धारणाओं को विकसित करने की। इसलिए ज्ञान से बोझिल होते हुए भी उनकी आलोचना जीवन्त वार्तालाप है। यह आकस्मिक नहीं है कि 'एक साहित्यिक की डायरी' में मुक्तिबोध इतने निजीपन और कहानी के ढंग से नए साहित्य का एक उदार और सार्थक शास्त्र परिभाषित करने की कोशिश करते हैं। आप मुक्तिबोध के विचारों या निष्कर्षों से सहमत न भी हों, आप उनकी आलोचना को एक जीवन्त और मूल्यवान वार्तालाप पाएँगे जो आपको कई नए सम्बन्ध और संयोग देखने-पहचानने के लिए मजबूर कर देगा। इसका ठीक उलटा उदाहरण है नगेन्द्र-जैसे पण्डित की आलोचना। शाश्वत तत्त्वों से आक्रान्त और समकालीनता से असम्बद्ध होने के कारण नगेन्द्र जो सवाल पूछते हैं वे अगर व्यर्थ नहीं तो अप्रासंगिक ज़रूर हैं। नतीजा यह है कि उनकी आलोचना भी अगर व्यर्थ नहीं तो प्रायः अप्रासंगिक है। उनकी धारणाएँ लचीले और सूक्ष्म औज़ारों का काम नहीं देतीं जिनसे वास्तविक रचनाओं का संघटन सार्थक ढंग से उजागर हो सके। वे लगभग ज़िद हो गई रूढ़ियाँ हैं। नगेन्द्र की भाषा इसीलिए अपने सारे घटाटोपी पाण्डित्य के बावजूद अप्रमाणिक भाषा है। उसमें मुक्ति-

बोध-जैसी मानवीय तात्कालिकता और निजीपन न होकर सूक्ष्मताहीन ठण्डापन है। उसकी ऊपरी गरिमा इस तथ्य को छुपा नहीं सकती कि वह कोई वार्तालाप नहीं है और वह शब्दों की एक निष्करुण और अविश्वसनीय परम्परा-भर है। मुक्तिबोध की ऊबड़-खाबड़, दुरूह और कष्टसाध्य भाषा तलाश की भाषा है, साहित्य की समकालीन जटिलताओं और अन्तर्विरोधों को किसी संगत समायोजन में गूँथने-देखने की भाषा है। नगेन्द्र की भाषा आत्मतुष्ट सिद्धि की भाषा है लेकिन ऐसी सिद्धि की तह में कुछ प्रसंगहीन सरलीकरण हैं। वह तनावहीन भाषा है।

नए साहित्य के रहते स्वयं भाषा के बारे में कुछ बुनियादी धारणाएँ बदली हैं। रचना-प्रक्रिया पर जो बहस हमारे यहाँ हुई उससे कम-से-कम एक बात साफ़ देख सकने की ओर हम प्रवृत्त हुए और वह यह कि भाषा एक माध्यम-मात्र नहीं है। वह अनुभव को सम्प्रेषित-भर नहीं करती बल्कि स्वयं रचनात्मक अनुभूति का अंग है। इस बात का सीधा मतलब है कि अब तक तथ्य और शिल्प, अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच जो मोटा-मोटा-सा विभाजन हम करते आए थे वह बदल गया है, बल्कि निहित द्वैत रचनात्मक सत्ता के लिए अप्रासंगिक होने लगा। नए लेखक के लिए, इसलिए, भाषा के प्रति नई जागरूकता और चिन्ता उस पूरे संसार के प्रति नई जागरूकता और चिन्ता का पर्याय हो गई जिसमें कि वह रहने को बाध्य है। लेकिन जो पुराने ढर्रे से सोचने को विवश थे उनके दिमाग में कथ्य और शिल्प वाला पुराना द्वैत बना रहा और उनके लिए नया साहित्य बड़ी आसानी से शिल्पवादी हो गया। यह बताना ज़रूरी नहीं कि ऐसी आलोचना प्रसंगहीन हो गई। उसके औज़ार पुराने थे और उनकी काट से वास्तविक रचनाओं में कोई उत्तेजक चमक नहीं उजागर हो सकती थी। जैसे नए लेखक ने कई क्षेत्रों और अनुशासनों की धाराएँ लेकर अपने समय की मानवीय स्थिति को परिभाषित करने के लिए एक नई भाषा की तलाश की, नए आलोचक ने भी एक समकालीन रचना को दूसरी समकालीन रचना से, इतिहास से, समकालीन जीवन, राजनीतिक-सामाजिक स्थिति से जोड़ने की कोशिश की। ज़रूरी नहीं कि यह कोशिश हर बार कामयाब हुई हो, पर जब हुई तब उसने पाठक के साथ वास्तविक रचनाओं का सम्बन्ध बदल दिया, गहरा और सार्थक किया, और इसलिए अपने समय में अपनी इस ख़ास दुनिया में मानवीय होने के अनुभव और समझ को आगे बढ़ाया। ऐसे आलोचकों में से दो का नाम लेना काफ़ी है : विजयदेवनारायण साही और नामवर सिंह जिन्होंने साही का अधूरा लेख 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' पढ़ी है उनके लिए छायावाद से लेकर अज्ञेय तक की कविता एक-दूसरे से और तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थिति से एक नए-ताजे और सार्थक तारतम्य में जुड़ जाती है। उस लेख के पहले मुझे उत्तर छायावादी कवियों—बच्चन, भगवतीचरण वर्मा और नरेन्द्र शर्मा का काव्य कभी महत्त्वपूर्ण नहीं लगा था। अपने एक दूसरे लेख में शमशेर की कविता की जो सूक्ष्म पड़ताल-साही ने की है वह उस कविता के अर्थ और महत्त्व को ही उजागर नहीं करती बल्कि ऐसा करते नए कवि के कुछ बुनियादी अन्तर्विरोधों को नाटकीय, पर कविता को समृद्ध करने वाले तनावों के रूप में स्पष्ट भी करती है। शमशेर की कविताओं से हमारा सम्बन्ध नई विकलता पाता है, अक्सर रोचक ढंग से बदल जाता है। इसी तरह अगर हम नामवर सिंह के लेखों के बाद निर्मल वर्मा, केदारनाथ सिंह या पंत की रचनाओं को पढ़ें तो उनका आस्वादन ही अलग नहीं होगा बल्कि प्रीतिकर ढंग से उनसे हमारा सारा सम्बन्ध ही एक ऐसे धरातल पर हो जाएगा जो गहरा है और विस्तृत भी और जिसमें सपाटपन नहीं, रचनात्मक उत्तेजना-भरी जटिलताएँ हैं और ऐसी जटिलताएँ जो हमें अपने समय के आदमी के हालत को देखने-समझने की जीवन्त दृष्टि और जागरूकता रखने और विकसित करने के लिए बाध्य करती हैं। रचना के सामाजिक अभिप्राय या निहितार्थों और उसकी आन्तरिक सत्ता को एक साथ और अनिवार्य सम्बन्ध में देखने की क्षमता ने ही इन दोनों आलोचकों को उसका जीवन्त मुहावरा दिया है और उनके आलोचनात्मक लेखक को रचनात्मक उजास।

ध्यान से देखा जाए तो ऐसी भाषा और उसे समृद्ध करने वाली धारणाओं के विकास में नये लेखक का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसने अगर अपनी रचना और मूल्य-दृष्टि की सफाई दी है तो रचनाओं की ठोस आलोचना भी की है। इस मामले में पहल कवियों ने की। नये काव्यशास्त्र की परिभाषा और विकास-विस्तार करने की कोशिश, यह एक दिलचस्प बात है, अज्ञेय और मुक्तिबोध जैसे कवियों ने की,

न कि 'रससिद्ध' पण्डित आलोचकों ने। कुँवरनारायण, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, लक्ष्मीकांत वर्मा, मलयज आदि कवि—आलोचकों की एक मूल्यवान परम्परा है। अज्ञेय ने नई साहित्य-दृष्टि समझाने का प्रयत्न किया और साहित्य के इतिहास और परम्परा के प्रति एक नई दृष्टि भी विकसित की। यह ठीक है कि नये कवियों की काफ़ी-सी आलोचना नये लेखन की वकालत है। पर इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसा करते हुए भी नये लेखक ने कई उपयोगी, प्रसंगानुकूल और नये औजार और धारणाएँ दीं। नेमिचन्द्र जैन, नामवर सिंह और देवीशंकर अवस्थी जैसे बाकायदा आलोचकों की आलोचना अगर सार्थक और सक्षम है तो इसका कुछ श्रेय नये लेखकों द्वारा बनाये गए आलोचनात्मक माहौल को भी है। इन आलोचकों की भाषा में रचनाओं की व्याख्या और उन्हें व्यापक संदर्भ से जोड़कर उसके महत्त्व को गहरा करने और इस तरह अनुभव की सार्थक प्रामाणिकता की पड़ताल ठोस ढंग से करने की परिपक्व शुरुआत हुई है। उनकी आलोचना सिर्फ साहित्य के प्रति उनकी चिंता व्यक्त नहीं करती : वह उस समूची संस्कृति की परख भी करती है जो रचनाओं के माध्यम से व्यक्त होती है और जिसे रचनाएँ बनाती हैं और जो इसलिए उनका अनिवार्य संदर्भ भी है। उनके मुहावरे व्यक्तिगत हैं, उनके निर्णय भी अलग हैं : पर उनकी भाषा हमेशा समकालीन तनाव से प्रतिकृत हो रहे ऐसे आदमियों की भाषा है जो साहित्य के प्रति सहज भाव से खुले हैं और जिनकी सच्ची जिज्ञासा आज आदमी की हालत समझने की है। यह नहीं है कि इन आलोचकों के पास पूर्वाग्रह नहीं हैं। पर वे ऐसे पूर्वाग्रह हैं जो समकालीन हैं और ऐसे व्यक्तियों के नहीं हैं जिन्होंने हमेशा के लिए चीज़ों का हल पा लिया है पर जिन्हें हल की तलाश है और जो आज हल पाने की भयंकर कठिनाइयाँ समझते-बूझते हैं। उनके पास व्यवस्थित दृष्टि है, अपना विशिष्ट मूल्यबोध है और सिद्धांत हैं। उनकी पद्धतियाँ भी अलग-अलग हैं। पर वे रचनाओं के सामने विनयशील हैं। वे ऐसे लोग हैं जो अपने औजारों को बारंबार परखते और पैना करते रहते हैं, जिनके सिद्धान्त रचनाओं से साक्षात्कार के समय लचीले हैं और आस्वाद से अभिभूत होते हैं। जिनकी मूल्यदृष्टि रचनाकार की मूल्यदृष्टि से रचनात्मक तनाव की स्थिति में रहती है न कि उस पर अपने थोपने या प्रभुत्व जमाने की कोशिश में। वस्तुनिष्ठ वे उतने ही हैं जितना कि प्रामाणिक आलोचनाओं के लिए ज़रूरी है लेकिन तटस्थ नहीं। समकालीन साहित्य के प्रति वही तटस्थ रह सकता है जो कि अपने आसपास की वास्तविकता से साक्षात्कार के जोखम से और नये संबंधों से बचना चाहता है। नन्ददुलारे वाजपेयी आदि को ऐसी तटस्थता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना पुरानी बात है मगर खुद नये लेखक ने जब इस जोखम से बचना शुरू किया, उसकी आलोचना और भाषा अप्रासंगिक होती गई। अज्ञेय एक ऐसे ही आलोचक हैं जिनकी दिलचस्पी अपने समय के युवालेखन में बहुत कम हो गई है। नतीजा यह है कि उनकी इधर की आलोचना युवा प्रतिभा की अवमानना करती है और वे धीरे-धीरे समकालीन अप्रासंगिकता का स्मारक बनकर रह गए हैं। उनका नया निबंध संग्रह अधिकांशतः आत्ममुग्ध और तनावहीन भाषा में, जो निश्चय ही ऊपर से सूक्ष्म लगे पर है दरअसल सपाट ही। अज्ञेय के समकालिक रचनात्मक प्रयत्न से वह क्षीण संबंध ही नहीं प्रकाशित करता बल्कि उनकी प्रोफेसर-ग्रन्थि को उघार कर सामने रखता है। यह आकस्मिक नहीं है कि बरसों बाद निकली अज्ञेय जैसे लेखक की आलोचना-पुस्तक का नये लेखकों पर किसी तरह का कोई असर नहीं हुआ।

नई आलोचना का एक दूसरा छोर वे युवा लेखक हैं जिनकी रचनाएँ हिंसक और आक्रामक हैं। ज़्यादातर उनका रुख आलोचना-विरोधी है। यह एक समझ में आ सकने वाला, सम्पूर्ण मूल्यों के विरोध का रुख है। लेकिन उसका उपयोग रचनाओं को बेहतर समझ पाने के लिए कर सकना बहुत मुश्किल है। यह विरोध, जैसा कि मसलन कार्ल शैपिरो जैसे अमरीकी कवि-आलोचक के यहाँ है, साहित्य और संस्कृति की गहरी पड़ताल के बाद विकसित हुआ नहीं है, बल्कि ज़्यादातर अपने को गहरा सोचने की जहमत से बचाने के कारण और अपने सार्वजनिक मुखड़े नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने की इच्छा के कारण है। ऐसे लेखकों ने वक्तव्य देना और लेख लिखना बंद नहीं किया है। पर अक्सर उनके वक्तव्य और रचनाओं में कोई सार्थक संबंध नहीं है। कई बार तो दोनों ही आत्मप्रदर्शन के दो असंबद्ध संस्करण-भर हैं। उन्होंने अगर रचनात्मक भाषा की वाचकता को बेहद

धुँधला कर दिया है तो आलोचना की भाषा की वाचकता को भी उन्होंने आघात पहुँचाया है। उनकी याददाश्त भी बेहद कमज़ोर है। उनमें कई कुछ नई स्थापनाओं को ऐसे सामने रखते हैं जैसे वह एकदम उनकी ताजा खोज हो। कुछ दिनों पहले एक ऐसे ही लेखक ने ६० साल के बाद की कहानी की एक विशेषता यह बतलाई थी (वह एक साप्ताहिक में काले-मोटे हरफ़ों में छपी थी) कि रचना का शिल्प "उनके अनुभव में से निकलता, उसके बाहर से नहीं।" इस खोज का अबोध विस्मय लेखक को भले हो जबकि हम सब जानते हैं कि ऐन इसी खोज से २५ बरस पहले 'तार सप्तक' से नये साहित्य की शुरूआत हुई थी। ऐसे युवा लेखकों की संख्या कम नहीं है जो बड़ी संजीदगी से ऐसे सवाल पूछने और जवाब देने में लगे हैं जो पहले अधिक व्यवस्थित और उत्तेजक ढंग से पूछे जा सके; बल्कि यह कहना गलत न होगा कि पिछले पाँच-सात वर्षों की आलोचनात्मक चर्चाओं और बहसों का जायजा लिया जाए तो शायद यह कहना अनुचित न लगेगा कि कुछ ज्वलंत सवालों से कटकर उनका अधिकांश सामान्य आलोचना-बुद्धि और स्तर की गिरावट ही सूचित करता है। युवा लेखकों ने पिछले दिनों जो कुछ लिखा-कहा है उसने हमारी आलोचना को कोई भी नया औजार, कोई नई प्रखरता और उत्तेजना नहीं दी है। उन्होंने ऐसा एक भी नया और तीखा सवाल नहीं पूछा है जो कि साहित्य की और उसके माध्यम से आदमी की आज की हालत को नये ढंग से देखने की ओर हमें ले जाए।

दरअसल पिछले बीस वर्षों में ज़्यादातर आलोचना सिद्धान्त-निरूपण में व्यस्त रही है। अपने कर्तव्य को ईमानदारी से पूरा करने के लिए ज़रूरी है कि आलोचक के पास कुछ सिद्धान्त और धारणाएँ हों। पर आलोचना का अभिप्राय इन सिद्धान्तों की सिद्धि की खोज करना नहीं है। हो सकता है, लगे हाथ वैसा भी हो जाए पर वह आलोचना का बुनियादी लगाव नहीं है। लेकिन अक्सर यह भुला दिया गया है। अक्सर हुआ है कि रचनाओं को उनकी आत्यन्तिकता में पहचानना और उपलब्ध कराना छोड़कर आलोचक उन्हें किसी सिद्धान्त के उदाहरण के रूप में देखता-परखता भर रहा है। धारण तब तक प्रमाणित नहीं हो सकती जब तक वह रचना के, उसके जीवित और नाटकीय संगठन के सामने विनयशील नहीं है। इतना ही काफी नहीं है: सिद्धान्तों या धारणाओं के साथ सम्बद्ध परिभाषाएँ और विधियाँ विकसित होना भी ज़रूरी हैं। ठोस और वास्तविक आलोचना तभी हो सकती है। नये आलोचकों में से बहुत कम ने अपने सिद्धान्त और धारणाओं से सम्बद्ध परिभाषाएँ और विधियाँ खोजने और उन्हें व्यवस्थित-निश्चित करने की कोशिश की है। इसे परिस्थिति का एक दुर्भाग्यपूर्ण अन्तर्विरोध ही मानना चाहिए। ठोस और व्यवस्थित आलोचना के लिए इतने अनुकूल वातावरण में भी इने-गिने आलोचकों की इनी-गिनी पुस्तकें ही हैं, जो ठोस आलोचना प्रस्तुत कर सकी हैं। गजानन माधव मुक्तिबोध की 'कामायनी : एक पुनर्विचार', 'एक साहित्यिक की डायरी', 'नई कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबन्ध', नेमिचन्द्र जैन की 'अधूरे साक्षात्कार', नामवर सिंह की 'कहानी : नई कहानी' और 'इतिहास और आलोचना', पुस्तकें और असंकलित लेख, विजयदेवनारायण साही, कुंवरनारायण आदि के असंकलित लेख, 'विवेक के रंग' से संकलित लेख आदि इस सिलसिले में उल्लेखनीय हैं।

साहित्य में बारबार अराजकता की दुहाई देना पण्डितों का काम है। लेकिन उस आरोप से बचे रहकर इतना तो कहा ही जा सकता है कि समकालीन आलोचना में व्यवस्था कम है। यह नहीं कि औज़ार तैयार और पैने नहीं हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है हमारे पास औज़ार हैं, तीखे-पैने, उपयोगी धारणाएँ हैं: खासी उत्तेजना है। लेकिन इसे अजीब ही कहा जाएगा कि आलोचना की भाषा प्रामाणिक नहीं है: पदों के अभिप्राय स्थिर करने की कोशिश बहुत कम हुई है। नये साहित्य के साथ बहुत सारी नई शब्दावली आई है और प्रचलित शब्दों ने नई अर्थच्छवियाँ पाई हैं। अनुभूति, शिल्प, फार्म, रूप, बिंब, प्रतीक, मूल्य, मूल्यबोध, परिवेश, जटिलता, दुरूहता, सम्वेदना, सन्दर्भ, परिप्रेक्ष्य, मानवीय साक्षात्कार, सार्थकता आदि बीसियों शब्द हैं जो आज की आलोचना की भाषा में बहुतायत से इस्तेमाल होते हैं। पर उनका अर्थ निश्चित नहीं है: वे पारिभाषिक होने का आभास देते हुए वास्तविक उपयोग में बहुतों के यहाँ प्रामाणिक नहीं हैं। मज़े की बात यह है कि ऐसे कुछ शब्दों का इस्तेमाल एक नई रूढ़ि बन गया है: लेखकों के वक्तव्य हों, पुस्तक-समीक्षा हो, कविता हो या कहानी इन रूढ़ियों से छुटकारा नहीं है। छुटकारा पाना ज़रूरी भी नहीं, क्योंकि ये

उपयोगी चिन्तन-रूढ़ियाँ हैं, जिनमें रचनाओं में जो घटता है उसका और समूची मानव-स्थिति का जो रचनाओं को घेरती है उत्कटता से बखान करने की क्षमता है। लेकिन इसके लिए ज़रूरी है कि इन रूढ़ियों को व्यवस्थित और परिभाषित किया जाए। तभी आलोचना सच्चा और दिलचस्प और उत्कट वार्तालाप हो सकती है जो साहित्य और उसके माध्यम से आदमी की हालत की हमारी समझ को आगे बढ़ा और गहरा सकती है। तभी वह साक्षात्कार हो सकती है, वास्तविक रचनाओं से, सच्चे, प्रासंगिक और सही सवालों से। हमारे देश में तेजी से एक उठाईगीर और छद्म संस्कृति विकसित हुई है : उसके रहते सही सवालों की पहचान अपने-आप में एक बड़ी उपलब्धि है। यह पहचान चाहे तो आलोचना हमें दे सकती है।

●

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से एक भेंट

मनोहर श्याम जोशी

एक नक्शे के मुताबिक बसाये गए नगर चंडीगढ़ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी प्राध्यापकीय गरिमा की नाप-तौल के मुताबिक बनी हुई दोमंज़िला 'जी टाइप', कोठी में अपनी पत्नी, दो छोटे पुत्रों और एक कॉकर स्पेनीयल कुत्ते के साथ रहते हैं। कुत्ते की ख़ासियत यह है कि "हिन्दी समझ लेता है नहीं तो आम तौर पर कुत्तों से अंग्रेजी बोलनी पड़ती है।" सारी कोठी ख़ासी व्यक्तित्वहीन है। व्यक्तित्व अगर कहीं से झाँकता दीखता है तो जगह-जगह करीने से सजी किताबों से और यहाँ से वहाँ आते-जाते पानदानों से। जाने क्यों ऐसी प्रतीति होती है कि द्विवेदीजी इस कोठी में नहीं रहते। धोती-कुर्त्ता पहने हुए, कन्धों पर उत्तरीय डाले हुए, हाथ में डंडे और छड़ी के बीच की-सी कोई चीज़ लिए हुए, मुँह में गिलौरी दबाये हुए और बातचीत में अक्सर 'ततः किम्' का प्रयोग करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी चंडीगढ़ के चौखटे में फिट होते हुए नज़र नहीं आते। ऐसा लगता है कि एक छोटा-मोटा ट्रांजिस्टरकृत शान्तिनिकेतन वह अपने साथ लिए घूमते हैं और अक्सर इसी सूक्ष्म शान्तिनिकेतन में अपनी दीर्घकाया सीदी मौला के बताये हुए नुस्खे से समेटे लेते हैं। उनसे बातचीत की हर राह शान्तिनिकेतन की ओर मुड़ी जाती है। द्विवेदीजी ज्योतिषाचार्य, धर्म-शास्त्री, साहित्यकार, सम्पादक, प्राध्यापक, शोधकर्त्ता और चिर-जिज्ञासु सभी कुछ हैं और यह सब कुछ उनकी बातचीत में झलकता रहता है। लेकिन इस का मतलब यह नहीं कि बातचीत में वह ज्यादातर गुरू-गम्भीर रहते हों। उनसे बातचीत करते हुए अक्सर ऐसा आभास होता है कि मन ही मन वे अपने गम्भीर वचनों पर हँस रहे हैं। जाहिरा तौर पर ही अक्सर ठहाका मारते हैं। जो एक क्षण पहले तक आचार्यों का आचार्य नज़र आ रहा होता है वही सहसा पाठशाला का सबसे नटखट छात्र मालूम होने लगता है। जिसके चेहरे पर सिंह का-सा गरिमामय क्रोध धधक रहा होता है उसके चेहरे पर सहसा चेशायर कैट की ग्रिन विराजमान हो जाती है। द्विवेदीजी का कहना है कि जो हँस नहीं सकता वह मनुष्य हो नहीं सकता। बातचीत में वह संस्कृत श्लोकों का इफ़रात से प्रयोग करते हैं क्योंकि 'क्या करें, तमाम अनुभव लिपिवद्ध पड़ा है?' अगर श्लोकों से आप आतंकित होने लगें तो वह 'क्वचित् फुक्का क्वचित थुक्का क्वचित नासाग्रसेवितम्—' और 'कपाले लिखितम् नास्ति कः श्याला किम्—' जैसे श्लोक गढ़कर आप के आतंक को आह्लाद में उड़ा देते हैं। अगर श्लोकों से आप की संस्कृत के मामले में सिफर आधुनिकता को किंचित कष्ट होने लगे—जैसा कि मुझे होने लगा था तो द्विवेदीजी हँसकर कहते हैं "संस्कृत के तोता-रटंत विद्यार्थी से बात करोगे तो बोर करेगा, श्लोक ठोकेगा। 'चारुचन्द्र लेख' में मैंने एक पात्र दिया है जो श्लोक ही बोलता है।" संस्कृत और प्राकृत के श्लोकों, गुरुदेव के गानों और गोरखनाथ आदि सिद्ध जनों की वाणियों-वचनों के उदार प्रयोग के बावजूद द्विवेदीजी की बातचीत पंडिताऊ नहीं होती है बल्कि यह कहना होगा कि वह आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक सिद्ध होती है, और अगर उसमें से उद्धरण काट दिये जाएँ—जैसा कि यहाँ संस्कृत, प्राकृत और बँगला में मेरी गति न होने के कारण अनिवार्य हो गया है—तो ऐसा प्रतीत होता है कि साठवर्षीय आचार्य, साठोत्तरी पीढ़ी की ही बात कह रहे हैं अलबत्ता कुछ भिन्न मुहावरे में। द्विवेदीजी की बोलने की खास अदा इस अनुभूति को कुछ और गहरा बना देती है। वह मुँह ही मुँह कुछ बुदबुदाते हुए, निहायत निरीह भाव से सिर हिलाते और कन्धे बिचकाते हुए और जो है सो क्या नाम की माला जपते-जपाते हुए शुरू होते हैं। फिर जाने कब वाणी ओज के अश्व पर सवार हो जाती है, जाने कौन-सा देवता अंगों में उतर आता है, पद्ममुद्राबद्ध हथेली हवा में

सौ-सौ चक्करदार वार करने लगती है, आचार्यजी के शब्दों में 'बोटी-बोटी फड़क उठती है,' 'ललित लवंगलता परिशीलन…' जैसी पंक्तियाँ भी आचार्य के ओजमुख से वीर रस की चीज़ें मालूम होने लगती हैं, किन्हीं अदृश्य तालवाद्यों पर करारी चोटें पड़ने का भास होता है और आप ग़नीमत समझते हैं कि आचार्यजी आसन से उठकर ताण्डव नहीं करने लगे हैं। यह चरमोत्कर्ष और फिर सहसा कोई चुटकुला, कोई लगभग अकारण ठहाका या कोई 'और छोड़ो इन बातों में कोई सार नहीं है' वाली मुद्रा—अधमोपकर्ष। अगर श्रद्धास्पद और हास्यास्पद के सह-अस्तित्व का बोध आधुनिकता का एक गुण है तो आचार्यजी का अन्दाजे बयाँ आधुनिक कहा जाएगा।

साहित्यिक बातचीत में द्विवेदीजी को रस अब भी आता है लेकिन साहित्य-सृजन में अब "वैसी प्रवृत्ति नहीं है।" लिखने के सम्बन्ध में कोई नियम कभी रखा नहीं। "कभी वर्षों तक कुछ नहीं लिख पाता हूँ और कभी मौज आती है तो एक ही रौ में लिखता चला जाता हूँ। कृति की गर्भावस्था मेरे यहाँ प्राय: लम्बी चलती है। वह था न अंग्रेजी में लतीफ़ा 'यू हैव नाट रिटिन ऐनीथिंग क्वाइट सम टाइम यू मस्ट हैव कंसीव्ड समथिंग रियेली बिग।" इधर कुछ नहीं लिख पाया हूँ तो ऐसे ही सन्तोष कर रहा हूँ लेकिन आशंकित भी हूँ कि यह, 'रियेली बिग थिंग' कहीं मांस्टर न हो, लिखने का कोई निश्चित समय नहीं है यों आम तौर से काफी रात गए या सुबह तड़के लिखने-पढ़ने में ज़्यादा सुविधा मालूम होती है। नींद की कमी दिन में झपकी लेकर पूरी की जाती है। "जीवन में और किसी नियम के पालन का आग्रह रहा हो या न रहा हो दिन में भात खाकर पसर जाने की स्तुत्य परम्परा का दृढ़ता से निर्वाह किया है।" द्विवेदीजी दुनियादारी से दूर रहना चाहते हैं लेकिन दुनिया उन्हें घेरे रहती है। काफी समय ऐसे आश्वासन देने की कष्टप्रद कोशिशों में बीतता है, जो झूठे न हों। विश्वविद्यालय में टैगोर प्रोफ़ेसर की हैसियत से उनके ज़िम्मे मुख्यत: शोध छात्रों के मार्गदर्शन का ही काम है लेकिन एम० ए० के छात्र भी जब चाहें उन्हें किसी ख़ास विषय पर प्रकाश डालने का अनुरोध कर सकते हैं। इस तरह के 'स्पेशल पीरिएड' में द्विवेदीजी छात्रों के अनुसार "एक साथ इतना कुछ बता जाते हैं कि बुद्धि चकरा जाती है लेकिन आधा भी उसमें से समझ लो, याद कर लो तो 'फर्स्ट क्लास मार्क्स' कहीं नहीं गये। द्विवेदीजी को अपने छात्रों से बहुत प्रेम है और छात्रों के लिए 'आचार्यजी का घर अपना घर है।' इस हद तक कि उन में से एक को मैं काफी समय तक आचार्यजी का मँझला बेटा समझे रहा। द्विवेदीजी इन्टरव्यू को 'व्यर्थ की बात' समझते हैं। 'आपको लिखने की प्रेरणा कैसे मिलती है', 'आपकी रचना-प्रक्रिया क्या है' आदि सवाल उन्हें बहुत ही बेतुके मालूम होते हैं और वे चाहते हैं कि जिस तरह रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार, 'आपको कविता लिखने की प्रेरणा कैसे मिलती है' के जवाब में लिखवा दिया था कि 'सैनेटोजन नामक टानिक पीने से' उसी तरह वह भी इन्टरव्यू वालों के लिए अन्तिम रूप से यह वक्तव्य दे दें कि मेरे साहित्य का जो भी रहस्य है सो बनारसी पान में है। द्विवेदीजी को 'आज की साहित्य-चर्चा कुछ समझ में नहीं आती। हर रचना को वक्तव्य की लग्गी लाकर खड़ा करना ज़रूरी हो गया है। अगर रचना में कह गए हो तो ठीक है नहीं कह सके तो अगली बार कहना। ऐसी उतावली ही क्या है?' रचना-प्रक्रिया की चर्चा पढ़कर द्विवेदीजी को ऐसा लगता है 'कि साहित्य कोई रोग है और साहित्यकार डाक्टर।' द्विवेदीजी उस नए पांडित्य का विरोध करना चाहते हैं जो साहित्य को 'जादू की जगह पहेली का दर्जा दे रहा है' और जो समीक्षा के नाम पर अपने अधूरे ज्ञान और अटकलों की नुमाइश लगा रहा है। इस प्रसंग में उन्होंने बताया कि एक छात्र ने पी-एच० डी० की थिसीस में लिख दिया कि 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' पर थैकरे का प्रभाव है और एक सज्जन ने उसमें लेखक के 'छिपकर बातें सुनने के काम्लैक्स का अकाट्य प्रमाण पाया।'

द्विवेदीजी के सामने नोटबुक खोलकर प्रश्नोत्तर करना उनके साहित्यकार को विदा देना और उनके अध्यापक को आमन्त्रित करना है। मेरी उनसे जो भी दिलचस्प बात-चीत हुई वह अनौपचारिक ढंग से हुई। जहाँ भी नोट-बुक लेकर बैठा वहीं नोट्स तैयार हो गए। चंडीगढ़ जाते हुए रास्ते में मैंने जो 'गतिशील चिन्तन' किया था वह जहाँ एक ओर हम—नौजवानों के लिए पिछले भारत के परिचायक के रूप में द्विवेदीजी के साहित्य की महत्ता का बोध करा सका वहाँ समसामयिक सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न भी लगा गया था। मैंने ज्यादातर बातचीत इसी द्वन्द्व को ध्यान में रखकर की। न तो कोई टेपरिकार्डर था और न मैं

आशुलिपिक ही था। इसलिए बातचीत का पूरा ब्यौरा कहीं दर्ज हो नहीं सका। याददाश्त से जो कुछ लिखा है उसमें भूल-चूक होने की गुंजाइश है। खासकर इसलिए भी कि मैं संस्कृत नहीं जानता और न ही हिन्दी पर मुझे वैसा अधिकार है, जैसा कि आचार्यजी को है।

इस भेंट-वार्ता के लिए मैं कोई सवाल करता इससे पहले ही द्विवेदीजी ने खुद एक सवाल कर डाला, "इंटरव्यू मुझसे क्यों ? और किस उपलक्ष्य में ?"

"इसलिए कि आप वरिष्ठ लेखक-आलोचक हैं, अन्यतम विद्वान हैं। उपलक्ष्य : आपकी षष्ठिपूर्ति।"

"यह हिन्दी की दरिद्रता का सूचक है। वह श्लोक है न कि जहाँ कोई वृक्ष नहीं होता वहाँ एरंड ही महिमावान मान लिया जाता है। मुझे प्रसन्नता तो तब होती जब नई पीढ़ी प्राच्य और पाश्चात्य दोनों विधाओं पर समान रूप से अधिकार रखने वाले एक-से-एक बढ़कर कई धुरन्धर विद्वान इस देश और इस भाषा को देती। आज भी हम खूसटों की पूछ हो रही है तो यह चिन्ता का ही विषय है। और यह षष्ठिपूर्ति के उपलक्ष्य की एक ही रही। यह तो सोचा होता कि सठिया गया होगा !"

"हमने तो यही सोचा कि आप बहुत कुछ बता सकते हैं।"

"अब क्या कहें। अगर बताने लायक कुछ रहा होगा तो अपने निबंधों में निवेदित कर चुका होऊँगा। अगर बताने लायक कुछ और बचा होगा तो उसे लिखकर सुव्यवस्थित रूप से बताना चाहूँगा—अगर फुर्सत मिले, और तबीयत उधर जाए। और फिर मुझसे ही क्यों पूछें आप ? यह पूछने और पूजने वाला मान-सम्मान मेरी समझ में नहीं आता। पूछ रहे हैं, पूज रहे हैं मगर क्या कहें, करे अपने मन की जा रहे हैं। वही दो-चार शाकाहारी बूढ़े साहित्य-संस्कृति के नाम पर हर कहीं अलंकार बनने के लिए आमन्त्रित कर लिए जा रहे हैं। मैं तो इस सबसे थक गया हूँ। अगर मुझमें कुछ है तो मुझे मेरा एकान्त दो कि मैं उस कुछ को उपयुक्त शब्द दे सकूं।"

"इधर आप क्या लिख रहे हैं ?"

"यह पूछिए कि इधर क्या-क्या नहीं लिख पा रहे हैं। एक तो 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' अंग्रेजी में लिखना था साहित्य अकादमी के लिए। सो अंग्रेजी पर वश नहीं चलता, न मेरा, न मेरी पहचान के अंग्रेजी के विद्वानों का। इसकी सहायता से लिखो तो उनसे यह सुनने को मिले कि पण्डितजी भ्रष्ट अंग्रेजी लिखा रहे हैं, उसकी सहायता से लिखो तो इससे यह सुनने को मिले कि पण्डितजी अंग्रेजी बहुत ग़लत-सलत बता रहे हैं आपको। फिर मैंने सोचा ग़लत अंग्रेजी ही लिखनी है तो खुद ही लिखो। अब गाड़ी कुछ चल निकली है, रीतिकाल तक लिख डाला है। एक उपन्यास लिखना शुरू किया था 'पुनर्नवा'। वह आदि में ही अन्त पर पहुँचने लगा। उसे छोड़ दिया है। लेकिन कालिदास का एक गप बनाने का मोह मन में बराबर बना हुआ है। अपने से कह रहा हूँ कि यहाँ-वहाँ से जोड़-जाड़कर एक गप बनाओ जो इतिहास-सम्मत भी हो, काव्य-सम्मत भी हो और जो सहृदय पाठक को रस भी दे सके।"

"आप अपने उपन्यासों को गप मानते हैं ?"

"शुद्ध गप्प ! गप ही गल्प है। सूखा रिसर्च लिखना पड़ता है, क्या करें, रोज़गार यही है। लेकिन लिखते हुए कलम कसमसाती रहती है। अपने लेखन को भावप्रवण होने से बचाना दुष्कर प्रतीत होने लगता है, किन्तु किसी तरह बचाना ही पड़ता है नहीं तो वे शोध-छात्र जिन्हें हम भावप्रवण न होने की शिक्षा देते रहते हैं, यही कहें कि 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे।' जब मैं शान्तिनिकेतन में था तो ऐसा आदेश हुआ कि प्राचीन भारत के कला-विनोद के विषय में कोई ऐसी पुस्तक लिखो जो दर्शन-चिन्तन से बोझिल न हो, सरस और सुग्राह्य हो। मैंने पुस्तक लिखी जो बाद में प्रकाशित भी हुई। लेकिन लिखते हुए रह-रहकर मन में यह कचट उठती थी कि सूखा हो गया। आखिर शोध-प्रबन्ध सरस हो तो कैसे और कितना ? इसलिए सोचा कि अब इसी विषय में एक गप बनाओ। यही गप 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के नाम से प्रकाशित हुई। इसी प्रकार जब 'नाथ सम्प्रदाय' के बारे में शोध कार्य किया तो उसकी ऊब भगाने के लिए गप बनाई—'चारुचन्द्र लेख।' मेहनत से पाया-दिया वह शोध और मौज में जो पाया-दिया वह साहित्य। पण्डिताऊ शब्दावली पसन्द करते हो तो कहूँ कि मेरे लिए ज्ञान को अधिक उपभोग्य बनाना ही साहित्य है।

"यह कालिदास वाली गप बनाने में दिक्कत क्यों पेश आ रही है ?"

"चूक गए हैं तो यही मानिए कि चुक गए हैं। खत्तम हो

गए सचमुच। शान्तिनिकेतन में एक बड़े सन्त पुरुष थे, किसी व्यक्ति या वस्तु की बुराई करना जानते ही नहीं थे। हमने एक दिन उन्हें चुनकर सबसे रद्दी और खट्टा आम खिलाया तो जैसे-तैसे खा ही नहीं गए बल्कि झूम-झूमकर स्वाद के गुण भी गाते रहे, 'कैतो दिव्व, कोथाय पेलेन ?'' इन्ही सन्त पुरुष को गुरुदेव ने अपने अन्तिम दिनों में एक रचना सुनाई। साधारण थी मगर मुग्ध भाव से सुनते रहे। जब पूछा कि कैसी लगी ? तो बोले, तेजोमय। जब पूछा कि कैसा तेज ? तो चक्कर में पड़ गए। फिर बोले, 'इसमें ऐसा तेज है, ऐसा तेज है, जैसा-जैसा···जैसा गैरिकधारिणी संन्यासिनी में होता है।'' तो भई वैसा ही तेज अब मुझ में बच रहा है। हम और हमारे लगभग सभी समकालीन गैरिकधारिणी संन्यासिनी के होकर रह गए हैं। और आप लोगों को तो यह और भी जल्दी ग्रसित करती दीखती है। उत्साह नहीं है लेखन में। हिन्दी साहित्य वृद्धों और अकाल-वृद्धों का साहित्य बनता जा रहा है।''

''उत्साह के अभाव में भी आप अकादमी के लिए हिन्दी साहित्य का इतिहास तो लिख ही पा रहे हैं।''

''हाँ, लिख ही रहा हूँ। क्योंकि टालने की भी एक सीमा होती है और वह सीमा पार हो चुकी है। ब्राह्मण भी आप जानते हैं चार तरह के होते हैं—ब्राह्मण ब्राह्मण, क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य ब्राह्मण और शूद्र ब्राह्मण। 'ब्राह्मण ब्राह्मण' निर्लिप्त साधना करता है, सनातन महत्त्व का साहित्य रचता है। 'क्षत्रिय ब्राह्मण' उत्साही और संघर्षप्रवण होता है, सामयिक महत्व की चीज़ें लिखता है, उच्चकोटि का पत्रकार बनता है। 'वैश्य ब्राह्मण' नोट्स लिखता है, प्रचलित फ़ैशन को धनोपार्जन का साधन बनाता है, 'पब्लिसिटी' और 'पब्लिक रिलेशन्ज़' में जाता है—इन ब्राह्मणों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। और 'शूद्र ब्राह्मण' आदेश होने पर और प्रताड़ना मिलने पर ही लिखता है। मैं इसी तरह के ब्राह्मणों में से हूँ।''

''आपने प्राचीन भारत के सन्दर्भ में ही उपन्यास लिखे हैं। क्या वर्तमान भारत के सन्दर्भ में उपन्यास लिखने का विचार कभी मन में आया ही नहीं ?''

''विचार तो एक-से-एक आते हैं। मगर अपनी सीमा जानता हूँ। इकतारे से एक ही स्वर निकल सकता है। जन्म-भर पण्डित रहे अब क्या खाक़ माडर्न बनेंगे।''

''इसका कारण यह तो नहीं कि समसामयिक स्थिति इतनी उलझी हुई है कि आपको उसे साहित्य की विषयवस्तु बनाने का उत्साह नहीं होता ?''

''ऐसी बात नहीं। उलझाना-सुलझाना तो हम पण्डितों का खानदानी पेशा है। बस यही कि समसामयिक स्थिति को उपन्यास में आँकने के लिए मैं अपने को रुचि, वृत्ति, शैली हर दृष्टि से अक्षम मानता हूँ और उत्साह की बात जो आपने की तो उत्साह मुझे किसी भी विषय के लिए नहीं होता—प्राचीन विषय के लिए भी नहीं। आप कहेंगे, बार-बार वर्ण-विभाजन वाली बात ला रहा हूँ, लेकिन साधक भी हमारे यहाँ तीन प्रकार से गिनाये गए हैं—पशु, वीर और दिव्य। गुरु कारणवार्य पिलाकर साधक की अन्तश्चेतना के दर्शन कर लेता था और उसी के अनुसार उसका वर्ग निर्धारित कर देता था। कल्पनाहीन और कायर को 'पशु' कहते थे और उसके लिए रूढ़िबद्ध और सतही साधना का निर्देश होता था। कल्पनाप्रवण उत्साही को 'वीर' कहते थे और उसके लिए कष्टसाध्य गहन साधना का मार्ग निश्चित किया जाता था। दिव्य तो खैर दिव्य ही होता था। उसके लिए न कोई विधि-विधान होता था और न कोई निषेध। मैं पशु से तो कुछ ऊपर हूँ लेकिन वीर से काफ़ी नीचे। बीच में अटका हुआ हूँ। यह बात अलग है कि आजकल इस त्रिशंकु अवस्था को कई लोग भ्रमवश दिव्य अवस्था मान बैठते हैं। और मनवा लेते हैं।''

''आपको इतिहास से इतना प्रेम क्यों है। क्या यह भी एक तरह का पलायन नहीं ?''

''इतिहास मनुष्य की तीसरी आँख है। एक गुजराती छात्र था शान्तिनिकेतन में, ज़रा सिरफिरा-सा। एक दिन पूछ बैठा कि अगर ईश्वर को बुद्धि है तो उसने मनुष्य को दोनों आँखें सामने क्यों दीं ? एक पीछे क्यों नहीं दे दी। इसका एक जवाब फौरन यह सूझा कि ईश्वर नहीं चाहता था कि मनुष्य पीछे की ओर देखे। लेकिन बाद में सोचा कि ईश्वर ने मनुष्य को पीछे की ओर देख सकने वाला नेत्र दिया है और वह है उसका इतिहास-बोध। इतिहास-प्रेम की बात मैं नहीं जानता मगर इतिहास-बोध को पलायन समझना आधुनिकता नहीं, आधुनिकता-विरोध है। आधुनिकता की तीन शर्तें हैं—एक इतिहास-बोध, दूसरी इहलोक में ही कल्याण होने की आस्था और तीसरी व्यक्तिगत कल्याण की

जगह सामूहिक कल्याण की एषणा। मैं आग्रहपूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि जो इतिहास को स्वीकार न करे वह आधुनिक नहीं और जो चैतन्य को न माने वह इतिहास नहीं।''

''चलिए, पलायन नहीं, शवसाधना तो यह ज़रूर है।''

''निश्चय ही है। कभी फ़ुर्सत से आइए तो आपको शव-साधना के मंत्र-तन्त्र सभी विस्तार से समझा दूंगा। इस समय इतना ही कि तांत्रिक ऐसे आदमी का शव चुनते हैं जो कुलीन हो, तुरन्त मरा हो, प्रसन्नचित्त मरा हो, वीरगति को प्राप्त हुआ हो। इस शव को औंधे मुँह लिटाकर साधक मन्त्र-तन्त्र करता है। जब शव शिव हो जाता है तो उसका मुँह उलट जाता है और वह पूछता है, बोल क्या चाहता है। भीरु किस्म का साधक यह सुनते ही सिट्टी-पिट्टी भूलकर खुद शव हो जाता है। उससे ऊँचे दर्जे का साधक स्थिरचित्त बना रह पाता है। तब शव नाना प्रकार की छोटी-मोटी सिद्धियों के प्रलोभन देता जाता है। और मंझोले दर्जे के साधक का मन यहीं डोल जाता है। और वह मामूली सिद्धि पाकर अधूरा सिद्ध बन पाता है। गंभीर साधक डटा रहता है, प्रलोभनों को ठुकराता जाता है और स्वयं शिवस्वरूप बन जाता है। सफलता, चरितार्थता, 'फ़ुलफ़िलमेंट' का अधिकारी वही होता है। इतिहास कुलीन शव है। उसे औंधे मुँह लिटाकर हम-जैसे कई साधना करते हैं। कई मुँह उलटने पर घबरा जाते हैं और शव के ही होकर रह जाते हैं। बैठे 'गुप्ता पीरियड' में तो बस वहीं बैठे रह गए। नावें नहीं खुलती। कई घबराते तो नहीं लेकिन प्रलोभनों से विचलित हो 'फ़ियेट' लो, 'फ्रिज़' लो, इस कमेटी की अध्यक्षता करके भत्ता कमाओ, उस डेलिगेशन के साथ विदेश-भ्रमण का सुख लूटो। बिरले ही ऐसे होते हैं जो प्रलोभनों से विमुख होकर उस शक्ति से साक्षात कर पाते हैं जो वर्तमान को अधिक सुघर बनाने में और भविष्य के लिए सही मार्ग सुझाने में सहायक होती है। मैं अपनी गणना इतिहास-शव के उन अधूरे साधकों में करता हूँ जिन्हें प्रलोभनों ने पथभ्रष्ट कर दिया।''

''लेकिन इतिहास-बोध के अर्थ वर्तमान की अवज्ञा क्यों हो।''

''इसी प्रकार मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि वर्तमान के अर्थ इतिहास-बोध की अवज्ञा क्यों हो? आखिर वर्तमान क्या है? प्रत्यक्ष जो है सो कितना कम है और कितनी जल्दी प्रस्तुत अप्रस्तुत हुआ जाता है। या अतीत है, या भविष्य है, या स्मृतियाँ हैं, या स्वप्न हैं। वास्तविक वर्तमान शून्य नहीं है तो क्या है? आप मुझे दकियानूस कह लीजिए, पोंगापंथी समझ लीजिए मगर मैं वर्तमान की, समसामयिकता की कोई विशिष्ट महत्ता नहीं देखता।''

''आपको साहित्य में समसामयिकता से कोई आपत्ति है?''

''समसामयिकता से तो नहीं है, समसामयिकता के दुराग्रह से अवश्य है। यही क्षण, यही गोचर सत्य ही सब-कुछ है, ऐसा मानना उतनी ही प्रवंचना है जितनी कि अगोचर को ही, परलोक को ही सब-कुछ मानकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना। कदाचित् मैं पुराने ख़यालों का हूँ, इसलिए संश्लेषण की दृष्टि रही है। मुझे वैज्ञानिक दृष्टि और ईश्वर-भक्ति में, सामयिक और सनातन में, यथार्थ और आदर्श में कोई परस्पर-विरोध नज़र नहीं आता। मैं मिलाना चाहता हूँ और आप बाँटने वाली रेखाएँ ही खींचते रहना चाहते हैं। मैं प्रगति के विरुद्ध नहीं हूँ, किन्तु प्रगति के अहंकार के विरुद्ध निश्चय ही हूँ। यह अहंकार प्रगतिशील दृष्टि को एकाधिक अर्थ में प्रगतिगामी और बर्बर बना डालता है। कैसी प्रगतिशीलता है यह जो पहले वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के लिए, सामूहिक कल्याण के लिए, और धर्म के उन्मूलन के लिए संघर्ष करती है और फिर रोती रहती है कि 'सेक्युलर इंडस्ट्रियल वैल्फ़ेयर स्टेट' में इन्सान नहीं रहा, निरा मशीन का पुर्ज़ा बनकर रह गया है। और इससे आगे वह यह मानने तक को तैयार रहती है कि भौतिक प्रगति ही अध्यात्मिक दुर्गति लाती है। एक दुराग्रह से दूसरे दुराग्रह तक, एक अति से दूसरी अति तक यही अहंकार की प्रगति। मैं समझता हूँ कि औद्योगिक विकास और आध्यात्मिक उन्नति दोनों साथ-साथ हो सकते हैं, होने चाहिए। नहीं होंगे तो मानवता का कोई भविष्य नहीं है।''

''आप लोगों का यही समन्वयवाद, मानवधर्मवाद, विश्वबन्धुत्ववाद तो धराशायी हो चुका है। उसकी विफलता ने समसामयिक क्षोभ को जन्म दिया है।''

''मैं मानता हूँ। किन्तु धराशायी होने का अर्थ यह तो नहीं कि वह मर गया है। और अगर आप यह मानते हैं कि मानवधर्म मर गया है तो यह निश्चय ही समझिए कि देर-

सबेर मानवता भी समाप्त हो जाएगी। यह महाविनाशकारी अस्त्रों का युग है जिसे आप यूटोपियन बात समझते हैं, अगर उसी से सर्वसंहार रोकना सम्भव हुआ तो मानवता उसे अपना ही लेगी।''

''कैसे नए धर्म का उदय होगा ?''

''विज्ञान, धर्म और परमेश्वर की संगति लगाई जाएगी। संगति लगाना आप कदाचित् पंडितों का फितूर समझते हों, किन्तु इस परम संगति के अभाव में बीसवीं सदी की मानवता की कोई गति नहीं। आप लोग तो अपने को 'रियेलिस्ट' और 'रैशनेलिस्ट' मानते हैं, फिर आप यह कैसे मानते हैं कि मानवता आत्मघात करेगी ? कदाचित् आपको 'रीज़न' में भी पूरी आस्था नहीं है। अगर होती तो आप चैतन्य से इन्कार नहीं कर पाते। वही योगकारक है। वही भूत को भविष्य से जोड़ता है। वही पद और पदार्थ को मिलाता है। अणुशक्ति सदा-सदा से थी, लेकिन हमारे मानस से उसका योग नहीं हुआ था। हमारे चैतन्य का विकास हुआ तो उससे प्रत्यय हुआ। आप 'रैशन-लिस्ट' हैं तो आपको चैतन्य के विकास में आस्था क्यों नहीं है ? आपको अपनी प्रगति में विश्वास क्यों नहीं है ? और आप वहाँ जाते हुए क्यों डरते हैं जहाँ मेधा की हार होने लगती है, सतही 'रीज़न' फेल हो जाता है। आप क्यों भूल जाते हैं कि जिसे हम भौतिक सत्य कहते हैं वह भी मात्र मानव-सत्य है। भाषा, गणित, ये सब तथ्यों के नहीं, प्रतीकों के खेल हैं। आप भूल जाते हैं कि थीसिस कोई नहीं है जो है सो हाइपोथीसिस है। आज जिसे थीसिस समझे हैं कल चैतन्य का विकास उसे हाइपोथीसिस ठहरा देगा। किसी न्यूटन के सत्य को किसी आइंस्टाइन का सत्य, मिथ्या सिद्ध कर देगा।''

''लेकिन न्यूटन के सत्य की भी स्थूल जगत् में एक सत्ता है। जिसे आप मानव-सत्य कहते हैं उसी से कई मानव-व्यापार चलते हैं। उसे झुठलाएँ क्यों ?''

उसे झुठलाने की बात कौन कहता है ? उसकी उप-योगिता से कोई इनकार नहीं है, लेकिन उसकी सीमाओं का, उसकी परिवर्तनशीलता का स्वीकार भी साथ में क्यों न हो ? भिन्न-भिन्न सन्दर्भों के, भिन्न-भिन्न देशकाल के सत्यों को गड्ड-मड्ड कर देने से अथवा उनमें से किसी एक को अन्तिम सत्य मान लेने से गड़बड़ होती है। मामूली उदाहरण लीजिए, कहीं औसत व्यक्ति की धारणा से काम चल सकता है, लेकिन कहीं व्यक्ति-विशेष का अभिज्ञान आवश्यक हो जाता है। आप दोनों जगह एक मानदण्ड का, एक सत्य का उपयोग करना चाहते हैं और नहीं कर पाते हैं तो खीजकर इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि समूह और व्यक्ति में बुनि-यादी वैर है। यह विचित्र 'रीज़न' है जो 'इर्रेशनल' बनाता है, यह विचित्र दृष्टि है जो अन्धा बनाकर छोड़ती है। और यह यथार्थवाद का आग्रह भी मुझे अद्भुत ही प्रतीत होता है। आप आदर्शवाद के विरुद्ध हैं और यथार्थ को एक आदर्श माने बैठे हैं। धार्मिक नहीं हैं लेकिन अपने-अपने सीमित सत्यों को लेकर धर्मान्ध हुए जाते हैं। भावुक नहीं हैं लेकिन भावुकता का विरोध करते हुए भावुक हुए जा रहे हैं। कुल मिलाकर यह कि चिर किशोरावस्था को प्राप्त हो रहे हैं। ऐसा नहीं कि नए लोगों की रचनाएँ मुझे ख़राब-ही-ख़राब नज़र आती हैं। कुछ बढ़िया भी लगती हैं। कुछ पल्ले ही नहीं पड़तीं। कदाचित् उन्हें समझने में मेरे संस्कार बाधक होते हों। या कौन कहे उसमें समझने को कुछ हो ही नहीं।

''क्या आपको ऐसा भी महसूस होता है कि यह अज्ञान का साहित्य है ?''

''ऐसा तो नहीं कहूँगा, पर इतना ज़रूर कहना चाहूँगा कि जो समसामयिक जीवन के जटिल यथार्थ की चर्चा करते हैं उन्हें पहले उस यथार्थ को समझने और उससे जूझने की बौद्धिक योग्यता अर्जित करनी चाहिए। मुझे ऐसा प्रमाण नहीं मिल रहा है कि हिन्दी के नए साहित्यकार की नृतत्व, समाज-शास्त्र, जीवरसायन, मनोविश्लेषण और सामान्य-विज्ञान जैसी आधुनिक विधाओं में विशेष रुचि या गति है। मुझे आश्चर्य होता है कि जिस जटिलता के सामने सहज आस्था के बावजूद मेरा सिर चकराने लगता है उसे कुछ आधुनिक कहे और समझे जाने वाले लोग किसी छोटे-से नुस्खे से, किसी मामूली-से फ़ार्मूले से सिद्ध कर लेने का दम भरते हैं। साहित्यकार का काम गहराई तक जाना है फिर चाहे वह आस्था के सहारे उतरे, चाहे मेधा के। जो परम सत्य के उत्स से निकला हो, जो आवरण भंग करके चैतन्य का विकास करने में समर्थ हो वही साहित्य है। बाकी सब कूड़ा है जो मुद्रित और बहुसंग्रहीत साहित्य के इस युग में भी कुछ ही वर्ष बाद किसी मामूली शोध-ग्रन्थ की किसी पादटिप्पणी में ही जगह पा सकेगा। कालदेव को कहाँ इतनी फ़ुरसत है जो यह

सारा कूड़ा बटोरे और साथ लेता चले।''

''आपने अलग-अलग सन्दर्भों के सत्य की चर्चा की थी और अब आप परम सत्य की बात कर रहे हैं। सो कैसे ?''

''अलग-अलग सन्दर्भों के सत्य मानव-सत्य हैं, खंड सत्य हैं। लेकिन उन सबके मूल में कोई मानवेतर सत्य समान रूप से विद्यमान है। सम्भव है कि उसे पाया न जा सकता हो, या सम्भव है कि उस तक पहुँचने का प्रयास ही उसकी प्राप्ति का पर्याय हो। लेकिन उसके बोध के अभाव में कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो नहीं सकती।''

''एक पाश्चात्य विद्वान की मान्यता है कि कल्चर पहले 'आइडियेशनल' होता है और फिर बिगड़कर सैनसेट हो जाता है। आप इससे सहमत हैं ?''

''मैं तो यही कह सकता हूँ कि मैंने अपनी पीढ़ी को बहुत भावुक समझा था। उसकी प्राणशक्ति जो थी सो, क्या कहें, हृदय में अवस्थित थी। मैं प्रायः आशा करता था कि नई पीढ़ी में यह प्राणशक्ति ऊपर जाएगी, मस्तिष्क में स्थित होगी। लेकिन हुआ यह कि वह हृदय से मस्तिष्क की ओर जाती-जाती उदर में गिर पड़ी। वह लतीफ़ा था न कि पेट के लिए रायट करे वही पैट्रियाट।''

''तो क्या भूखा मरे ?''

''नहीं, किन्तु ऐसा विचार मन में क्यों लाए कि मैं तो पेट भर लूं, भले ही दूसरे भूखों मरें ? यही भावना आ गई है। उदर-पूर्ति और यौनाचार मानो सारा संसार इन दो बातों में ही सिमट आया है। यह न आत्मा की संस्कृति है न मस्तिष्क की, यह देह की संस्कृति है। यों काम और शृंगार से मुझे कोई आपत्ति नहीं। प्राचीन महर्षियों ने भी इनकी महिमा बखानी है। वैष्णवों ने तो 'प्रेमा' के गुण गाए हैं। प्रेमा पुल्लिंग रूप है, इसलिए बड़ा माना है। हिन्दी में 'प्रेम' चलता है जो नपुंसक रूप है। और यही कदाचित् मेरी आपत्ति भी है। युवक लेखक राग-अनुराग जैसे विषय पर भी लिखते हुए युवकोचित नहीं हो पाते। या किशोर या अकाल-वृद्ध। क्या हो गया है हमारी प्राणशक्ति को।''

''उदरपूर्ति का धर्म कोई नया तो नहीं। रुपैया पहले भी बाप और मैया दोनों से बड़ा था।''

''था, मगर रुपए के रिश्ते के अतिरिक्त भी कुछ रिश्ते थे। अर्थसत्ता से ऊपर भी कोई सत्ता थी। अब तो यह हाल है कि कहीं आमन्त्रित होकर भी जाइए तो राह-व्यय लेने के लिए पहले फार्म में अपना वेतन बताइए। पैसा ही एकमात्र मापदण्ड है। पीछे हर कोई समृद्धि के लिए बेतहाशा दौड़ रहा है और यह दौड़ हर किसी को सर्वहारा बनाए दे रही है। हमने सब बन्धन तोड़ डाले हैं और हम आज़ाद हैं पैसे के पीछे दौड़ने के लिए नहीं तो उपेक्षित रह जाने के लिए। यह कैसी आज़ादी है जिसमें कोई आराम नहीं और कुछ भी हराम नहीं। 'वी आर ऑल फ्री—टू डाई।' एषणाएँ तीन प्रकार की बताई गई हैं—पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा। वित्तेषणा और लोकेषणा में अब कोई अन्तर नहीं रहा है और पुत्रेषणा जो है सो लूप के प्रताप से लोप हुई जाती है।''

''समृद्धि का सन्धान क्या कोई अनैतिक काम है ?''

''नहीं। और हो भी तो मैं किस मुँह से कहूँ ! लेकिन इतना तो कह ही सकता हूँ कि व्यक्तिगत समृद्धि की खोज कोई श्रेष्ठ नीति हो नहीं सकती। सामूहिक सम्पन्नता की खोज अवश्य श्रेष्ठ नीति का दर्जा पा सकती है। लेकिन तब भी यह याद रखना होगा कि समृद्धि ही सब-कुछ नहीं है। आज प्रायः अर्थ और स्व-अर्थ का ही बोलबाला है। 'मूल्य' शब्द को हम अब एक ही स्थूल अर्थ में ग्रहण करने लगे हैं। पहले ऐसा नहीं था। सम्भव है कि सठियाते हुए अन्य व्यक्तियों की तरह मैं भी अपने युग को सतयुग और अपने उत्तराधिकारियों के युग को कलयुग मानने की दुराग्रहपूर्ण भ्रान्ति में पड़ गया हूँ। सम्भव है कि तटस्थ नहीं रह पा रहा हूँ, 'सब्जेक्टिव' हो चला हूँ। या शायद मुझे ऐसे लोगों से पाला पहले पड़ा ही नहीं था, लेकिन देखता हूँ कि स्वार्थ के कारण समर्थन और स्वार्थ के कारण विरोध करने वालों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। आज की साहित्यिक बहस से मेरा कोई सीधा सम्पर्क नहीं रहा है, पर उसके बारे में भी जो कुछ पढ़ता या सुनता हूँ उससे यही आभास मिलता है कि वह भी इस रोग से मुक्त नहीं। ऐसा कभी नहीं देखा था। बड़ा झक्की होता था बनारस का पण्डित। वह अपनी झक के लिए बड़े-से-बड़े स्वार्थ को ठोकर लगा सकता था और लगा देता था।''

''आप शान्तिनिकेतन से जब बनारस लौटे तो आपने क्या परिवर्तन पाया ?''

''यों सारा-का-सारा ही हिन्दी क्षेत्र या कहें मध्य देश बहुत रक्षणशील है, परन्तु काशी इस मामले में दो हाथ आगे (या पीछे कहें) ही रहा है। फिर भी लौटने पर मैंने देखा कि

आधुनिकता के भौतिक पक्ष का इस नगर को भी कुछ स्पर्श मिल ही गया है। मेरे ज़माने में काशी में लड़कियों के कालेज दो ही थे और उनमें पढ़ने वाली अधिकांश दक्षिण भारत और बंगाल की। परन्तु सन् पचास में देखा कि लड़कियों के कई कालेज खुल गए हैं और उत्तर प्रदेश के पूर्वी ज़िलों की लड़कियाँ भी उनमें पढ़ने आने लगी थीं। मेरे लिए यह सुखद आश्चर्य का विषय था क्योंकि मैं भी उधर का शुद्ध बलियाटिक। हमारे ज़माने में भले घरों की स्त्रियाँ या तो घर से निकलती ही नहीं थीं या कभी देवदर्शन आदि के लिए निकलती भी थीं तो बुरी तरह लिपटी-ढकी हुईं। सन् पचास में पर्दा करने वाली स्त्रियों की संख्या मैंने नगण्य पाई। तब एक सज्जन इंग्लैंड गए थे तो लौटने पर उन्हें प्रायश्चित्त करना पड़ा था। अब एक सज्जन लौटकर आए तो न केवल उनके साथ मित्रों ने दावतें उड़ाईं, बल्कि यह जानने का भी भरसक यत्न किया कि विदेश में क्या हो रहा है और विदेश-दर्शन के लिए हम क्या जुगत करें? आधुनिकता का भौतिक पक्ष वास्तव में आ गया था। लेकिन आधुनिकता की आत्मा वहाँ अब भी दुर्लभ थी। बात-बात में मुझे शान्तिनिकेतन और रवीन्द्रनाथ को लेकर ताना दिया जाता था, कुछ इस ढंग से मानो उदार होना या सार्वभौम दृष्टि रखना कोई बहुत बड़ा अपराध हो। काशी विश्वविद्यालय में मैंने कबीर पढ़ाना शुरू किया तो एक मित्र उपकुलपति से यह शिकायत कर आए कि जिस विभाग में तुलसीदास से पढ़ाई शुरू होती थी उसमें कबीर से शुरू होने लगी है।"

"आधुनिकता के न आ पाने का कारण आप क्या देखते हैं?"

"कारण यही कि न कोई भीतरी क्रान्ति हुई, न बाहरी। जिसे आपका यथार्थवाद निरा सुधारवाद कहकर उपेक्षा का पात्र समझता है उससे शायद विचारों की क्रान्ति की आशा हो सकती थी। हम अपनी परम्परा का नया संस्कार करते, रूढ़ियों का दुर्ग भेदकर अपनी परम्परा आत्मा का उद्धार कर लाते तो नया भारत वास्तव में नया और भारत दोनों बन जाता। लेकिन पाश्चात्य प्रतिमानों का मोह और पराधीनता से मिला हुआ हीन भाव हमें खा गया। सुधार और समन्वय को दकियानूसी बातें करार देकर हमने मानो स्वेच्छा से भारतीय लोकमानस से अपना निर्वासन कर लिया। लोकमानस हमने रूढ़िवादियों के लिए छोड़ दिया। तो हम 'सेक्युलियरिज़म' चिल्लाते रहे और देश का साम्प्रदायिक आधार पर विभाजन हो गया। हम धर्मनिरपेक्षता का ध्वज फहरा रहे हैं और ऐन उस ध्वज के तले हिन्दू राष्ट्रवाद ज़ोर पकड़ता जा रहा है। हम यथार्थवादी हैं और हमारा यथार्थ कल्पित है। भाषा, धर्म, संस्कृति, आचार-व्यवहार हर मामले में हमने ऐसी उधार की उदारता, ऐसी बेपर की प्रगति चला दी है जो संकीर्णतम नस्लवाद लिए लोकमानस का मैदान बिना लड़े छोड़े जा रही है।"

"क्या आप यह मानते हैं कि आर्थिक परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक सुधार स्वयं ही हो जाएगा।"

"एक सीमा तक यह बात सही हो सकती है, किन्तु प्रश्न यह है कि आर्थिक परिवर्तन भी वैसा कहाँ हो रहा है? बाहरी क्रान्ति अभी कहाँ हुई है। सब्ज़ बागों का ही समाजवाद आया है, सिद्धियों का नहीं। इच्छाओं की ही क्रान्ति हुई है, उपलब्धियों की नहीं। और इस अधूरी क्रान्ति से हमारी स्फूर्ति आहत हुई है। हमारी जिजीविषा विक्षुब्ध हुई है। बनारस में एक दिन एक चौराहे पर मैं यूँ ही खड़ा हो गया और देखने लगा। पहले के मुकाबले में पैदल चलने और चल सकने वाले लोग कितने कम हो गए हैं। और उन लोगों की संख्या भी कितनी कम है, सवारी रख सकना या किराए पर ले सकना जिनके बूते में हो। औसत भारतीय को आधुनिक जीवन का सुख-सुविधापूर्ण भौतिक पक्ष छू गया है, छोड़ गया है, ललचा गया है, लेकिन उसकी आर्थिक अवस्था पहले से कहीं बदतर है। ऐसे में भग्नाशा ही हाथ आ सकती है। हम न देश में अमीरी ला सके हैं, न ग़रीबी बराबर-बराबर बाँट सके हैं। हम बड़े-बड़े बाँध बनाने के लिए बिक गए, लेकिन नलकूप हमसे लगवाते नहीं बने। समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था की हम बातें करते रहते हैं। यह एक और पाखण्ड है और यह पाखण्ड एक और खतरे के सामने देश को खुला छोड़ रहा है। यह खतरा वामपन्थी कम्युनिस्टों की रक्तरंजित क्रान्ति का।"

"तो क्या आपके हिसाब से भारत के राजनीतिक मंच पर अतिवादी शक्तियाँ ज़ोर पकड़ेंगी?"

"पकड़ चुकी हैं। आज मुझे दो ही सुसंगठित और मरने-मारने की हिम्मत रखनेवाले दल नज़र आते हैं—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और वामपन्थी कम्युनिस्ट। जहाँ सामञ्जस्य को मूर्खता मान लिया गया हो, वहाँ अति की ही राजनीति

चलेगी।"

"आपने हाल के एक लेख में कहा था कि जनता जाग रही है और यहाँ आप एक निराशाजनक चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं, सो क्यों ?"

"अति की राजनीति से जनता का वास्तविक जागरण होगा, ऐसा तो मैं नहीं कहना चाहता हूँ। लेकिन जागरण होगा ज़रूर। अगर सामंजस्य की राजनीति होती तो यह जागरण सुविधा और शान्ति से हो पाता। अति की राजनीति के वातावरण में भयंकर मारकाट और उथल-पुथल के बाद होगा, मगर होगा निश्चय ही। भारत एक बड़ी शक्ति बनेगा. सैनिक दृष्टि से उसे या और किसी भी देश को आज पराजित नहीं किया जा सकता। छोटा-सा दक्षिणी वियतनाम इस सत्य का बड़ा उदाहरण है। आर्थिक दृष्टि से देशों का पंगु बनाया जा सकता है और हमें भी बनाया गया है, परन्तु हम इस अवस्था से देर-सबेर उबरेंगे। भारत विश्व के मंच में अपनी भौगोलिक और ऐतिहासिक नियति चरितार्थ करेगा।"

"आपके इस विश्वास का आधार क्या है ?"

"आधार यही है कि मुझे अपने देश में, मानवता में और परमेश्वर में आस्था है।"

"परमेश्वर में यह आस्था एक आत्म-छलना नहीं है ? धम को लेनिन ने जन-साधारण की अफीम कहा है।"

"अफ़ीम वह है, जो कमज़ोर बनाती है। जो धार्मिक आस्था शक्ति देती हो, उसे अफ़ीम मान लेना स्वयं एक आत्म-छलना है। और अगर अफ़ीम ही है परन्तु जनता की अफ़ीम है तो जो जनता के राजनीतिक और बौद्धिक नेता होने का दावा करते हैं, वे पहले इस अफ़ीम को देखें-समझें। अगर इस अफ़ीम की शब्दावली में ही वे नए अर्थ और नया दशन भरते तो कोटि-कोटि जन का उद्धार सुगमता से हो गया होता। हमारे प्राचीन प्रतीकों में आज भी जितनी शक्ति है और जनसाधारण को उसमें कितनी आस्था है इसका कोई अनुमान हमारे 'इण्टलेक्चुअलों' को नहीं है।"

"आपको परमेश्वर में क्यों आस्था है ?"

"मुझे आस्था है। इसमें क्यों और क्या का सवाल नहीं उठता। कोई शक्ति है, कोई तत्त्व है, जो हमारे सतही अनुमानों से परे है। हर व्यक्ति की गहराई में कोई रहस्य स्पन्दित है। मैं मानता हूँ कि ऐसी बहुत-सी बातें जीवन में आती हैं, जिनके लिए कुछ-न-कुछ शब्द बनाना पड़ता है जिनका कारण अदृश्य में खोजना पड़ता है। उसे भाग्य, कर्म, नियति, ग्रह-दशा, परमेश्वर, जो अब तक विज्ञान की पकड़ में नहीं आया है, शीघ्र ही आ जाएगा वह रहस्य, या और कोई नाम दे दीजिए मगर उसकी अपनी एक सत्ता है अवश्य, आप चाहें, तो उसे मेरे आधुनिक मित्र की तरह 'एब्सर्डिटी ऑफ़ लाइफ़' कहकर पुकार लें। भगवान की लीला कह लीजिए या 'एब्सर्डिटी ऑफ़ लाइफ़' कोई अन्तर नहीं पड़ता। अगर 'एब्सर्ड' में भी आपकी पूरी आस्था हो, तो भी आपका साहित्य और आपका जीवन उस परम शक्ति का प्राणवान स्पर्श पा लेगा। कठिनाई यह है कि हमारे साहित्यिकों और अन्य बुद्धिजीवियों को किसी चीज़ में भी आस्था नहीं है, यहाँ तक कि अनास्था में भी आस्था नहीं है। जहाँ आस्था नहीं होती वहाँ आतंक होता है। जहाँ श्रद्धा नहीं होती वहाँ क्षोभ होता है। इसी आतंक का, इसी क्षोभ का और आर्थिक कारणों से उत्पन्न भग्नाशा का साहित्य आज के नौजवान लिख रहे हैं। ऐसा कहते हुए मेरा उनकी निन्दा करने का आशय कदापि नहीं है। मुझे उनसे पूरी सहानुभूति है। हमें तो सहज आस्था का संस्कार मिला था और उस आस्था के सहारे—क्या कहें—एक प्रकार की गर्दभ वृत्ति अपने भीतर जगा सके हैं। झेल जाने की और भूल जाने की अपार क्षमता। रामभरोसे रह लेने का गुण या अवगुण। गुरुदेव के शब्दों में 'सत्य का महसूल' चुका सकने का साहस। जीवन में कई बार ऐसे अवसर आए हैं जब मेरे आदर्श यथार्थ से बुरी तरह टकराए हैं। मुझे अपार मानसिक कष्ट भोगना पड़ा है, लेकिन हर बार यही आस्था मुझे 'सिनिक' होने से बचा गई है। मैंने मन-ही-मन एक तत्त्ववाद स्वीकार कर लिया है कि भूलना और सह पाना भगवान की विशेष कृपा से आता है। जो इस कृपा का पात्र बन सका है वही होम करते हाथ जलने पर विचलित नहीं होता। मुझे बड़ा धक्का लगा, जब काशी विश्वविद्यालय में ऐसा किया गया, जिसका कोई कारण नहीं था और जिसके बारे में बाद में स्वीकार किया गया कि वह ग़लत था। मैं भरसक यत्न करता हूँ कि चर्चा का विषय न बनूँ, लेकिन इस निर्णय के कारण बन गया। विश्वविद्यालय से मेरा संबंध टूटा और मुझे अपयश का भागी बनना पड़ा। लोगों ने मुझसे कहा कि मैं अदालत में जाऊँ, मगर मैं नहीं गया। मित्रों ने कहा, तुम कायर हो, बेवक़ूफ़ हो। मैं यही सोचता रहा कि

मैंने क्या गलती की है, जिसका यह दण्ड मिला है। ज़रूर कोई ग़लती की होगी लेकिन खोजने पर भी कोई कारण नहीं मिला। बहुधा जब मैं उद्वेलित होता हूँ, मन को शान्त करने के लिए कोई पुस्तक पढ़ने बैठ जाता हूँ। उद्वेलन की उस घड़ी में गुरुदेव की एक पुस्तक उठा ली और मेरी दृष्टि एक ऐसे गान पर पड़ी जो पहिले कभी नहीं पढ़ा था। इस आशय की चार पंक्तियाँ कि "कर पल्लव से तुमने मुस्कराते हुए एक चपत लगा दी है, तो भला मैं क्यों रोऊँ।" इन पंक्तियों ने मेरे मन को बल मिला और मैंने फैसला किया कि मेरी अदालत कोई और है।"

"जीवन में कुछ छोटी-छोटी बातें इस तरह की होती हैं, जो न जाने क्यों याद रह जाती हैं। अपने जीवन के इन साठ वर्षों का सिंहावलोकन करते हुए आपके सामने इस तरह की कौन-सी बातें, कौन-से दृश्य उपस्थित होते हैं? जो भी सहज याद आ जाए, बता दीजिए।"

"हमारा पुश्तैनी मकान। घोर अभाव का वातावरण। बाबा कह रहे हैं कि इस लड़के को ज्योतिष पढ़वाओ, तो शायद रूठी लक्ष्मी प्रसन्न हों। पितामह के पितामह की चर्चा हो रही है जो ज्योतिषाचार्य थे और जिनके समय में घर में बड़ी समृद्धि थी। लेकिन शुरू में मुझे अंग्रेज़ी स्कूल में भेजा गया। वहाँ आर्थिक कारणों से पढ़ना सम्भव नहीं हुआ और इन्हीं आर्थिक कारणों को शहीद कहलाने के सुख के लिए शायद मैंने राजनीतिक रूप दे डाला।

"लड़कों की एक टोली है जिसने नमक बनाने का फैसला किया है। नमक तो खैर काशी में क्या बनेगा। कहाँ बनेगा। फिर भी कढ़ाव-चढ़ाव लेकर मुख्य बाज़ार में पहुँचे हैं। पुलिस को खबर लग गई है। घेरा पड़ गया। कुछ लड़के अब भी नमक बनाने के उत्साह में हैं और कुछ घबड़ा रहे हैं। घबराने वालों में हमारे नेता महोदय प्रमुख हैं और मैं उनका आज्ञाकारी अनुचर हूँ। पीछे का एक रास्ता खुला है। वह भागे और मैं भी पीछे-पीछे, लेकिन सभी कायर नहीं थे। इतना उत्साह था। कहाँ गया वह उत्साह।

"मैं संस्कृत और ज्योतिष का विद्यार्थी हूँ। शास्त्रार्थ में बड़ा रस आता है। जो भी बारात जाती मुझे उसमें सम्मानपूर्वक ले जाया जाता है और मैं उत्साहपूर्वक जाता हूँ। क्यों? शास्त्रार्थ करने के लिए। उन दिनों यही रिवाज था। कई बार तो दोनों ओर के शास्त्रियों में मारपीट तक हो जाती थी। समय कितनी जल्दी बीत गया है, कितना ज़्यादा बदल गया है। हमारे विद्यालय में एक छात्र ने कुर्त्ता पहनकर खा लिया, उसे भ्रष्ट घोषित कर दिया गया। उसका पक्ष मैंने लिया और शास्त्रार्थ किया। यह सिद्ध करने की कोशिश की कि शास्त्रों में कुर्त्ता पहनकर खाने का निषेध नहीं है। संस्कृत के विद्यार्थियों में मैं 'प्रोग्रेसिव' हूँ। अंधों में काना राजा।

"शान्तिनिकेतन। गुरुदेव संस्कार मानने वाले मामलों में कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं करते हैं। मैं अपना खाना अलग बनाता हूँ। छुआछूत मानता हूँ। लेकिन कुछ ऐसी ही घटनाएँ होती हैं जो मुझे नई दिशा में सोचने को बाध्य कर देती हैं। कट्टर ब्राह्मण की तरह, पाठशाला में पढ़े ब्राह्मण की तरह मेरे मन में शिवाजी के प्रति आदर भाव है। बहस में एक मुसलमान मित्र से कह देता हूँ कि शिवाजी न होते तो हिन्दू धर्म आज जीवित न होता। वह कहता है—'पण्डितजी, क्या बुरा हो गया होता अगर वर्तमान हिन्दू-धर्म न होता, वर्तमान मुस्लिम धर्म न होता, मिलकर कोई एक नई चीज़ बन गई होती।' उस समय बहुत क्रोध आता है मगर बाद में यह प्रश्न बराबर आलोड़ित करता रहता है।

"एक विधवा अपनी कन्या का विवाह हिन्दू विधि से करना चाहती है। किसीने कह दिया है कि नान्दी श्राद्ध विधवा नहीं कर सकती। गुरुदेव मुझे बुलाते हैं और प्रश्न करते हैं, 'हिन्दुओं का इतिहास हज़ारों वर्ष का है, क्या उसमें पहली बार ऐसी घटना हो रही है? ऐसी स्थिति निःसन्देह पहले भी कभी आई होगी। मैं जाकर स्मृतियों में ऐसे प्रसंगों की खोज करता हूँ और देखता हूँ कि पूर्व पक्ष में ऐसे बहुत-से वचन हैं जो विधवा के इस अधिकार का समर्थन करते हैं। लेकिन वचनों की संगति लगाते समय निष्कर्ष रूप में यही कहा गया है कि विधवा को ऐसा अधिकार नहीं है। गुरुदेव को बताता हूँ तो हँसकर कहते हैं कि क्या पूर्व पक्ष के वे ऋषि जिनकी मान्यता का उत्तरपक्ष, सिद्धान्त पक्ष में खण्डन किया गया है, कुछ कम पूज्य हैं? यह प्रश्न मुझे उद्वेलित कर देता है और मैं हर विधान के बारे में ऐतिहासिक सन्दर्भ में सोचने के लिए और समसामयिक सन्दर्भ में उसका पुनर्मूल्यांकन करने के लिए अपने को बाध्य पाता हूँ।

"भारत स्वाधीन हो गया है। 'पोलिटिकल सफर्स' को 'पोलिटिकल' इनाम बाँटे जा रहे हैं। मेरे एक मित्र राज-

नीतिक बन्दी की हैसियत से जेल काटते हुए मर गए थे, उनके परिवार की स्थिति शोचनीय है। परिवार को सरकारी सहायता दिलाने के लिए प्रमाण जुटाना है। लिखित प्रमाण नहीं है तो वही लोग सहायता मन्ज़ूर करने के लिए तैयार नहीं हो रहे हैं जिनके साथ मेरे मित्र ने आज़ादी की लड़ाई लड़ी थी, कदाचित् उनसे कुछ ज़्यादा ही साहस से, अधिक ही कुर्बानी देकर। एक उचित माँग के लिए भी वैसी ही दौड़-धूप, वैसी ही सिफ़ारिश-गुज़ारिश आवश्यक हो रही है जैसी कि अनुचित रियायत के लिए।

आतंककारी रह चुके एक मित्र स्वाधीन भारत में सत्ता-लोलुप वर्ग से कोई समझौता करने के लिए तैयार नहीं हैं। सरकारी सहायता लेने के लिए प्रस्तुत नहीं होना चाहते हैं। टूट जाते हैं, मगर झुकते नहीं हैं। आत्म-सम्मान के बल पर जीना कितना दूभर हो गया है। एक दिन वे थे कि इनमें उत्साह कूट-कूटकर भरा हुआ था, डाइनेमाइट लादे कहाँ-कहाँ पुल उड़ाने के लिए भूखे-प्यासे घूमते रहते थे और एक दिन यह है कि रन्ध्र-रन्ध्र से कड़वाहट फूटी पड़ रही है।"

"क्या इस विडम्बना ने आपको कुछ सोचने पर मजबूर नहीं किया। इस सबके बाद भी आप सत्ता-प्रतिष्ठान से सम्बन्ध कैसे बनाए रख सके? गांधीवादी सामंजस्य की खुले-आम अवहेलना हुई और आप लोग कुछ कर नहीं सके।"

"हम उससे अलग थे ऐसा तो दावा मैंने नहीं किया है। यह तो एक रेला है, एक धक्कम-मुक्की है जिसमें बिना कुछ पूछे जिधर धक्का लगे उधर बढ़ जाना है। जो इसमें कहीं कोई शंका उठाने के लिए रुका वह रौंद डाला गया। इसे चाहे कायरता कह लीजिए, चाहे और कुछ कि हम इस रेले से अलग नहीं हो सके। और न आप लोग ही हो सके हैं।"

"क्षमा कीजिए मुझे इस उत्तर से तोष नहीं मिल रहा है। अगर आप रेले के संग-संग भटकने को विवश थे तो हम जो आपको पथप्रदर्शक मानते थे, आपके पीछे-पीछे भटकने को विवश थे। और जो अब हमारे बाद आ रहे हैं वे यह मानने को विवश हैं कि हमारे मूल्य ही पाखंडपूर्ण हैं। उनकी नीतिहीनता का उत्स हमारी नीति की असमर्थता में ढूँढ़ना गलत न होगा। इसलिए मैं आपसे फिर पूछना चाहूँगा कि सिनिसिज़्म बढ़ाने वाला यह समझौता किसलिए और कैसे सम्भव हुआ?"

"नौकरियों के लिए, सुविधाओं के लिए। दरिद्रता के देश में कितना जबरदस्त आकर्षण है इस सबका! और जो अन्न के लिए आश्रित है वह फिर हिन्दी वाले वेग में नहीं, अँग्रेज़ी वाले 'वेग' में विश्वास करने लगता है। कुछ गोल-मोल कहो कि यह लोक भी हाथ से न जाए और उस लोक में भी थोड़ी-बहुत अपने लिए गुंजाइश बनी रहे। यही हाल मेरा है, यही हाल हम सबका है। संसद में, विधान सभाओं में, पत्र-पत्रिकाओं में हर कहीं यही 'वेगनैस' प्रतिष्ठित है और पूज्य है! हम सब अपनी-अपनी चमड़ी और दमड़ी बचाने के लिए वकालत कर रहे हैं। अभी जब आपको कुछ पुरानी बातें सुना रहा था तो एक बात और याद आई थी। शान्तिनिकेतन में एक दिन गुरुदेव पूछ बैठे कि भीष्म इतना ज्ञानी, इतना दृढ़प्रतिज्ञ, इतना निष्ठावान था लेकिन तो भी उसे अवतार नहीं माना गया, कृष्ण को माना गया, सो क्यों? विचार किया तो यही समझ में आया कि भीष्म रूढ़िवादी थे। शरशैया पर लेटे हुए कदाचित् वह यही सोचते रहे हों कि मैंने यह कैसी प्रतिज्ञा की जिससे किसी का कोई हित न हुआ। कृष्ण ने लोकहित को सर्वोपरि माना, लीक पीटना कभी भी ज़रूरी नहीं समझा। वह आधुनिक चेतना वाले थे, उनकी तुलना त्रेता के राम से करके यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसीलिए वह एक नए युग द्वापर का प्रवर्तन कर सके। और एक द्रोणाचार्य थे जो धर्म-अधर्म भुलाकर नमकहलाली की लीक पकड़े रहे कि बाल-बच्चों का पेट भर सकें। कुछ वही दृष्टि हम-जैसे लोगों की रही है। एक जो आन्तरिक साहस होता है वह हम में है नहीं। ज्ञान, विवेक, पांडित्य सब कुछ आ पाता है लेकिन वह अन्दरूनी ताकत नहीं आ पाती। न हम में और न हमारे देश के वातावरण में। 'रिवोल्ट' हमने जाना ही नहीं है, बहुत हुआ तो 'प्रोटेस्ट' तक पहुँच गए हैं।"

"और फिर भी आप विश्वास कर पाते हैं कि जनशक्ति जागृत होगी, देश महान् बनेगा!"

"जनशक्ति जागृत होगी नहीं, हो चुकी है। उसे सही दिशा की, सही भाषा की तलाश है। यह दिशा और यह भाषा मिलने पर वह इस देश का कायाकल्प कर देगी। उसके विद्रोह के सामने हमारी वकालत धरी रह जाएगी। राजनीति को सही दिशा की और साहित्य को सही भाषा की इस खोज में योगदान करना चाहिए। कुछ समझदार राजनीतिज्ञ इस खोज में प्रवृत्त हो भी रहे हैं। लेकिन साहित्यकार तो,

क्या कहें, रचना-प्रक्रिया की डॉक्टरी से फ़ुर्सत नहीं पा रहा। उस पर तो चार पंक्ति की कविता के विषय में चार पृष्ठ का वक्तव्य देने की धुन सवार है। चार ठो कहानियाँ लिख-कर ऐसा शास्त्रार्थ मचाए हुए है मानो चार वेद ही तो लिख डाले हैं। आप शायद बुरा मानें, कदाचित् बहुत कड़ुआ लगे आपको यह सब, किन्तु हो यही सब रहा है ! अगर हमारा परम्परा-प्रेम किताबी था तो आपका आधुनिकता मोह कुछ अधिक ही किताबी है। जब खरी भाषा मिलेगी, जब खरी वाणी जिह्वा पर आरूढ़ होगी तो खोटी परम्परा और खोटी आधुनिकता दोनों कचरे के कनस्तर में फेंक दिये जाएँगे। और वह दिन, बहुत दूर नहीं है।''

हजारीप्रसाद जी की यह आस्था मुझ-जैसे अनास्था-वानों की निगाहों में शायद किसी-न-किसी स्तर पर सन्दिग्ध ही ठहरेगी। किसी हद तक हम उसे अतिसरलीकृत मानने को भी मजबूर होंगे। लेकिन उनकी ईमानदारी पर सन्देह करना मेरे-जैसे उन लोगों के लिए भी सम्भव नहीं होगा जिन्हें हर किसीको 'फ्रॉड' सिद्ध करने में विशेष आनन्द आता है। अपने जीवन में जो भी उन्होंने पाया है, साधिकार पाया है, बल्कि अपनी योग्यता के अनुपात में बहुत कम ही पाया है। जो कुछ कहा है अपनी समझ के मुताबिक सही और खरा कहा है। कहने के पीछे कोई 'पॉलिटिक्स' नहीं रही है। इसके बावजूद अगर मेरी और आपकी 'आधुनिकता' को उनके जीवन और दर्शन से कोई कोफ्त होती है तो शायद इसीलिए कि उनका धीरभाव हमारी शंकालु, चिर अस्थिर, संशयात्मा वृत्ति को सालता है। हमें हैरानी होती है कि ये लोग इतने शान्तचित्त कैसे रह पाए हैं, अपनी-अपनी विचार-भूमि और भावभूमि में किस तरह डटे हुए हैं। हमारी तरह इनके पाँव क्यों नहीं उखड़ गए हैं। और बदतर यों कि हमारे पास यह कहने को भी नहीं है कि हमने इनके और इनकी परम्परा के विरुद्ध कोई सार्थक विद्रोह किया है। मुझसे और अपने 'नए ज़माने के' पुत्रों से द्विवेदीजी जब-जब बातचीत कर रहे थे मुझे रह-रहकर यह आभास हो रहा था कि वह हमारी दुनिया में आने की सफल कोशिश कर पाते हैं और हम उनकी दुनिया में कदम रखते हुए घबराते हैं। हम अपना ही मानसिक बस्ता-बिस्तर सँभाल नहीं पाते और वह अपना सामान सहेजकर हमारा मालमत्ता भी करीने से रख जाते हैं।

इसलिए वह गुरुजन हैं। इसलिए मैं जो हजारीप्रसाद द्विवेदी से अपनी इस पहली मुलाकात के लिए जाते समय कोई विशेष आदर भाव अपने साथ लेकर नहीं गया था, जिसने उनसे पहले साक्षात् में निहायत ही अप्रतिबद्ध किस्म का नितान्त ही औपचारिक नमस्कार किया था, उनसे विदा लेते सयय कुछ पुराने घरेलू संस्कारों का स्मरण करके विधि-वत पायलागन कर आया।

● ● ●

संस्कृत काव्यशास्त्र और संरचनात्मक समीक्षा-पद्धति

रघुवंश

यूरोप में रूपवादी, आकृतिमूलक, भाषिक या संघटनात्मक नया साहित्य-चिन्तन शुरू होने के पहले साहित्यालोचन के क्षेत्र में भाव तथा प्रभाववादी सौन्दर्य-शास्त्र और प्रत्यय-वादी, विधेयवादी, अनुभववादी दर्शनों और विज्ञानवाद तथा ऐतिहासिकता का प्रभाव गहरा था। उन्नीसवीं शती में साहित्य-चिन्तन बहुविधि दृष्टियों से किया गया और उससे निश्चय ही उसमें विविधता और सम्पन्नता आई। साहित्य के परिवेश और उसके आधार को समझने की दृष्टि विकसित हुई। साहित्य किन सामाजिक और युगीन परिस्थितियों की प्रतिक्रियाओं और प्रेरणाओं का परिणाम है, इसका अनेक प्रकार से अध्ययन किया गया। युग, समाज, परम्परा, व्यक्ति और मानवता से साहित्य के मूल्यगत और रचनात्मक सम्बन्ध की स्थितियों और सम्भावनाओं पर विचार किया गया। कृतिकार का अपनी रचना से मानसिक, भावात्मक, रागात्मक, सर्जनात्मक, वैयक्तिक या निर्वैयक्तिक जो भी सम्बन्ध हो सकते हैं, उनका रचना-प्रक्रिया के स्तर पर गहरा विवेचन हुआ। यही नहीं, इस उर्वर चिन्तन के युग में साहित्य की प्रेषणीयता के सवाल पर सामाजिक तथा मनो-वैज्ञानिक स्तर पर विचार किया गया। पाठक पर पड़ने वाले प्रभावों, उस तक पहुँचने वाले अनुभवों की व्याख्या और विवेचन अनेक सन्दर्भों में किया गया। साहित्य की सर्जन-शीलता को ऐतिहासिक धारावाहिक क्रम में देखने-समझने का उपक्रम भी विस्तार से हुआ। इस इतिहास-दृष्टि से साहित्य युगीन समाज, धर्म, राजनीति, आर्थिक व्यवस्था, नैतिकता तथा अन्य सांस्कृतिक मूल्यों के सन्दर्भ में विवेचित किया गया। इसमें शक नहीं कि इस प्रकार साहित्य-चिन्तन को व्यापक आधार और परिवेश मिल सका।

साहित्य-चिन्तन की ये समस्त पद्धतियाँ मुख्यतः भाव-वादी तथा विधेयवादी रही हैं। इनके द्वारा या तो साहित्य के भावमूलक सौंदर्य या आनन्दपरक प्रभाव का विवेचन किया गया है अथवा साहित्येतर मूल्यगत प्रयोजन, लक्ष्य या उद्देश्य की व्याख्या की गई है। इसके लिए उन्नीसवीं शती में प्रचलित तथा विकसित अनेक शास्त्रीय सिद्धान्तों और उपपत्तियों का प्रयोग साहित्य-चिन्तन में किया गया। समाज-शास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास-दर्शनों तथा विज्ञान आदि के क्षेत्रों में जो दृष्टियाँ इस युग में विकसित हो रही थीं, उनका प्रभाव साहित्यालोचन की शैलियों पर भी देखा जा सकता है। उस युग के मानववाद ने साहित्य को प्रयोजन की मूल्यसापेक्ष्य दृष्टि से बहुत दूर तक सम्बद्ध किया है। विधेयवादी आग्रह के कारण साहित्य को युग, समाज, परिवेश और व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया रूप में समझने की चेष्टा की गई, उसकी रचनाशीलता को वैज्ञानिक कार्य-कारण (उस युग की मान्यता के अनुसार) के रूप में प्रतिपादित किया गया। यह सब काफ़ी धूमधाम से हुआ और इस प्रकार साहित्य पर सोचने-विचारने के अनेक पक्ष, स्तर और आयाम उद्घाटित हुए। साहित्य के चारों ओर की बहुत-सी सामग्री एकत्र की गई और उसका विवेचन-विश्लेषण किया गया, उसके वातावरण तथा परिवेश की छानबीन की गई, रचना-प्रक्रिया की स्थिति पर विचार करने के साथ उसके तत्त्वों और कारणों पर जमकर विचार किया गया और प्रेषण की प्रक्रिया तथा उसके प्रभाव-पक्ष पर मनोवैज्ञानिक, मानव-शास्त्रीय तथा शरीरवैज्ञानिक दृष्टियों से विचार किया गया, उसके समाजशास्त्रीय सन्दर्भों को ढूँढ़ निकालने की चेष्टा तो की ही गई।

इन सारे प्रयत्नों के बीच साहित्य-चिन्तन की दृष्टि साहित्य से हटकर साहित्येतर पक्षों, दृष्टियों और मूल्यों पर केन्द्रित होती गई। परिणामस्वरूप उन्नीसवीं शती के अंतिम और बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशकों में साहित्य-चिन्तकों

के एक वर्ग ने इन साहित्येतर मूल्यदृष्टियों और आलोचना की पद्धतियों का विरोध किया और कृति तथा कृतित्व पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। क्रमशः साहित्य-चिन्तन साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक, राजनीतिक,आर्थिक, मानवीय, नैतिक तथा अन्य सांस्कृतिक मूल्यों की अपेक्षा अपने निजी मूल्यों की खोज में प्रवृत्त हुआ। साहित्य एक विशिष्ट रचना है, अनुभव है,अभिव्यक्ति है। उसके अनुभव को सुन्दर, आनन्द-परक अथवा अप्रतिम जो भी कहा जाए, पर वह सामान्य जीवन के अनुभव से भिन्न है, अतः उसके नियम अलग होने चाहिए। अन्य क्षेत्रों के मूल्यों और प्रतिमानों के आधार पर साहित्य की चर्चा करने से हम सदा साहित्य के परिपार्श्व, परिवेश, वातावरण आदि की चर्चा कर पाते हैं और साहित्य ही उपेक्षित रह जाता है। इससे हटे तो साहित्य की विषय-वस्तु पर विचार करते हुए मूल्यगत निर्णय लेने लगते हैं, अथवा कृतिकार के सामाजिक व्यक्तित्व का विवेचन करते हुए उस पर अपना मत निर्धारित करने लगते हैं। अतः क्रमशः यह विचार उभरने लगा कि साहित्य के विवेचन में दृष्टि रचना पर होनी चाहिए, न कि उस युगीन जीवन अथवा सामाजिक आधार पर जिसमें उसकी रचना हुई है। रचना में भी उसके वस्तुपरक रूप-तत्त्व का महत्त्व है, क्योंकि वही एक निश्चित आधार है जिसके सहारे अभिव्यक्त अनुभव तक पहुँचने की चेष्टा की जाती है। अन्यथा सर्जन तथा सौंदर्य की भावपरक और विषयपरक चर्चाओं के सहारे किसी निश्चय तक नहीं पहुँचा जा सकता।

यूरोप में रूसी रूपवादी, जर्मन भाषाशास्त्रीय, फ्रेंच विश्लेषणवादी, अंग्रेज़ी अर्थवैज्ञानिक, पोलिश और चेक रूप-वादी तथा बाद में अमरीकी संरचनावादी (स्ट्रक्चरलिस्ट) समीक्षकों ने साहित्यिक रचना के निजी सौंदर्य के नियमों की खोज और रचना के संघटन, उसके रूप-तत्त्व, भाषिक गठन आदि पर अधिक बल देना प्रारम्भ किया है। जर्मन के कार्ल वोस्लर और लिओ स्पित्ज़र ने रचना की भाषिक अन्विति, कलात्मक अन्विति और रूपात्मक शैलीगत विश्लेषण को महत्त्व प्रदान किया। हाइनरिख़ वुल्फ़लिन तथा ओस्कर वाल्तज़ेल ने रचना के विवेचन में शैली और रूप-तत्त्व को केन्द्रीय माना है। यद्यपि फ्रांस में साहित्यालोचन के क्षेत्र में विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया, पर यहाँ इसकी परिणति भाषाशास्त्रीय तथा निरुक्तिमूलक पद्धतियों में ही देखी जा सकती है। फिर परम्परा से विद्रोह की भावना इसमें देखी जा सकती है, क्योंकि इस प्रकार रचना के भाव तथा विषय-पक्ष से ध्यान हटाकर उसके 'पाठ' पर केन्द्रित किया गया। इस विरोध का श्रेय रूस के रूपवादियों को है, एक प्रकार से इन्होंने रचना के भाषिक, प्राविधिक तथा संरचनात्मक पक्षों पर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने अभिव्यक्ति के व्यहृत उपायों की समग्रता को रूप-तत्व माना है और काव्य के छन्द-विधान, शैली, शब्द-योजना अलंकरण आदि के साथ वस्तु, चरित्र, परिवेश आदि के प्रयोग को भी रूप के अन्तर्गत स्वीकार किया। उन्होंने संश्लेष और विश्लेष, संघटन और विघटन दोनों को रचना की प्रक्रिया में स्वीकार किया। रूपवादियों ने कृति को मूलतः रचना माना, उसके अन्य सामाजिक, जीवनीमूलक, मनो-वैज्ञानिक सन्दर्भों को साहित्यिक चर्चा में अस्वीकार किया।

रूस के रूपवादियों ने रचना के भाषिक तथा संरचना-त्मक संघटन के विवेचन का प्रारम्भ किया था, उन्होंने ध्वनिप्रतिरूपों, छन्द-पद्धतियों, काव्य के शब्द-प्रयोगों आदि के विश्लेषण का प्रारम्भ भी किया। परन्तु उनसे प्रभाव ग्रहण कर पोलिश तथा चेक चिन्तकों ने रूपवाद को संरचना-वाद (स्ट्रक्चरलिज़्म) तक पहुँचाया। चेक साहित्य-चिन्तक वाइलेम मैथेसियस ने रूपवाद के स्थान पर अपनी पद्धति को संरचनात्मक पद्धति स्वीकार किया है। इस पद्धति का नवीनतम रूप अमरीकी साहित्य-चिन्तकों के द्वारा विकसित हुआ है। अंग्रेज़ी में सर्वप्रथम आई० ए० रिचर्डस ने साहित्य के विवेचन में अन्य साहित्येतर दृष्टियों का एक प्रकार से विरोध शुरू किया। उन्होंने अपनी 'व्यावहारिक आलोचना' में अर्थवैज्ञानिक दृष्टि का प्रयोग किया, अर्थ-विविधता तथा अर्थ-विश्लेषण पर बल दिया। विलियम एम्पसन ने काव्य-भाषा के सवाल को उठाकर भाव-सरिणियों के अनेक सूक्ष्म तथा विलक्षण विश्लेषण प्रस्तुत किए। एफ० आर० लीविस ने रचना की संघटनात्मक अन्विति पर विशेष बल दिया है।

इस धारा के आलोचकों ने एक प्रकार से रिचर्डस और लीविस की परम्परा को आगे बढ़ाया है, यद्यपि यह संरचना-त्मक तथा शाब्दिक आलोचना की पद्धति इन पूर्ववर्तियों से पर्याप्त भिन्न हो गई है। राबर्ट ग्रेव्स, विलियम एम्पसन तथा केनेथ बर्क इस वर्ग में फिर भी इतिहास-विरोधी नहीं हैं, पर नई आलोचना स्कूल के जान क्राउ रेनजम, एलेन टेट,

क्लीन्थ ब्रुक्स, राबर्ट पेन वारेन, रेने वेलेक, आस्टिन वारेन तथा ब्लैकमर आदि ने सभी परम्परित आलोचना के मूल्यों से विद्रोह किया। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि कला का अनुभव अपने-आपमें विशिष्ट है, और आलोचक की व्याख्या द्वारा उस अनुभव को नैतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा अन्य साहित्येतर सन्दर्भों से दूषित नहीं करना चाहिए, जैसा कि पिछली शती की आलोचना में स्वीकार करना या उसका रचना पर प्रभाव ढूँढ़ना भ्रामक या रूढ़िवादी है। आलोचना का कार्य रचना की आन्तरिक संरचनात्मक जटिलताओं का विवेचन करना है और पूर्ण रचना से उसके विभिन्न अंगों के शिल्पगत संघटनात्मक सम्बन्धों को निर्धारित करना है। इस प्रकार नई आलोचना रचना के संरचनात्मक संघटन के सूक्ष्म विवेचन में प्रवृत्त है, वह कविता की अर्थवत्ता, छन्द-योजना, बिम्ब-विधान, आलंकारिकता, प्रतीक-विधान आदि के विश्लेषण और सौन्दर्यानुशीलन को महत्त्व देती है। साथ ही आज का आलोचक काव्य को अनेक प्रकार से प्रभावित करने वाली अन्य धाराओं के—समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र आदि के—प्रभाव-विश्लेषण को महत्व नहीं देता। वह जीवनी, ऐतिहासिक परम्परा या सामाजिक पृष्ठभूमि को आवश्यक नहीं मानता, इसके स्थान पर कविता के मूल पाठ को अपने विचार-केन्द्र में रखता है।

आधुनिक हिन्दी आलोचना के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि यद्यपि पश्चिम के सम्पर्क में आने के बाद अन्य साहित्यिक विधाओं के विकास और प्रसार के साथ आलोचना का प्रारम्भ हुआ, पर शुरू में मानदण्ड के रूप में, विशेषकर काव्य में, संस्कृत काव्यशास्त्र का इस्तेमाल किया जाता रहा। द्विवेदी-युग के प्रमुख साहित्य-चिन्तकों ने काव्य की चर्चा में अलंकार, रीति, गुण, दोष, औचित्य तथा रस आदि पर विचार किया है। जिस युग में संस्कृत के काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था और जिस प्रकार काव्य अनुभव को व्याख्यायित करने में इनका उपयोग किया गया होगा, दोनों से आधुनिक युग और उसकी संवेदना बहुत अलग पड़ चुके हैं। इस कारण इनका प्रयोग बहुत-कुछ शास्त्रीय रहा, वह भी प्राचीन तथा मध्ययुगीन साहित्य की चर्चा के लिए एक सीमा तक उपयुक्त हो सका, पर आधुनिक साहित्य में उनका उतना भी उपयोग सम्भव नहीं हुआ। हिन्दी के आधुनिक साहित्य-चिन्तन के विकास के साथ उस पर यूरोपीय सौंदर्य शास्त्र, दर्शन और साहित्य चिन्तन का प्रभाव बढ़ता गया है।

स्पष्टत: हमारे साहित्य में यूरोप की प्रचलित और मान्य विचारधाराओं का प्रभाव परिलक्षित होता है, जिनके विरुद्ध यूरोप में प्रतिक्रिया शुरू हो चुकी थी। प्रभाववादी, भावमूलक, विषयपरक सौंदर्यशास्त्र, प्रत्ययवादी, विधेयवादी, अनुभववादी दर्शनों के प्रभाव से हिन्दी साहित्य-चिन्तन को अनेक दिशाएँ मिलीं। द्विवेदी-युग से ही भाव और कल्पना के तत्त्वों का समाहार हो जाता है। दूसरी ओर साहित्य को जीवन की व्याख्या भी माना गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य में सुरुचि पर बल दिया था और आनन्द को कला का उद्देश्य स्वीकार किया। मिल्टन के समान द्विवेदीजी ने काव्य में सरलता, ऐन्द्रिकता और भावावेश को महत्त्व दिया है। द्विवेदीजी की आलोचना-दृष्टि में तुलनात्मक और ऐतिहासिक पद्धतियों के सूत्र परिलक्षित होते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि इस प्रारम्भिक साहित्य-चिन्तन के युग में भी विधेयवादी दृष्टि के साथ यूरोप के विज्ञानवाद तथा ऐतिहासिकता का प्रभाव पड़ने लगा था। पर यहाँ याद रखना चाहिए कि द्विवेदीजी ने भारतीय काव्यशास्त्र का आश्रय छोड़ा नहीं है और उनके समसामयिक आलोचकों ने जैसा कहा गया है संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर साहित्यालोचन भी किया।

मिश्रबन्धुओं ने भावात्मक सौन्दर्य और विधेयवादी जीवन-दर्शनों का उपयोग अपनी आलोचनाओं में प्रारम्भिक रूप में किया है और उनमें स्वच्छन्दवादी मानदण्डों का व्यवहार भी यत्र-तत्र मिल जाता है, पर उनकी व्यावहारिक आलोचना में प्रधानता काव्य के परम्परित रस, अलंकार, गुण-दोष, औचित्य तथा छन्द आदि शास्त्रीय मानदण्डों को अपनाया गया है। यह अलग बात है कि उन्होंने कवि के सन्देश, अभिव्यक्ति के सौन्दर्य तथा तुलनात्मक पद्धति आदि का प्रयोग भी किया है। पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र और भगवानदीन जैसे संस्कृत काव्य-शास्त्र के आधार पर विभिन्न कवियों की तुलना करने वाले आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से भाव-सौन्दर्य, सूक्ष्म अभिव्यंजना, कल्पना तत्त्व, प्रभावशीलता आदि की व्याख्या करने की चेष्टा की है। इस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र के वस्तुपरक और रूप तत्त्व पर

बल देने वाले सिद्धान्तों का उपयोग उस समय की विकसित हो रही काव्य-दृष्टि तथा संवेदना के लिए किया जा रहा था।

इस विकास क्रम में रामचन्द्र शुक्ल का व्यक्तित्व अप्रतिम है, क्योंकि उन्होंने अपनी ग्राही प्रतिभा से यूरोपीय साहित्य-चिन्तन तथा भारतीय काव्यशात्र दोनों का उपयोग अपने युग की संवेदना और चेतना के अनुकूल किया है। उन्होंने निगमन पद्धति पर साहित्य के मानदण्डों का निर्धारण किया और पुनः उन्हें व्यावहारिक आलोचना में प्रयुक्त किया। प्रयोगात्मक समीक्षा की यह पद्धति अपने आप परम्परित मानदण्डों के यथावत् स्वीकार किए जाने के पक्ष में नहीं हो सकती। शुक्लजी ने एक ओर काव्य के भाव-पक्ष और विषयी पक्ष को महत्त्व देकर कवि की विशिष्टता और उसकी अन्तःप्रकृति की छानबीन की, तो दूसरी ओर रस, अलंकार आदि प्राचीन मतों की नवीन तथा मनोवैज्ञानिक व्याख्या करके और साहित्य चिन्तन के आधुनिक प्रतिमानों में स्थान देकर पुनर्प्रतिष्ठा की। उन्होंने वैज्ञानिक रीति से सर्वप्रथम सौन्दर्य तत्त्व का विवेचन-विश्लेषण किया और साथ ही साहित्य में मानववादी नैतिकता और आदर्शवाद को भी प्रतिष्ठित किया, आगे के समीक्षकों पर इसका काफी प्रभाव रहा है। इन आलोचकों ने सौन्दर्य तत्त्व के विवेचन में भाववादी तथा प्रभाववादी दृष्टियों को अपनाया और साथ ही परम्परित शास्त्रीय पद्धति का उपयोग भी किया।

शुक्लजी की समीक्षा-दृष्टि पूर्ववर्ती तथा समवर्ती साहित्य पर विचार करने के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई, पर छायावादी काव्य के सूक्ष्म, कल्पनाप्रधान, भावात्मक सौन्दर्य-बोध को पूर्णतः ग्रहण कर सकने में असमर्थ रही। शुक्लजी की दृष्टि मूलतः क्लासिकी है, इसी कारण उसमें उदात्त चरित्र, उदात्त शैली और प्रबन्ध-सौष्ठव को महत्त्व मिला है। ऐसा नहीं कि प्रगीति-काव्य का समुचित विवेचन शुक्लजी ने न किया हो, पर प्रगीति-काव्य को उन्होंने प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा कम महत्त्व दिया और उसका विवेचन रूप-विधान की दृष्टि से अधिक किया। छायावादी काव्य की वैयक्तिकता, स्वच्छन्दता, भावुकता, कल्पनाप्रियता, मार्मिकता तथा व्यंजकता की व्याख्या करने में इस युग का साहित्य-चिन्तन अधिकतर स्वच्छन्दतावादी और सौन्दर्यवादी हो गया। छायावादी कवियों में प्रसाद, पंत, निराला तथा महादेवी ने अंग्रेज़ी के रोमेण्टिक कवियों के समान अपने काव्य के बारे में इसी प्रकार की समीक्षा-दृष्टि को अपनाया है। आत्माभिव्यक्ति के रूप में काव्य की चर्चा करने में विचारक को वैयक्तिक धारणाओं को महत्त्व मिल जाना स्वाभाविक है। यहां प्रसाद आत्माभिव्यंजन के रूप में स्वानुभूति के आवेग की अभिव्यक्ति को काव्य स्वीकार करते हैं, महादेवी ने काव्य में अनुभूति की नवीनता और आन्तरिक गहराई को महत्त्व दिया है, पंत ने काव्य-सौन्दर्य में कल्पना-तत्त्व को स्वीकार किया है। इन कवि-आलोचकों ने काव्य का तात्त्विक विश्लेषण न करके उसकी आन्तरिक भावमयता का चित्र प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है, जिससे कवि के व्यक्तित्व तथा उसकी अनुभूति की व्याख्या अधिक होती है। कवि की आभ्यन्तर प्रेरणा और वैयक्तिक अभिव्यक्ति पर अधिक बल होने के कारण इस समीक्षा की दृष्टि भावपरक, व्यक्तिनिष्ठ तथा प्रभावमूलक ही रही है।

इस समय तक साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में अनेक साहित्येतर प्रतिमानों का प्रयोग यूरोपीय चिन्तन के सम्पर्क और प्रभाव के कारण किया जाने लगा था। सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, मानववादी, सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर साहित्य पर विचार करने की परम्परा शुरू हुई। प्रगतिशील समीक्षा के अन्दर मार्क्सवादी दर्शन तथा वर्ग-सिद्धान्त का प्रयोग किया गया, ऐतिहासिक व्याख्या के रूप में युगीन समाज तथा संस्कृति के आधार पर साहित्य के मूल्यांकन का प्रयत्न किया गया। कृति की रचना-प्रक्रिया तथा कवि की मनःस्थितियों को समझने के लिए व्यक्ति के मनोविज्ञान का आश्रय लिया गया और मनोविश्लेषण के सिद्धान्त का उपयोग भी किया गया। विश्वविद्यालयीय आलोचकों ने स्वच्छन्द और सौन्दर्यपरक चिन्तन को शास्त्रीय आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया है और साथ ही समसामयिक इन विधेयवादी समीक्षा-पद्धतियों के तत्त्वों का समाहार भी अपनी समीक्षा-पद्धतियों में किया है। यद्यपि इन दोनों प्रकार की पद्धतियों के समन्वय द्वारा विश्वविद्यालय के आलोचकों ने साहित्य-चर्चा में साहित्येतर मूल्यों की अपेक्षा रचना पर अधिक ध्यान केन्द्रित करने की चेष्टा की, पर उनके इस प्रयत्न में शास्त्रीयता प्रधान हो गई, साहित्य की रचनात्मक दृष्टि को व्याख्यायित नहीं किया जा सका। एक ओर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य की सामाजिक, युगीन तथा ऐतिहासिक चेतना को

सांस्कृतिक मानवीय अभिव्यक्ति के रूप में व्याख्यायित किया और रचना के सौन्दर्य को शाश्वत तथा सार्वभौम तत्त्व के रूप में विवेचित किया, तो दूसरी ओर कतिपय आलोचकों ने साहित्य-चिन्तन को अधिक वस्तुपरक और शास्त्रीय आधार देने का प्रयत्न किया। उन्होंने एक ओर भारतीय काव्यशास्त्र के रस, अलंकार, गुण-दोष तथा औचित्य आदि का आश्रय लिया, तो दूसरी ओर पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के कल्पना, सौन्दर्य, अनुभूति, निर्वैयक्तिकता आदि तत्त्वों को भी ग्रहण किया।

शुक्लजी ने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन के तत्त्वों का समन्वय अपनी निजी काव्य-दृष्टि तथा काव्यानुभव को व्याख्यायित करने के लिए किया था, उनकी पद्धति शास्त्र से काव्य की ओर जाने की नहीं थी, वरन् काव्य को अपनी युगीन दृष्टि से देखने के लिए शास्त्र के इस्तेमाल की रही है। इसीलिए उन्होंने अपने चिन्तन में काव्य को सदा केन्द्र में रखा है, निगमन पद्धति से आगे बढ़े हैं और यही कारण है कि अपनी समीक्षा-दृष्टि में न केवल मौलिक हैं, वरन् अपने युग की साहित्य-दृष्टि को रूप प्रदान करने में सफल हुए हैं। इसके विपरीत इधर के आलोचक शास्त्रों के माध्यम से, पश्चिमी चिन्तन की पद्धतियों को सामने रखकर साहित्य-चिन्तन के प्रतिमान खोजने की चेष्टा करते रहे हैं। इस प्रकार के विश्वविद्यालयीय आलोचक कभी किसी पश्चिमी चिन्तक के विचार-सूत्र को भारतीय सिद्धान्त में खोज लेते हैं, किसी भारतीय काव्यशास्त्र के तत्त्व को पश्चिमी सिद्धांत के अन्तर्गत प्रतिपादित करते हैं। दूसरी ओर रस जैसे निश्चित तथा परिभाषित सिद्धान्त में निहित व्यापक भावना को सौंदर्य रूप में निरूपित कर यूरोपीय सौन्दर्य-सिद्धान्तों के समकक्ष प्रतिपादित करते हुए उसे शाश्वत तथा सार्वभौम साहित्य-सिद्धान्त सिद्ध करते हैं। इस प्रकार रस क्या किसी भी भारतीय या यूरोपीय सिद्धान्त को सार्वभौम सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है।

इधर आधुनिक आलोचना के क्षेत्र में यूरोप के समान हिन्दी में भी साहित्येतर मूल्यों के आधार पर साहित्य पर विचार करने की पद्धतियों के प्रति विरोध देखा गया है, साथ ही इन नए समीक्षकों ने भाववादी तथा प्रभावमूलक कल्पना तथा सौन्दर्य की वायवी चर्चा करने वाली समीक्षा-दृष्टियों को अपर्याप्त माना है। पहले उनकी दृष्टि कृति की सर्जन-प्रक्रिया पर केन्द्रित थी, पर क्रमशः अब उनके सामने कृति का रचनात्मक संघटन प्रधान होता जा रहा है। अमरीकी अर्थ में संरचनावादी (स्ट्रक्चरलिस्ट) इनमें कोई नहीं है, पर वे रचनाकार की मनःस्थिति, रचना के विषय, उसके वातावरण, वह जिन प्रतिक्रियाओं का परिणाम है उनको गौण स्थान देते हैं। उनके सामने कृति है और उसके रचनात्मक संघटन के विश्लेषण द्वारा वे उसमें निहित सर्जन या सौन्दर्य या आनंद तत्त्व की व्याख्या करना चाहते हैं। वातावरण, परिस्थिति, युग-जीवन, सांस्कृतिक मूल्य, रचना-प्रक्रिया, कवि की मनः-स्थिति आदि वहीं तक महत्त्व रखते हैं, जहाँ तक वे कृति के संरचनात्मक संघटन के अंग या तत्त्व बन सके हैं। इस सामने आने वाली समीक्षा-दृष्टि से साहित्य-चिन्तन में एक बार पुनः साहित्य के निजी प्रतिमानों पर बल दिया जा सकेगा, साहित्येतर सन्दर्भों और मूल्यों के घटाटोप से उसे मुक्ति मिल सकेगी, उसके निजी मूल्यों का अनुसन्धान हो सकेगा। साथ ही ऐसे भाववादी, कल्पनापरक, प्रभावमूलक वायवी सिद्धांतों से साहित्य-चिन्तन में जो अस्पष्टता और अनिश्चय व्याप्त हो गया है, उनसे भी वातावरण खुल जाएगा।

यहाँ पुनः एक बार भारतीय काव्यशास्त्र से प्रेरणा और दिशा ली जा सकती है। वह सदा से वस्तुपरक चिन्तन, रूपवादी विश्लेषण पर बल देता आया है। उसमें न कभी भाववाद तथा प्रभाववाद को महत्त्व मिला है और न किसी प्रकार के विधेयवाद को। सौंदर्य को सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व माना गया, उसे अद्वैत और शाश्वत स्वीकार किया गया, उसे ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द तत्त्व भी माना गया, पर विचार करते समय उसे केवल व्यक्तिपरक या भावमूलक नहीं माना गया। सदा उसके रूप या शब्द तत्त्व को प्रधान रूप से सामने रखा गया। कैसा भी सूक्ष्म क्यों न हो, पर काव्य के अनुभव पर विचार वस्तुगत रूप में ही किया गया। काव्य को, रचना को सदा अपने-आपमें पूर्ण और स्वतन्त्र मानकर उस पर विचार किया गया। न तो उसे रचनाकार के व्यक्तित्व से सम्बद्ध करके देखा गया और न उस पर सामाजिक, युगीन अथवा अन्य किसी प्रकार की प्रतिक्रिया के रूप में विचार किया गया। **संस्कृत काव्यशास्त्र के इस वस्तुनिष्ठ और रूपपरक दृष्टिकोण के हम निकट हैं, वह हमारी साहित्य-चिन्तन की परम्परित दृष्टि है।** यह ठीक है कि पश्चिम के सम्पर्क में हमने वहाँ की विभिन्न सौन्दर्यवादी, दार्शनिक तथा विधेय-

वादी दृष्टियों से अपने साहित्य-चिन्तन को समृद्ध किया है, उसका विकास अनेक दिशाओं में किया है। पर आज जब हम यह अनुभव कर रहे हैं कि **साहित्य-चिन्तन को भटकाव से बचाना है, तो हमारे लिए अपनी निजी परम्परा तथा प्रवृत्ति की ओर ध्यान देना सहज और स्वाभाविक है।**

सम्प्रति यह कह पाना तो सम्भव नहीं है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के अलंकार, गुण, रीति, औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस आदि सिद्धान्तों का उपयोग हम आधुनिक काव्य-दृष्टि के लिए कैसे कर सकते हैं। वस्तुतः किसी भी सिद्धान्त और उसकी प्रक्रिया को उसके युग के बाहर उसी रूप में लगाना असंगत है। निश्चित सिद्धान्तों का विकास युग-विशेष के काव्य और उसकी संवेदना के आधार पर हुआ है, यद्यपि उनके माध्यम से साहित्य-विशेष के शाश्वत और सार्वभौम तत्त्वों का विश्लेषण किया जा सका था, पर इसी कारण वे दूसरे युगों के साहित्य के वैशिष्ट्य की व्याख्या नहीं कर सकते। अतः संस्कृत के इन काव्य-सिद्धान्तों की वस्तुनिष्ठ और रूपवादी दृष्टि को हम अपना सकते हैं और उनके माध्यम से हम ध्वनि, वर्ण, छन्द, शब्द, शब्द-शक्ति, व्यंजना-व्यापार, उपमान-योजना, बिम्बविधान, उक्ति-वैचित्र्य, वक्रोक्ति, गुणीभूत व्यंग्य, विभाव, अनुभाव, संचारी, साधारणीकरण आदि भिन्न-भिन्न विश्लेषण-विवेचन की पद्धतियों तथा प्रक्रियाओं से परिचित हो सकते हैं। और आगे अपनी नई समीक्षा-दृष्टि विकसित करने के लिए इनका आधार और प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र का मूलाधार शब्द और अर्थ है और उसमें भी चाहे अलंकार-विधान हो, लक्षणा-व्यंजना का प्रयोग हो, गुणों के अन्तर्गत वर्णव्यवस्था पर विचार हो अथवा रसप्रक्रिया को ग्रहण करने की बात हो, चिन्तन की दृष्टि शब्द-प्रयोग पर ही केन्द्रित रहती है। अतः काव्य के संरचनात्मक संगठन की रूपगत व्याख्या का आधुनिक आधार संस्कृत काव्यशास्त्र से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है, उसमें इसकी पूरी सम्भावना निहित है।

● ● ●

भाषावैज्ञानिक दृष्टि और आलोचना की नई भूमिका

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

"भाषा के काव्य-फलन के प्रति बधिर भाषा-वैज्ञानिक और भाषा-वैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषा-वैज्ञानिक प्रणालियों से अपरिचित साहित्यशास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं।"

—**रोमन याकोब्सन** (भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र)

आज के आलोचना-साहित्य को देखने-पढ़ने के बाद इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि साहित्य का अध्ययन करने वाले मर्मज्ञ समीक्षक और भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले विद्वान् भाषा-वैज्ञानिक, एक-दूसरे के दायित्व क्षेत्र से बहुत दूर जा छिटके हैं। साहित्यिक आलोचक और भाषा-वैज्ञानिक के बीच संवाद की कोई स्थिति ही नहीं दिखलाई पड़ती। हिन्दी भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में तो इनके बीच इतनी गहरी खाई आ चुकी है कि अगर कोई साहित्य का क्षेत्र अपना लेता है तो भाषा-विज्ञान का सामान्य ज्ञान भी उसे अनावश्यक बोझ प्रतीत होता है और अगर कोई अपने कार्य-क्षेत्र के रूप में भाषा-विज्ञान को स्वीकार कर बैठता है तो बोलचाल की भाषा से असम्बद्ध होने के कारण साहित्य को अपनी सीमा में अपनाने से ही इन्कार कर बैठता है। हिन्दी के एक ओर साहित्य के ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने साहित्य-सिद्धांत पर बहुत-कुछ लिखा है पर अपनी आलोचना एवं विवेचना में भाषा-वैज्ञानिक उपलब्धियों का कुछ भी न तो उपयोग किया और न उसके आधार पर आलोचना को वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया, तो दूसरी ओर ऐसे भाषाविद हैं जिन्होंने भाषा की रूप-प्रकृति को समझने-समझाने का तो प्रयत्न किया पर उस ज्ञान का उपयोग साहित्यिक रचनाओं के अध्ययन-विश्लेषण के निमित्त नहीं किया। एक ही 'अनुशासन' के भीतर से दो संस्कृतियों के बीच की बढ़ती खाई की समस्या का प्रश्न अगर विचारणीय है तब भाषा और साहित्य के अध्ययन-क्षेत्र के दुराव का प्रश्न आज सबसे अधिक हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

इस दुराव का कारण हिन्दी के विद्वानों का अपना प्रमाद और अज्ञानता ही है। साहित्यकार यह भूल जाता है कि साहित्य के सन्दर्भ में वह जिन आन्तरिक मूल्यों एवं रसानुभूति की चर्चा उठाता है उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम एकमात्र भाषा का विशिष्ट प्रयोग ही है। इसमें सन्देह नहीं कि अगर साहित्य से भाषा का आधार हटा दीजिए तो रचना का पूरा प्रासाद ही भरभराकर नीचे आ गिरेगा। मौखिक साहित्य में यह स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है। लिखित साहित्य में टाइपोग्राफी का प्रयोग प्रभावोत्पादकता के लिए किया जाता है, पर सम्पूर्ण रचना को ध्यान में रखने पर भाषा की अपनी शैली की तुलना में उसका महत्व नहीं के बराबर प्रतीत होता है। इसी प्रकार भाषा-वैज्ञानिकों के हाथ से यह बात छूट जाती है कि उनका कार्य-क्षेत्र किसी भाषा के बोलचाल वाले रूप के अध्ययन-विश्लेषण तक ही सीमित नहीं होता। भाषा का प्रत्येक रूप और उसकी प्रत्येक शैली उनके अध्ययन की तथ्य सामग्री हो सकती है और साहित्यिक भाषा, किसी भाषा की एक विशिष्ट बोली (डायलेक्ट) के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अगर साहित्यिक भाषा, बोलचाल की भाषा की ही एक शैली-विशेष है और भाषा-विज्ञान का क्षेत्र भाषा के प्रत्येक रूप के अध्ययन को अपने भीतर समेटता है तो इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य का अध्ययन भी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से करना संभव है। यह बात दूसरी है कि इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य होना अभी बाकी है।

दृष्टि, कार्य-प्रणाली और पारिभाषिक शब्द-प्रयोगों में विभिन्नता होते हुए भी साहित्यिक आलोचना और भाषा-

वैज्ञानिक अध्ययन में कुछ स्तरों पर समानता और लक्ष्य में एकरूपता देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए अगर हम तुलसी-साहित्य की आलोचना अथवा उनके साहित्य के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन की ओर प्रवृत्त होते हैं तो दोनों ही स्थितियों में पहले हमारी दृष्टि उनकी रचनाओं की पाठ-सामग्री पर पड़ती है। पर दोनों ही स्थितियों में पाठ-सामग्री' का विवेचन, अध्ययन का अन्तिम लक्ष्य नहीं बनता। आलोचक और भाषा-वैज्ञानिक दोनों ही 'पाठ-सामग्री' के भीतर निहित 'पैटर्न' और संघटना (स्ट्रक्चर) को ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं, दोनों ही 'संघटना' का निर्माण करने वाले अंगों में विभिन्न स्तरों पर पाए जाने वाले अन्तस्सम्बन्धों का पता लगाने की कोशिश करते हैं। साहित्यिक और भाषा-वैज्ञानिक पैटर्न का योग साहित्यिक कृति में कुछ इस प्रकार रहता है कि दोनों एक-दूसरे के समरूप न होकर भी एक-दूसरे की सरंचना के पूरक रूप में सिद्ध रहते हैं। एक-दूसरे के पूरक (कम्प्लीमेन्टेशन) की स्थिति ने आज के विद्वानों को यह भली-भाँति बता दिया है कि एक के अभाव में दूसरे का उचित ज्ञान संभव ही नहीं।

खेद की बात है कि साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत शैली के सन्दर्भ में अगर भाषा-शैली का विवेचन हुआ भी, तो उसे मात्र साहित्यिक भाषा की शैली तक ही सीमित रखा गया। साहित्यिक भाषा और उसकी शैली पर ही केवल अपना ध्यान केन्द्रित करने वाले आलोचकों ने साहित्यिक भाषा को एक स्वतंत्र इकाई के रूप में मान्यता दी। वे भूल गए कि साहित्यिक भाषा, बोल-चाल की सामान्य जीवन्त भाषा का ही एक विशेष रूप है, अतः उसको समझने के लिए आवश्यक है कि उसे बोलचाल की भाषा के सन्दर्भ में देखा जाए। उदाहरण के लिए, हम कविता की ही भाषा को लें। निश्चय ही कविता में प्रयुक्त भाषा का वाक्य-गठन सामान्य भाषा में प्रयुक्त वाक्य-गठन के 'स्ट्रक्चर' से भिन्न होता है। अगर व्याकरण की दृष्टि से देखें तो कई स्तरों पर काव्य-भाषा, उस भाषा के सामान्य नियमों का अतिक्रमण करती पाई जाती है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि काव्य-भाषा का अपना वाक्य-गठन होता है, उसकी भाषा का अपना स्ट्रक्चर होता है। पर इस वाक्य-गठन और काव्य-भाषा के अन्य स्तरों पर पाए जाने वाले 'स्ट्रक्चर' को क्या हम एक 'नई' भाषा का रूप-विधान मान लें? क्या काव्य-भाषा के रूप-विधान को सामान्य भाषा के 'नाम' से हटी शैली के रूप में देखना उचित नहीं होगा? क्या काव्य-भाषा का 'पैटर्न' सामान्य भाषा के पैटर्न' की ही एक विशेष स्थिति में, विशेष प्रभाव के लिए प्रयुक्त 'उपश्रेणी' नहीं है?

अगर यह सही है कि साहित्यिक भाषा का 'पैटर्न' वस्तुतः एक विशेष लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रयुक्त सामान्य भाषा के 'नाम' की ही एक 'उपश्रेणी' है, तब इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं कि भाषा के स्तर पर साहित्यिक शैली का विवेचन मात्र साहित्य तक सीमित नहीं किया जा सकता, उसे सामान्य भाषा के 'पैटर्न' के सन्दर्भ में ही देखना होगा। भाषा-विज्ञान का प्रमुख क्षेत्र ही भाषा के 'पैटर्न' की खोज है। अब तो यह भी कहा जा सकता है कि आज का भाषा-वैज्ञानिक केवल सामान्य भाषा के ही 'पैटर्न' की खोज नहीं करता वरन् भाषा की उन सभी शैलियों के पैटर्न' की खोज को अपना विषय बनाता है जो उस भाषा से किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध है। अतः भाषा-विज्ञान ने शैली-विज्ञान की जिस शाखा को अपना अध्ययन-क्षेत्र स्वीकार किया है वह वस्तुतः भाषा की समस्त संभावनाओं एवं अभिव्यक्ति के सभी रूपों को अपने भीतर समाहित करती है। यह बात दूसरी है कि इस क्षेत्र के भीतर आज प्रमुख स्थान साहित्यिक भाषा के शैली-विधान को दिया जा रहा है, पर महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उसका क्षेत्र अब मात्र साहित्यिक भाषा की शैली तक ही सीमित नहीं रह गया है, वह अभिव्यक्ति के स्तर पर भाषा की समस्त संभावना और क्षमता के अध्ययन तक अपना विस्तार पा चुका है।

सच तो यह है कि किसी साहित्यिक कृति के सन्दर्भ में उसके वस्तु एवं अभिव्यक्ति पक्ष के अन्तस्सम्बन्धों को सही रूप में न समझने के फलस्वरूप ही भाषा की महत्ता का हम ठीक से आकलन नहीं कर पाए हैं। दूसरी बात यह है कि हमारी आलोचनात्मक दृष्टि का सीधा और गहरा सम्बन्ध इस तथ्य से भी है कि हम साहित्य को किस रूप में स्वीकार करते हैं। साहित्य के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण, निश्चय ही उसकी आलोचनात्मक पद्धति को प्रभावित करता है। अतः आवश्यक है कि आलोचनात्मक दृष्टि की विवेचना के पूर्व हम यह देखें कि मोटे तौर पर साहित्य के प्रति आलोचकों की अपनी धारणा क्या रही है। इस धारणा का सीधा सम्बन्ध साहित्य के रूप-गठन-सम्बन्धी मान्यता से है और इसी रूप-

गठन का मुख्य आधार है साहित्य का अभिव्यक्ति पक्ष, जिसका साँचा भाषा के आधार पर निर्मित होता है।

उदाहरण के लिए, आलोचकों का एक समुदाय साहित्य का सम्बन्ध सीधे लोक-जीवन के अनुभवों के साथ जोड़ता है। इनकी मान्यता है कि "काव्य-दृष्टि कहीं तो—१, नरक्षेत्र के भीतर रहती है (२) कहीं मनुष्येतर बाह्य-सृष्टि के और (३) कहीं समस्त चराचर के।"[१] अर्थात् साहित्य और कुछ नहीं जीवन एवं प्रकृति की वास्तविक पर घनीभूत अनुभूति के उद्घाटन का माध्यम है। इस मान्यता के अनुसार साहित्य की लक्ष्यसिद्धि स्वयं साहित्य के भीतर निहित नहीं रहती। साहित्य तो मात्र एक माध्यम है एक विशेष लक्ष्य-सिद्ध का, भले ही वह सिद्धि 'हृदय-प्रसार' हो, 'लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा' हो अथवा 'अनुभवों के प्रति सन्तुलित वृत्ति का निर्माण हो। आलोचकों का दूसरा समुदाय साहित्य को प्रतीकों के आपसी आत्यन्तिक सम्बन्धों के आधार पर गठित सौन्दर्यशास्त्रीय संघटना की अपने में ही पूर्ण एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में अपनाता है। "काव्य में विषय से अधिक टेकनीक पर ध्यान" देने की आवश्यकता को जब अनुभव किया गया तो वस्तुतः इस दिशा में प्रयोग-कर्ता कवि को तमाम उसकी उद्घोषणाओं के बावजूद मात्र "राही अथवा राहों के अन्वेषी" मान लेना उनकी साहित्यिक प्रक्रिया की सही भूमिका से इनकार करना होगा। वस्तुतः वे इसके द्वारा कृति में अपना नया अर्थ भरने का प्रयत्न कर रहे थे। कहाँ तक अपनी लक्ष्य-पूर्ति में वे सफल हो सके यह बात दूसरी है। नया आलोचक वस्तुतः 'अपने नये अर्थ' को साहित्य के दायरे के भीतर ही पाना चाहता था। वह साहित्य को मात्र माध्यम नहीं मानता था। साहित्यिक कृति उसके लिए साहित्य के बाहर स्थित लक्ष्य-सिद्धि का कोई उपकरण—भले ही वह कितना ही विशिष्ट क्यों न हो—नहीं रहा। इन नए आलोचकों के अनुसार साहित्य की सिद्धि, आत्यन्तिक मूल्यों (टर्मिनल वैल्यूज़) की अलग, विशिष्ट और अपने में पूर्ण संसार की सृष्टि है। वास्तविक संसार और आत्यन्तिक मूल्यों के सहारे निर्मित संसार दो भिन्न इकाइयां हैं। पहले संसार का अनुभव-बोध हमें भाषा के सामान्य प्रयोग द्वारा होता है जबकि आत्यंतिक मूल्यों के सहारे निर्मित संसार, पूरा-का-पूरा साहित्यिक कृतियों के दायरे में बना होने के कारण भाषा की एक विशिष्ट (साहित्यिक) शैली के माध्यम द्वारा ही जाना-पहचाना जा सकता है।

साहित्य-सम्बन्धी इन दो आलोचनात्मक दृष्टियों के आधार पर कविता की भाषा की कार्य-सिद्धि पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। जो आलोचक, कविता की लक्ष्य-सिद्धि को स्वयं कविता के बाहर मानते हैं उनके लिए कविता की भाषा खिड़की के उस पारदर्शी शीशे के समान है जिसके सहारे वे बाह्य जीवन को देखते, समझते और उसका अनुभव करते हैं। पर जो कविता की लक्ष्य-सिद्धि को स्वयं कविता के भीतर ही स्थित मानते हैं उनके लिए कविता की भाषा विभिन्न कोणों से काटे गए दर्पण के उस 'सेट' के समान है जिसमें बाह्यजीवन की प्रतिच्छवि एक गुणात्मक भेद के साथ अनन्त रूप से उसमें प्रतिबिम्बित होती रहती है पर, अन्ततः प्रतिच्छवि होने के कारण, उसके यथार्थ की सत्ता उसी दर्पण में ही बँधी होती है।

साहित्य-सम्बन्धी इन दो मान्यताओं में सामंजस्य स्थापित करने वाला आलोचकों का एक तीसरा समुदाय भी है जो साहित्य की भाषा को एक साथ 'दर्पण का सेट' और 'खिड़की का पारदर्शी शीशा'—दोनों ही स्वीकार करता है। साहित्यकार, शैली-निर्माण की दृष्टि से तो शब्दों का नियोजन विभिन्न कोणों-से काटे गए दर्पण की एक विशेष व्यवस्था एवं क्रम के रूप में करता है पर सृजनात्मक प्रक्रिया के सम्पन्न होते-होते दर्पण का यह सेट साहित्यिक रचना और बाह्य-जीवन के संदर्भ में अन्ततः खिड़की के पारदर्शी शीशे में बदल जाता है। इस तीसरे मत के समर्थक हैं—मुरे क्रेयगर, जिनकी धारणा है कि साहित्य की भाषा को, खिड़की का पारदर्शी शीशा और 'दर्पण का सेट' मानने वाली पद्धतियाँ क्रमशः पूर्व नव्य समीक्षा (प्रि न्यू क्रिटीसिज्म) और 'नव्य-समीक्षा' की आलोचना प्रणाली से सम्बद्ध हैं जबकि उनकी पद्धति अत्याधुनिक है और वह 'नव्य-समीक्षा' से आगे की प्रणाली का विकास करती है।[२]

ध्यान देने की बात है कि क्रेयगर प्रभृत विद्वान आलोचक यह भूल जाते हैं कि कोई वस्तु 'क्या है' और वह कौन-सा 'कार्य सम्पादित करती है' आपस में सम्बद्ध होते हुए भी दो विभिन्न क्षेत्रों के प्रश्न हैं। 'क्या है'—प्रश्न, वस्तु की अपनी बनावट और संरचना के उत्तर की अपेक्षा रखता है जबकि 'कार्य-सम्पादन' उस वस्तु की कार्य-क्षमता 'पोटेन्शयैलिटी' पर आधारित होती है। यह ठीक है कि वस्तु

की कार्य-क्षमता की सीमा वस्तु की संरचना से सीधे संबंधित है, पर वस्तु अपने में एक स्वतन्त्र इकाई होती है जबकि वस्तु का उपयोग करने वाला, उस वस्तु से भिन्न दूसरी इकाई होता है जो उन तमाम संभावनाओं का पता लगाने के लिए स्वतन्त्र है जो वस्तु अपनी विशेष संरचना के कारण उसे प्रदान करती है। इसी संभावना के आधार पर वह उसकी कार्य-क्षमता का पता लगाता है और अपनी आवश्यकता के अनुसरण से किसी विशेष दिशा में उसका उपयोग करता है। ध्यान दें, मैंने वस्तु के उपयोग की बात न उठाकर उसकी कार्य-क्षमता की चर्चा उठाई है। उदाहरण के लिए 'अणु (एटम) क्या है'--इस प्रश्न का सम्बन्ध अणु की संरचना से है। अणु की संरचना का ज्ञान उसकी कार्य-क्षमता का पता तो देता है पर किसी विशेष दिशा में उसका प्रयोग—अणु-बम ऐसे घातक शस्त्र भी बने हैं और शान्ति-दूत के रूप में उसके सहारे एलैक्ट्रानिक यंत्र भी—किसी अन्य के माध्यम से होता है। जिस प्रकार विज्ञान का अपना क्षेत्र, 'अणु' की संरचना और उसकी कार्य-क्षमता तक ही सीमित है अर्थात् वह अपने क्षेत्र में रखकर केवल इसी प्रश्न के उत्तर को देना उचित समझता है कि वस्तु क्या है, ठीक उसी प्रकार साहित्य की आलोचना का अपना क्षेत्र भी वस्तुतः कृति की संरचना एवं कार्य-क्षमता को लेकर है न कि वह वस्तु क्या करती है अथवा उस वस्तु का उपयोग क्या है।

इस दृष्टि से देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि जो आलोचक साहित्य अथवा उसकी भाषा को 'पारदर्शी शीशे' के समान मानते हैं, जिसके माध्यम से हम बाह्य जीवन और जगत को और भी गहराई से देखने में सफल होते हैं वस्तुतः 'वस्तु साहित्य क्या है' के प्रश्न के उत्तर न देने के कारण वे साहित्य के अपने क्षेत्र से बाहर चले जाते हैं और उनकी आलोचना भी साहित्येतर हो उठती है। और यही कारण है कि आलोचना के आगे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक आदि विशेषण लगाने की उन्हें आवश्यकता प्रतीत होती है। यहाँ पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि 'रस' को लेकर साहित्य की जो आलोचना की जाती है वह भी साहित्येतर आलोचना है, क्योंकि वह भी कृति की संरचना अथवा कार्य-क्षमता की विवेचना को अपना आधार नहीं बनाती वरन् कृति के 'उपयोग' को अपनी दृष्टि में रखकर साहित्य का मूल्यांकन करती है। और जो आलोचक, साहित्य और भाषा को एक साथ 'पारदर्शी शीशा' और 'दर्पण का सेट' दोनों स्वीकार करते हैं—उनके सामने कृति की संरचना और उस कृति के उपयोग का भेद स्पष्ट नहीं होता और न वे साहित्य की 'कार्य क्षमता' और उसके उपयोग में ही सूक्ष्म अन्तर स्थापित कर पाते हैं।

: २ :

अगर साहित्य की आलोचना का अपना क्षेत्र साहित्यिक रचनाओं की संरचना और उस संरचना के सन्दर्भ में उसकी कार्यक्षमता को समझने और पता लगाने तक सीमित है तो निश्चय ही आलोचना को जिस कार्य-प्रणाली को अपनाना होगा उसका स्वरूप विवरणात्मक और संघटनात्मक (स्ट्रक्चरल) होगा। विवरणात्मक पद्धति द्वारा आलोचक संरचना का विवरण प्रस्तुत करेगा और संघटनात्मक पद्धति द्वारा उस संरचना के भीतर 'पैटर्न' को ढूँढकर उसकी कार्य-क्षमता की ओर संकेत देगा। आज के भाषा-विज्ञान की सबसे बड़ी उपलब्धि वस्तुतः भाषा-विश्लेषण के सन्दर्भ में व्याकरण के नियम-निर्देशात्मक (प्रेस्क्रिप्टिव) के स्थान पर उसके विवरणात्मक और संघटनात्मक पद्धति को विकसित करने में है। जो पद्धति सामान्य भाषा के विश्लेषण के लिए प्रयुक्त होगी, कार्य-प्रणाली के रूप में वह भाषा के साहित्यिक रूप पर भी लागू की जा सकती है और अगर प्रणाली वैज्ञानिक है तो निश्चित ही उसका विस्तार शैली के हर क्षेत्र तक संभव हो सकता है। 'कार्य-प्रणाली' के रूप को लेकर साहित्य-विश्लेषण के क्षेत्र में भाषा-विज्ञान की यह महत्तापूर्ण देन है।

शैली और संघटना में दो ऐसे मूल प्रत्यय हैं जो भाषा-विज्ञान और साहित्यिक आलोचना को संधि-स्तर पर ला खड़ा करते हैं। दोनों क्षेत्र अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि किसी वस्तु—चाहे वह भाषा हो अथवा साहित्य—की संघटना कुछ मूल तथ्यों (आइटम्ज़) के सामान्य समूह से कहीं कुछ भिन्न अर्थ रखती है। दोनों अपनी विषय वस्तु-वाक्य अथवा कविता, को मूलतः 'गेस्टाल्ट' की एक विशेष विधा के रूप में ग्रहण करते हैं। इस विधा के निर्माण में कुछ भौतिक तथ्यों (फ़िज़िकल आइटम्ज़) का योग रहता है और जो आपस में स्थिर अन्तर्सम्बन्धों की एक विशेष पद्धति में इस प्रकार बँधे होते हैं कि उस पद्धति से हटकर जब वे भौतिक

तथ्य संयुक्त होते हैं तब पहले की 'पूर्ण इकाई' का स्वरूप बदल जाता है अथवा वह इकाई ही टूटकर छिन्न-भिन्न हो जाती है।[3] यह स्थिति जितनी वाक्य पर लागू होती है उतनी ही कविता पर। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री हाकेट का तो यहाँ तक कहना है कि विश्लेषण की जिस प्रक्रिया और पारिभाषिक शब्दों के जिस प्रत्यक्ष-बोध को छोटे स्तर पर भाषा-वैज्ञानिक अपनाता है, इस दिशा में उसका उपयोग अब साहित्यिक आलोचक भी संघटना के बड़े स्तर पर प्रयोग में लाता है। लेकिन इसके बावजूद स्थिति यह है कि इन दो 'विषय-वस्तुओं—भाषा और साहित्य, वाक्य और कविता के संधि-क्षेत्र का अध्यन अभी नहीं के बराबर हुआ है[४]।'

उक्त कथन प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक हाकेट का है जिन्होंने भाषा और साहित्य के संधि-क्षेत्र के अध्ययन की प्रगति पर सन् १९५८ में अपना वक्तव्य दिया था। पर इस बीच उक्त क्षेत्र को लेकर कम-से-कम ३०० स्वतन्त्र निबन्ध अब तक मात्र अंग्रेज़ी भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं[५]। इसके अतिरिक्त कई लेख रूसी, चेक, जर्मन और फ्रेंच भाषाओं में भी मुझे देखने को मिले। स्वतन्त्र निबन्धों के अतिरिक्त मोनोग्राफ़ और पुस्तकों के रूप में भी इस दिशा में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है[६]। ध्यान देने की बात है कि ये सभी विवेचन-मात्र सैद्धान्तिक नहीं। व्यावहारिक रूप में एमिली डिकिंसन,[७] सैमुएल जान्सन,[८] लिओ तालसताय[९] की साहित्यिक रचनाओं के विश्लेषण के रूप में प्रयुक्त भी हो चुकी है। ब्राउनिंग की प्रसिद्ध छोटी कविता—'पीपा-पासेस' का संघटनात्मक विश्लेषण, उस कविता के सौंदर्य के उद्-घाटन में कितना सहायक हो सकता है—इसका परिचय ए०ए० दिल द्वारा की गई उसकी विवरणात्मक आलोचना से जाना जा सकता है।[१०]

जहाँ तक शैली का प्रश्न है–भाषा-वैज्ञानिक आलोचना एक व्यापक स्तर पर उसे ग्रहण करती है। शैली भाषा का मात्र अलंकरण नहीं। यह ठीक है कि शैली, अभिव्यक्ति की एक प्रणाली है पर उसे यह कहकर कि वह साधन है, साध्य नहीं अथवा अर्थ के निकल जाने के पश्चात् जो 'तत्त्व' भाषा की सजावट के लिए शेष बचता है उस रूप में ग्रहण कर, वस्तुतः शैली के मूल प्रयोजन से ही हम अलग हट जाते हैं। उदाहरण के लिए हम अलंकार को ही लें जो शैली का एक विशिष्ट अंग हैं। (ध्यान रहे स्वयं शैली नहीं)। शुक्लजी का कथन है कि आलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में (जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि में) चाहे वाक्य-वक्रता के रूप में (जैसे, अप्रस्तुत प्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध इत्यादि में) चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे अनुप्रास में) लाए जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष के साधन के लिए[११]।" एक दूसरे स्थल पर वे अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"किसी वस्तु विशेष से किसी अलंकार-प्रणाली का सम्बन्ध नहीं हो सकता।" किसी तथ्य तक वह परिमित नहीं रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस व्यवस्था का विषय[१२] है।" और अब यह स्पष्ट हो चुका है कि अलंकार प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु नहीं, बल्कि वर्णन करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास-खास ढंग हैं[१३]।"

स्पष्ट है कि शुक्लजी वर्णन करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ अथवा कहने के ढंग को विषय-वस्तु के साथ जोड़कर नहीं देखना चाहते। लेकिन शैली के सन्दर्भ में जिस अभिव्यक्ति-भेद को शैली-विज्ञान अपने सामने रखता है—उसे वह विषय-वस्तु अर्थात् 'अर्थ' से असम्पृक्त कर नहीं देखता। शैली वस्तुतः अर्थ-विस्तार की सूक्ष्म मर्यादा का निर्माण करती है, वह टेक्सचर अथवा मुख्यार्थ के साथ एक गौण अर्थ का सृजन करती है। शैली का अध्ययन केवल अभिव्यक्ति के स्तर पर करना उचित नहीं। उसे 'अन्तर्टोन, की तरह प्रनिध्वनित 'द्वितीय अर्थ' के रूप में भी मानना होगा अन्यथा साहित्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में उसकी सत्ता संदिग्ध ही मानी जाएगी[१४]। जब हम भाषा-शैली की चर्चा उठाते हैं तब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हमें भाषा की अभिव्यक्ति प्रणाली की ओर संकेत दे रहे हैं जो शब्दों के माध्यम से 'क्या' कहा जा रहा है के साथ संघटनात्मक स्तर पर पूरी तरह से गुँथा होता है। विम्सैट का तो यहाँ तक कहना है कि 'भाषा-शैली' का मुख्य क्षेत्र 'अर्थ' ही है लेकिन इस दिशा में अर्थ के दो विशिष्ट स्तरों को ठीक से पहचान लेना चाहिए—प्रमुख अर्थ और फिर छाया अथवा 'इकों' की तरह ध्वनित द्वितीय अर्थ। शैली का सम्बन्ध वस्तुतः इस दूसरे स्तर के अर्थ में रहता है।[१५]

अगर वर्णन करने की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ, अर्थ के स्तर पर वस्तु-पक्ष के साथ इस प्रकार गुम्फित रहती हैं कि वे द्वितीय अर्थ (सेकण्डरी मीनिंग) को छाया के साथ उद्-

भासित करती है, तब स्पष्ट है कि अर्थ के इस 'अंडरटोन' गूँज को जानने-पहचानने का रास्ता अभिव्यक्ति प्रणाली की संघटना का ही हो सकता है। उदाहरण के लिए कविता की शैली विधा को ही लें जहाँ 'अंडरटोन' का व्यापक प्रसार रहता है। आखिर कवि इस 'अंडरटोन' की सृष्टि कैसे करता है? अथवा पाठक इसका पता कैसे पाता है? निश्चय ही कविता में प्रयुक्त भाषा-संघटना के माध्यम से। कविता में भाषा का स्वरूप ठीक वैसा ही नहीं रहता जैसा भाषा के बोलचाल के सामान्य रूप में। पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि कविता की भाषा के स्वरूप को समझा किस आधार पर जाए? अगर हम यह मानते हैं कि कवि, एक विशिष्ट भाषा-शैली का प्रयोग करता है तब उसकी 'विशिष्टता' को किसी 'सामान्य' के अतिक्रम के रूप में ही तो परखा जा सकता है। 'विशिष्ट' और 'सामान्य' सापेक्षिक प्रत्यय हैं और 'सामान्य' का परिचय सहज-साध्य है अतः 'विशिष्टता' को 'सामान्य' के सन्दर्भ में ही देखकर समझा जाना अपेक्षित है।

भाषा का सामान्य रूप बोलचाल की भाषा होती है अतः कविता की भाषा-शैली की विशिष्टता को सामान्य बोलचाल की भाषा के 'स्ट्रक्चर' के अतिक्रम (डिविएशन) के रूप में ही देखना होगा। अरस्तू ने बहुत पहले कविता के आधारभूत तत्त्व के रूप में इस अतिक्रम (डिविएशन) की ओर संकेत किया है।[१६] प्राग स्कूल ने इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन पिछले दशक में प्रस्तुत किया है।[१७] लेविन तो इस अतिक्रम को कविता के वाह्य और आन्तरिक, दोनों ही स्तर पर स्वीकार करते हैं।[१८] पर प्रश्न तो यह है कि कविता के इस अतिक्रम को समझने की कोई भाषा-वैज्ञानिक पद्धति भी है? कविता की विशिष्ट भाषा-शैली अगर भाषा के सामान्य स्ट्रक्चर में भली-भाँति बँध नहीं पाती और उससे अलग एक अन्य स्ट्रक्चर का निर्माण करती है—तो उसको समझा कैसे जाये? अगर हम यह कहें कि कविता की भाषा का अपना स्ट्रक्चर होता है जो सामान्य भाषा के व्याकरण की परिधि के बाहर है—और फिर यह मान लें कि व्याकरण का अतिक्रमण करने के लिए कवि को छूट है—तो वस्तुतः हम प्रश्न और उत्तर को एक गोलाई में घुमाकर इस प्रकार उन्हें आमने-सामने खड़ा कर देते हैं कि हर उत्तर फिर अपने लिए स्वयं प्रश्न बन जाता है।

इस समस्या का समाधान करने की कोशिश चोम्स्की और उनके सहयोगियों ने की है। कविता की भाषा-शैली को समझने के लिए उन्होंने व्याकरणिकता के स्तर-भेद की कल्पना को सामने रखा।[१९] उदाहरण के लिए, हिन्दी के निम्नलिखित वाक्यों को लीजिए।

खण्ड १ (अ) लड़का अँधेरे से डरता है।
(आ) अँधेरा लड़के से डरता है।
खण्ड २ (अ) अँधेरा लड़के को डराता है।
(आ) लड़का अँधेरा को डराता है।

पढ़ते ही स्पष्ट अनुभव होता है कि खण्ड १ और २ का (अ) वाक्य, उसके (आ) की तुलना में अधिक व्याकरण-सम्मत है यद्यपि वाक्य-गठन की दृष्टि से दोनों हिन्दी के अपने पैटर्न के अनुरूप हैं।

उदाहरण के लिए क्रम २ का (अ) और (आ) दोनों हिन्दी के कर्ता—कर्म—क्रिया के अनुसार गठित हैं। लेकिन व्याकरणिक सघनता की भावना को हम कहीं अधिक स्पष्ट कर सकते हैं अगर संज्ञा को हम प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक दो समूहों में विभाजित कर उसकी अन्विति क्रिया के रूप-भेद से जोड़ें। उदाहरण के लिए एक तरफ़ तो हम संज्ञा को लड़का (प्राणिवाचक) और अँधेरा (अप्राणिवाचक) विभाजित कर दें और दूसरी ओर 'डर' के दो रूप डरना (अकर्मक) और डराना (सकर्मक) में बाँट दें। हिन्दी में 'डरवाना' के रूप में प्रेरणार्थक क्रिया का भी प्रयोग होता है।

संज्ञा : प्राणिवाचक—संज्ञा १
अप्राणिवाचक—संज्ञा २
क्रिया : अकर्मक—क्रिया १
सकर्मक—क्रिया २

हिन्दी का अपना वाक्य-गठन—संज्ञा फ्रेज़ + क्रिया—फ्रेज़ को हम संज्ञा—संज्ञा + क्रिया के पेटर्न पर गठित मान सकते हैं। इस दृष्टि से ऊपर दिए चारों वाक्य समान रूप से व्याकरणिक हैं। पर संज्ञा और क्रिया के ऊपर दिए विभाजन के अनुरूप लिखें तो उसका स्वरूप होगा—

१. (अ) संज्ञा १ + संज्ञा २ + क्रिया १
(आ) संज्ञा २ + संज्ञा १ + क्रिया १
२. (अ) संज्ञा २ + संज्ञा १ + क्रिया २
(आ) संज्ञा १ + संज्ञा २ + क्रिया २

इस दृष्टि से अगर हम १ और २ क्रम के (अ) वाक्य को अधिक व्याकरणिक अनुभव करते हैं तब यह कहा जा सकता

है कि संज्ञा १+संज्ञा २+क्रिया १ और संज्ञा+संज्ञा २+संज्ञा १+क्रिया २ अधिक व्याकरणिक हैं और उनकी तुलना में संज्ञा २+१+क्रिया १ और संज्ञा १+संज्ञा २+क्रिया २ कम व्याकरणिक। इस फार्मूला को और भी सटीक बनाया जा सकता है अगर हम कुछ और वाक्यों को इस सन्दर्भ में लें। उदाहरण के लिए इन दो वाक्यों को देखें—लड़का पिता से डरता है, और लड़का माँ को डराता है। पहला वाक्य अकर्मक क्रिया होने के कारण पहले खण्ड और दूसरा सकर्मक क्रिया के प्रयोग के कारण दूसरे खण्ड में रखा जा सकता है। ये दोनों वाक्य व्याकरणिक संघनता की दृष्टि से (अ) श्रेणी के हैं अतः समान फार्मूले को निकालने के लिए इन्हें समान स्तर पर रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए—

१. (अ) $\overline{\text{संज्ञा १}}^{\text{क}}+\overline{\text{संज्ञा २}}^{\text{ख}}+\overline{\text{क्रिया १}}^{\text{ग}}$ (लड़का अँधेरे से डरता है।)

(ई) संज्ञा १+संज्ञा १+क्रिया १ (लड़का पिता से डरता है।)

२. (अ) संज्ञा २+संज्ञा १+क्रिया २ (अँधेरा लड़के को डराता है।)

(ई) संज्ञा १+संज्ञा १+क्रिया २ (लड़का माँ को डराता है।)

अगर खण्ड १ के (अ) और (इ) के वाक्यों के खाने (स्लॉट) क, ख और ग को देखें, तो स्पष्ट हो जाता है कि खाना क और ग दोनों समान हैं पर खाना ख में संज्ञा २ भी आ सकता है और संज्ञा १ भी। अतः इस स्थान पर मात्र संज्ञा लिखा जाना संभव है। अतः खण्ड १ का फ़ार्मूला बनेगा।

संज्ञा १+संज्ञा+क्रिया १

इसी प्रकार खण्ड २ का फार्मूला होगा—

संज्ञा+संज्ञा १+क्रिया २

कविता में अगर वाक्यों का गठन समाचार भाषा के गठन से भिन्न मिलता है—(अँधेरा लड़के से डरता है और लड़का अंधेरे को डराता है—ऐसे वाक्य कविता में संभव हैं)—तो उसे सामान्य भाषा के 'नाम' से अतिक्रम ही कहा जाएगा। इसी प्रकार के वाक्य हैं—पेड़ गीत गा रहे हैं, हवा सीटी बजा रही है, समय भागता है आदि। व्याकरणिक सघनता की दृष्टि से ऐसे वाक्य अपेक्षाकृत कम व्याकरणिक हैं और कविता की भाषा-शैली के स्तर पर भाषा की एक उप-श्रेणी का निर्माण करते हैं। इस उपश्रेणी को उस भाषा का 'सब-पैटर्न' कहा जा सकता है। ध्यान दें कि ये सब-पैटर्न वस्तुतः अर्थ स्तर पर अंडर होने की भी सृष्टि करते हैं। अगर ऐसे वाक्यों में अकर्मक क्रिया उद्देश्य के रूप में हमेशा प्राणिवाचक संज्ञा के साथ ही अन्विति स्थापित करती है तब सब-पैटर्न में प्राणिवाचक के स्थान पर अप्राणिवाचक संज्ञा का प्रयोग स्वयमेव निर्जीव तत्त्व में सजीव व्यक्तित्व के आरोपण का निमित्त बन जाएगा। साहित्य में मानवीकरण (परसोनिफिकेशन) का सिद्धान्त भी यही है। अँधेरा लड़के से डरता है—वाक्य में डरना क्रिया की अन्विति अँधेरे (अप्राणिवाचक संज्ञा) से है—जबकि हम देख चुके हैं कि सामान्य भाषा के 'नाम' के अनुसार उसकी अन्विति प्राणिवाचक संज्ञा के साथ होनी चाहिए। पर अगर ऐसा वाक्य कविता में प्रयुक्त होने के कारण भाषा का एक सब-पैटर्न बनाने में सक्षम है तो प्राणिवाचक संज्ञा के स्थान पर प्रयोग करने के कारण-मात्र से 'अँधेरे' में सजीव व्यक्तित्व का आरोपण हो जाता है। अँधेरा एक सजीव प्राणी की भाँति सिद्ध हो उठता है जो बच्चे से डरता है। इसमें दोनों भाव निहित हो सकते हैं—अँधेरा, निर्बल प्राणी है जबकि बच्चा, सबल। पर अंडर टोन के रूप में यह भी ध्वनित होता है कि बच्चा बहुत बहादुर है क्योंकि वस्तुतः डरना तो बच्चे को चाहिए (सम्मान्य भाषा के रूप में उसका प्रयोग होगा बच्चा अँधेरे से डरता है) पर वह ऐसा बहादुर है कि न केवल वह नहीं डरता है पर स्वयं जिससे उसे भय खाना चाहिए वह स्वयं उससे डरता है। (वाक्य—रचना के आधार पर साहित्यिक विशेषताओं को समझने की दिशा में यह एक दृष्टान्त है। वैसे वाक्य-रचना विज्ञान के अतिरिक्त ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान, अर्थविज्ञान आदि कई स्तरों पर भी साहित्यिक विशिष्टताओं का उद्घाटन संभव है।)

व्याकरणिक संघटना के सिद्धान्त पर भाषा का विश्लेषण करने वाले विद्वान, कविता की भाषा को किसी कृत्रिम भाषा के रूप में ग्रहण नहीं करते। भाषा का यह रूप भी वस्तुतः भाषा की एक शैली है जो एक विशेष दिशा में एक विशेष सिद्धि के लिए प्रयुक्त होती है। जब वह भाषा की एक शैली है तब उसका अध्ययन भाषा-विज्ञान के क्षेत्र का विषय है। इस आधार पर उनका विश्लेषण, कविता के क्षेत्र

में भाषा विज्ञान का प्रयोग (एप्लीकेशन) नहीं वरन् भाषा-विज्ञान के क्षेत्र का प्रसार है जो भाषा के सामान्य के साथ-साथ कविता की भाषा को भी अपने अध्ययन-क्षेत्र के भीतर अन्तर्भुक्त करता है। मातृ-भाषा-भाषी के दैनिक जीवन में प्रयुक्त सामान्य वाक्यों को आधार बनाकर ही किसी भाषा का अब तक व्याकरण लिखा जाता रहा है और इसीलिए साहित्य (कविता) की भाषा को व्याकरणिक नियमों का अपवादस्वरूप मानकर उसके विश्लेषण की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इसका मुख्य कारण यह रहा है कि कविता की भाषा, सामान्य भाषा के 'नार्म' का अतिक्रम रूप होने के कारण किसी प्रकार सामान्य 'पैटर्न' में ठीक से खप नहीं पा रही थी। उनका अपना अलग ही एक 'पैटर्न' था। अगर भाषा के प्रत्यय के रूप में हम उन सभी उच्चारणाओं (अटरेन्सेज़) को स्वीकार करेंगे जो उस भाषा के मातृ-भाषा-भाषी विभिन्न कार्य-सिद्धियों के लिए प्रयोग में लाते हैं, तब निश्चय ही अब तक का व्याकरण, 'एकरूप स्ट्रक्चर' (यूनिफाइड स्ट्रक्चर) के अनुरूप नहीं। बोयेगलिन के अनुसार व्याकरण की रूप-प्रकृति सिद्धांततः एकरूप स्ट्रक्चर पर आधारित होनी चाहिए और यह तभी संभव है जब व्याकरण अपने क्षेत्र के भीतर अकाव्यात्मक (कैजुअल) वाक्यों के साथ साथ काव्यात्मक (नॉन-कैजुअल) वाक्यों को भी अपने विश्लेषण का आधार बनाए और इस प्रकार व्याकरण को एकरूप 'स्ट्रक्चर' का रूप दे।[२०] एकरूप स्ट्रक्चर' के निर्माण की दिशा में इधर कुछ महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं जिनमें लेविन[२१] और थार्न[२२] का प्रयत्न सराहनीय है।

सवाल यह है कि साहित्य को देखने की भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि क्या है? आज का भाषा-वैज्ञानिक किसी साहित्यिक कृति को किस रूप में स्वीकार करता है? आधुनिक भाषा-विज्ञान की पहली मान्यता है कि कोई भी साहित्यिक कृति चाहे वह उपन्यास हो या महाकाव्य अथवा कहानी हो या गीत-काव्य, वस्तुतः उसी भाषापरक उच्चारण 'अटरेन्सेस' के दायरे में सीमित रहती है जो मनुष्यों की भाषा का निर्माण करते हैं। इस सीमाक्षेत्र के भीतर ही कोई कृति अपना जन्म ले सकती है। इसके बाहर न तो उसकी सत्ता होती है और न उसकी संभावना ही है। साहित्य 'शाब्दिक कला' है और उसकी रूप-प्रकृति समझने में उसके 'शाब्दिक' पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्य भाषा-क्रिया की भाँति साहित्यिक-कृति भी मूलतः भाषा-क्रिया। (लैंगुएज ऐक्ट) है जो अपनी कुछ विशिष्टताओं के आधार पर व्यापक भाषा-क्रिया की एक उपश्रेणी का निर्माण करती है। अतः भाषा-विज्ञान की दूसरी मान्यता यह है कि जिस प्रकार अन्य भाषा-क्रियाएँ स्वयं में यथार्थ हैं जिसका अस्तित्व ठोस रूप में बाह्य संसार में रहता है, उसी प्रकार भाषा-क्रिया का ही एक रूप होने के कारण साहित्यिक कृति की भी सत्ता 'ठोस' और 'यथार्थ-पूर्ण' है जिसका विश्लेषण वैज्ञानिक स्तर पर संभव है। इस विचार-विन्दु की विस्तृत आलोचना अन्यत्र की जा चुकी है।[२३] इसकी तीसरी मान्यता है कि अगर साहित्यिक कृति ठोस और यथार्थपूर्ण है तो उसकी भी संघटना का पता लगाना संभव है। साहित्यिक आलोचना का वैज्ञानिक अर्थ साहित्य-विश्लेषण है, अतः साहित्यिक कृति के 'स्ट्रक्चर' का पता लगाने का अर्थ है उस कृति की संरचना को सही रूप में समझना। इसकी चौथी मान्यता यह है कि साहित्यिक कृति भी व्यापक रूप में भाषा-क्रिया ही है जो अपनी साहित्यिक विशिष्टताओं के फलस्वरूप एक उपश्रेणी का निर्माण करती है, अतः इस उपश्रेणी की अपनी विशिष्टताओं का उद्घाटन भाषा-क्रिया के व्यापक रूप के संदर्भ से ही संभव है। इसकी पाँचवीं प्रमुख मान्यता है, जो ऊपर दी गई चार मान्यताओं की ही स्वाभाविक परिणति है कि जब साहित्यिक कृति का विश्लेषण करने के लिए भाषा-वैज्ञानिक प्रवृत्त होता है तो उसके लिए साहित्यिक विशिष्टताओं का ज्ञान आवश्यक है और इसी प्रकार जब आलोचक किसी साहित्यिक रचना के अध्ययन की ओर उन्मुख होता है तो उसे भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली की सही जानकारी भी उतनी ही ज़रूरी है अर्थात् आज की आलोचना की नई भूमिका ही ऐसी है जो साहित्यिक आलोचक से साहित्यिक विशेषता और भाषा-वैज्ञानिक प्रणाली—दोनों के ही ज्ञान की समुचित अपेक्षा रखती है।

१. रामचन्द्र शुक्ल, रस-मीमांसा, द्वितीय संस्करण, संवत् २०११, पृ० ८।
२. मरे क्रेयगर, ए विन्डो टु क्रिटिसिज़्म, प्रिन्स्टन, १९६४, पृ० ३।
३. समनर ईव्स, ग्रामेटिकल एनालिसिस एण्ड लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, जार्जटाउन यूनिवर्सिटी, ६२।
४. चा०फ० हॉकेट, ए कोर्स इन माडर्न लिंग्विस्टिक्स, न्यूयार्क १९५८, पृ० ५५७।

५. सन् १९६१ तक के सभी निबन्धों के लिए देखिए—थामस रॉबर्ट्स, लिटरेरी लिंग्विस्टिक्स : बिबलियोग्राफी, टेक्सास स्टडीज़ इन लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, १९६२, पृ० ६२५-७।
६. डब्ल्यू० नेलसन फ्रांसिस, सिन्टैक्स एण्ड लिटरेरी इंटरप्रेटेशन जार्जटाउन यूनिवर्सिटी मोनोग्राफ १३, १९६२, पृ० ८३-९२। समनर ईव्स, पूर्वोद्धृत; सैमुएल आर० लेविन, लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर्स इन पोइट्री, हेग (१९६२)।
७. मार्गरेट श्लाख, लिंग्विस्टिक ऐस्पेक्टस ऑफ एमिली डिकिंसंस स्टाइल, प्राग फिलोलागिश्ने, १८, १९६३, पृ० २०१-२१५।
८. डब्लू० के० विम्सैट, दि प्रोज़ स्टाइल ऑफ सैमुएल जान्सन, न्यू हैवेन, १९६३।
९. इस दिशा में ग० अ० लेस्सकिस ने कई निबंध रूसी भाषा में लिखे हैं। देखिए, वाप्रोसी यज़िकोज्नानियाँ २, १९६२; ३ (१९६३), ४ (१९६४)।
१०. ए० ए० हिल, पिपाज़ सांग : टू अटेम्प्टस एट स्ट्रक्चरल क्रिटिसिज़्म, स्टडीज़ इन इंगलिश, यूनिवर्सिटी आफ टेक्सास ३५, १९५६, पृ० ५१-५६।
११. रस मीमांसा, पृ० ४९।
१२ वही, पृ० ५१।
१३. वही, पृ० ५०।
१४. मोनरो बियर्डसले, एस्थेटिक्स, न्यूयार्क, १९५८, पृ० २२२-२२४
१५. डब्लू. के. विम्सैट, दि वर्बल आइकॉन : स्टडीज़ इन दि मीनिंग आफ पोयट्री, न्यूयार्क, १९५८, पृ० २९१-२।
१६. पोयटिक्स, २२।
१७. जॉन मुकरोव्स्की, 'स्टैण्डर्ड लैंगुएज एण्ड पोयटिक लैंगुएज़' और बोहस्लाव ह्वानेक, 'दि फंक्शनल डिफरेन्शिएशन आफ़ दि स्टैण्डर्ड लैंगुएज' संकलित 'ए प्राग स्कूल रीडर'। अनु० ए० सं० पाल एल० गर्विन, वाशिंगटन, १९५८।
१८. सैमुएल आर० लेविन, इन्टर्नल एण्ड एक्स्टर्नल डिस्क्रिप्शन इन पोयट्री, वर्ड २१, (१९६५), पृ० २२५-२३७।
१९. एन० चॉम्स्की; दि लाजिकल स्ट्रक्चर ऑफ लिंग्विस्टिक थ्योरी (मिमियोग्राफ्ड), कैम्ब्रिज, १९५६।
२०. सी० एफ० वोयेगलीन, 'कैजुअल एण्ड नानकैजुअल अटरेन्सेस विदिन यूनीफाइड स्ट्रक्चर, संकलित 'स्टाइल इन लैंगुएज' स० टी० ए० सिबिओक, न्यू यार्क, (१९६०) पृ० ६७-६८
२१. सैमुएल आर० लेविन, पोयट्री एण्ड ग्रामेटिकलनेस, भाषा-विज्ञान की ९वीं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की पत्रिका में, हेग, १९४६, पृ० ३०८-१४।
२२. जे० पी० थार्न, स्टाइलिस्टिक्स एण्ड जेनरेटिव ग्रामर, जर्नल आफ लिंग्विस्टिक्स १, १९६५, पृ० ४९-५९।
२३. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, 'साहित्य-विश्लेषण का संघटनात्मक दृष्टिकोण', आलोचना, ३८, १९६७, पृ० ६९-८०।

नई काव्य-समीक्षा की संभावना

परमानन्द श्रीवास्तव

'अब तुम बैठ सकते हो। या खड़े रह सकते हो। जितनी देर चाहो। अब तुम अपने गुस्से को निकालकर हथेली पर रख सकते हो। और देख सकते हो कि उसमें कितनी तेज़ाब और कितनी बाज़ार की धूल है'—यह आज की कविता है—आज की समूची 'उबलती हुई' अर्थवत्ता के साथ और 'बाज़ार'—जैसा ग़ैर-साहित्यिक, व्यापार-जगत् का सन्दर्भ यहाँ सिर्फ़ 'मुहावरा' नहीं है! यह उस सन्दर्भ-समुदाय का अंग नहीं है जो प्रचलित या परम्परागत अर्थ में काव्यात्मक था और जिसकी अर्थवत्ता प्रत्याशित या निश्चित थी जैसे 'समुद्र', 'चन्द्रमा' या 'गुलाब'। पाठक अपने साहित्यिक संस्कार से ही कवि के संसार के इन सत्यों से परिचित था, और बस! दूसरे के संसार का इससे ज्यादा कुछ किया भी नहीं जा सकता। पर उपर्युक्त कविता-अंश में प्रयुक्त 'बाज़ार' नाम का सन्दर्भ एक अप्रत्याशित, किसी हद तक नाटकीय अर्थ छिपाए हुए है—ऐन वक्त पर वह उसके सामने खुल पड़ेगा जो आज के परिवेश की तीखी वास्तविकता से परिचित है—दूसरे शब्दों में उस 'आर्थिक' ढाँचे से परिचित है जहाँ चीज़ों की क़ीमतें यकायक बढ़ जाती हैं और फिर आदमी! 'बैठ सकता है' या 'खड़ा रह सकता है'—'जितनी देर चाहे'! यह आज के मुहावरे का ही नहीं, जीवन का आग्रह है कि आदमी कठोर समकालीन सच्चाई को आँख मिलाकर देख सके। यही आज की स्थिति का 'साक्षात्कार' है—निकटतम इस्तेमाल की वस्तुओं के अप्रत्याशित अर्थों से 'साक्षात्कार'—जिधर आज की भाषा और आज की कविता उन्मुख है और ऐसी कविता का मूल्यांकन, ज़ाहिर है कि रूढ़ पारिभाषिक संज्ञाओं के दायरे में नहीं किया जा सकता। यह पहली चुनौती है जिसे स्वीकार कर आज की समीक्षा-रचना के मूल्यांकन की प्रचलित पद्धति को तोड़कर नई पद्धति का आविष्कार करना चाहती है और इसी सिलसिले में 'मूल्यांकन' से अधिक 'रचना से साक्षात्कार' पर बल देती है। अभी पिछले दिनों की मनोवैज्ञानिक आलोचना में कवि के व्यक्तित्व की खोज की सार्थकता बताई गई थी—यहाँ उसकी कोई प्रासंगिकता नहीं—यहाँ तो ज्यादा सार्थक हो सकती है, 'कविता' के व्यक्तित्व की खोज, जो आज की जटिल वास्तविकता के परिदृश्य में एक अर्थ से दूसरे अर्थ तक, एक साक्षात्कार से दूसरे साक्षात्कार तक अपना निर्माण करती है। मुक्तिबोध के लिए यह भी एक 'मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया' (एक साहित्यिक की डायरी) है, पर इसके पीछे आज की सक्रिय, गतिशील सामाजिक वास्तविकता का सीधा दबाव है। नई समीक्षा जीवन-मूल्य और कला-मूल्य को अलग-अलग नहीं देख सकती क्योंकि उसके लिए रचना-प्रक्रिया एक व्यापक साक्षात्कार की ही प्रक्रिया है और उसे पारिभाषिक संज्ञाओं के 'अमूर्त चौखटों' में सीमित नहीं किया जा सकता। जहाँ अभिव्यक्ति 'कवि के जीने मात्र' के लिए ज़रूरी होती है और कविता का आधार 'कवि का सम्पूर्ण निजीपन' होता है वहाँ "मनोविश्लेषण का अहं सतही मालूम पड़ता है" (विजयदेव नारायण साही)। पर यह मनोविश्लेषण तो आगे की चीज़ है। इससे पहले भी काव्य-समीक्षा के प्रतिमान कितनी ही बार बदले हैं—भारतेन्दु से लेकर अब तक की कविता और काव्य-समीक्षा के विकास-सन्दर्भ में इसे देखा जा सकता है—पर इससे पहले कहा जाए कि पहली बार कविता ने एक ऐसा रुख या परिदृश्य ग्रहण कर लिया है कि प्रतिमान ही अपने-आपमें अर्थहीन साबित हो गए हैं या कम-अज़-कम नाकाफ़ी। जो कविता अपने-आप में मुकम्मल नहीं, उसकी समीक्षा किस तरह अपने-आपमें मुकम्मल हो सकती है! इसलिए नए समीक्षक से अपेक्षा की जाती है कि वह रचना के अनुषंगों के अलग-अलग विश्लेषण में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा न लगाकर उसकी सम्पूर्ण

संश्लिष्टता में प्रवेश करने की ज़िम्मेदारी निभा सके। दक्षिणी अफ्रीका की एक कविता में उस 'पास-आफ़िस' का सन्दर्भ आता है जहाँ लोग अपना पहचान-पत्र लेने के लिए घन्टों 'क्यू' में खड़े रहते हैं। एक रूढ़ि से दूसरी रूढ़ि की यात्रा करने वाली पुरानी काव्य-समीक्षा उसी 'पास-आफ़िस' की तरह रही है जहाँ कविता की असली पहचान ही संकट का शिकार साबित होती है। नई समीक्षा कोई निर्णय देने की सुविधाजनक स्थिति में नहीं है—उसे तो जैसे कविता की ही तरह अपनी भी पहचान ढूँढ़ने की ज़रूरत हो रही है। उसके लिए रचना का व्यापार उतना सरल नहीं है जितना जान पड़ता है। जब कहा जाता है :

> **और लगता है कि छतों पर सूखते हुए सारे कपड़े**
> **मेरी त्वचा और हड्डियों की माँग से**
> **उतनी ही दूर हैं**
> **जितना मेरे गाँव के टीले से**
> **फ़िदेल कास्त्रो की भूरी दाढ़ी···**

तब 'माँग' की सीमाएँ सिर्फ़ 'आर्थिक' नहीं होतीं और 'गाँव के टीले' से 'फ़िदेल कास्त्रो की भूरी दाढ़ी' की दूरी सिर्फ़ 'भौगोलिक' नहीं होती। संश्लिष्ट वास्तविकता के जटिल सम्बन्धों के बीच जो मानवीय सत्य व्यक्त होता है उसके पहलू एक-दूसरे से इस तरह अलग नहीं किए जा सकते।

'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' पर विचार करते हुए साही ने यह ठीक ही कहा है कि "समूची नई कविता को ठीक-ठीक देखने के लिए नई कविता के प्रतिमान की ज़रूरत नहीं है, बल्कि कविता के नए प्रतिमान की ज़रूरत है"। यहीं जोड़ना होगा कि मूल्यांकन की यह नई पद्धति पहले के प्रतिमानों को नया संस्कार भी दे सकेगी और वह न केवल आज की बल्कि समूची कविता की नई अर्थवत्ता (यदि उसकी कोई संभावना है !) की खोज भी कर सकेगी। पहले प्रतिमानों को ग़ैर-ज़रूरी बताकर उनमें से कुछ की पुन: प्रतिष्ठा या नए प्रतिमानों के निर्धारण को स्वीकार करने में शायद असंगति दिखाई दे—इसलिए साफ़ कर दिया जाए कि मूल्यांकन के औज़ारों को नई ज़रूरतों के अनुसार लचीला बना देने से ही ऐसी समीक्षा-पद्धति का विकास किया जा सकता है जो रचना की मूल्यवत्ता को जाँचने की कोशिश में रचना से सीधा साक्षात्कार करा सके। इस दृष्टि से मूल्यांकन के औज़ारों को अधिक-से-अधिक लचीला बना लेना—यह नई समीक्षा की तैयारी का क्षेत्र है, जबकि 'रचना से साक्षात्कार' नई समीक्षा का लक्ष्य है। इसी ज़मीन पर डॉ० देवराज ने रस, अलंकार, चमत्कार आदि प्रतिमानों को 'अधूरे प्रयत्नों' की संज्ञा दी है जो श्रेष्ठ कृतियों के सम्पर्क में जगने वाली विशेष संवेदना को निरूपित करने में संलग्न रहे हैं।

यहाँ यह सवाल भी उठाया जा सकता है कि रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति के लक्षणों को किन्हीं कविताओं में परिभाषित करने और इसी कसौटी पर इनका विश्लेषण करने के बाद भी क्या-कुछ है जो बच जाता है। नई समीक्षा क्या उसे कोई संज्ञा दे सकती है ? जब नामवर सिंह ने निराला की इन पंक्तियों को ध्यान में रखते हुए कहा था कि कविता पढ़ाई नहीं जा सकती···

> 'मान मधु हो जाए
> भाषा मूकता की आड़ में
> मन सरलता की बाढ़ में
> जलबिंदु-सा बह जाए'

तो प्रकारान्त से इसी कठिनाई को उपस्थित किया था। बहिरंग की समीक्षा की रूढ़ि के लिए हमें भारतीय काव्यशास्त्र के विस्तार में जाने की ज़रूरत नहीं, उधर पश्चिम की नई समीक्षा में अचेतन व्यापार की ओर जाने वाले सूत्र अन्ततः अन्धी गली में ही जाकर बन्द हो गए हैं। दोनों की कोशिशें नाकाफ़ी हैं—उस 'काव्य-मर्म' को परिभाषित करने की दिशा में जिसे रचना की संश्लिष्टता में प्रवेश करने वाला समीक्षक समकालीनता की संवेदना से जान लेता है। अनुभव की व्याख्या करने से ज़्यादा उपयोगी है अनुभव में हिस्सा लेना, शरीक होना। नई समीक्षा की संभावनाओं की यही दिशा है। कुछ लोग यहाँ यह सवाल भी उठा सकते हैं कि कविता का मूल्यांकन कविता के दायरे में ही किया जाए या बाहर भी। आधुनिक अमरीकी आलोचकों ने एक स्वर से बताया है किसी काव्य-बिम्ब या प्रतीक के पीछे दूर तक जाने की कोई भी कोशिश असफल होने के लिए अभिशप्त है—यों कविता के अनेक अर्थों की संभावना से उन्हें भी विरोध नहीं है। वे भी मानते हैं कि सच्ची कविता उन सम्बन्धों से पैदा होती है जो लोगों और उनकी भावनाओं में जीवित होते हैं—और जिन्हें न परिभाषित किया जा

सकता है न छोड़ा जा सकता है। इसी का दूसरा छोर उनके विचारों में मिलता है जो 'सच्ची कविता' का अस्तित्व पाठकों के मानसिक संसार में ही स्वीकार करते हैं। मुक्तिबोध ने इस सवाल से ही निबटने के लिए अपनी डायरी में कला के तीन क्षणों की, और इस प्रकार एक समूची काव्य-प्रक्रिया की व्याख्या की है। उनके अनुसार कविता में "फैन्टेसी के भीतर का मर्म—जिसमें एक उद्देश्य है, एक पीड़ा है और एक दिशा है—अनेक जीवनानुभवों से संवर्धित और पुष्ट होकर प्रकट होना चाहता है।" मुक्तिबोध की तमाम कविताओं में काव्य-प्रक्रिया का संघर्ष और आत्मसंघर्ष देखा जा सकता है और यों ही नहीं है कि या तो उन्हें समीक्षकों ने टाल दिया है या फिर मुक्तिबोध के समूचे रचना-संसार के परिप्रेक्ष्य में ही विचारणीय माना है।

जब हम काव्य-समीक्षा की नई पद्धति के निर्माण की आवश्यकता बता रहे हैं तो एक बार उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम पर दृष्टिपात करना उपयोगी ही होगा। एक बार वे रूढ़ियाँ सामने आ जाएँगी जिन्होंने 'काव्य-समीक्षा' को ले-देकर प्रशंसा या शिकायत की या फिर परिचय की ही किताब बना दिया है। या फिर यह देखा जा सकेगा कि किस तरह युग-विशेष का आलोचनात्मक विवेक अपने समसामयिक रचनात्मक साहित्य से प्रभावित होता है। देवीशंकर अवस्थी ने 'विवेक के रंग' की लम्बी और महत्त्वपूर्ण भूमिका में भारतेन्दु-युग से आज तक लिखी हुई कुछ गणनीय पुस्तक-समीक्षाओं के विश्लेषण से यही दिखाना चाहा है। भारतेन्दु-युग के समीक्षकों की तुलना में शुक्लजी की काव्य-समीक्षा यदि अधिक महत्त्वपूर्ण लगती है तो इसका कारण छायावाद के अधिक गहरे सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्यचेतना सम्बन्धी काव्य-सृजन में ही मौजूद है। भारतीय काव्यशास्त्र के नव-प्रवर्त्तन से अधिक श्रेय शुक्लजी को इसलिए दिया जा सकता है कि उन्होंने पुरानी सैद्धान्तिक मान्यताओं को समसामयिक साहित्य की प्रासंगिकता में नया संस्कार दिया। नन्ददुलारे वाजपेयी ही क्यों, कई अन्य समीक्षकों के अनुसार भी शुक्लजी में एक प्रकार का 'बौद्धिक अतिवाद' है जिसका प्रत्याख्यान करने के लिए ही छायावादी कवियों ने अपनी आलोचनात्मक धारणाएँ व्यक्त की हैं। पर उनमें बहुत से ऐसे पहलू हैं जो साबित करते हैं कि दोनों में कहीं-न-कहीं एक ही 'स्वच्छन्दतावाद' की प्रेरणा काम कर रही थी जैसे काव्य के विधायक तत्त्वों में 'कल्पना' के महत्त्व की सहज स्वीकृति। द्विवेदी युग की समीक्षा-पीठिका को ध्यान में रखते हुए छायावादी कवियों की आलोचनात्मक धारणाओं का अध्ययन किया जाए तो वे शुक्लजी की आलोचनात्मक समझ और भाषा से बहुत दूर नहीं जान पड़ेंगी। अधिक-से-अधिक जैसा नामवर सिंह का विचार है, वे एक-दूसरे की 'पूरक' जान पड़ेंगी। 'पल्लव' (पंत) और 'परिमल' (निराला) की भूमिकाओं में परिवर्तित काव्य-वस्तु, काव्य-भाषा और काव्य-संगीत पर जिस तरह जमकर विचार किया गया है वह बदले हुए रचनात्मक और आलोचनात्मक विवेक का परिचायक है। यहीं काव्य-समीक्षा पहली बार अर्थ की दुर्बोधता और सम्प्रेषणीयता जैसे सवालों से भी उलझती जान पड़ती है। साधारणीकरण का सवाल भी इसी ज़मीन से उठाया गया और आगे चलकर जब प्रयोगवाद के नाम पर 'चौंकाने-वाली' कविताएँ सामने आईं तो एक बार फिर यह सवाल महत्त्वपूर्ण समझा गया। इसमें सन्देह नहीं कि छायावादी कवियों के बीच प्रसादजी की काव्य-चिन्ता सबसे समृद्ध और साफ थी। यों ही नहीं है कि उन्होंने 'छायावाद' को 'यथार्थ-वाद' के समानान्तर प्रतिष्ठित करके देखा और 'छायावाद' के सम्बन्ध में कितने ही भ्रमों का निराकरण किया। रहस्य-वाद की भारतीय परम्परा दिखाने में शायद उनका पूर्वाग्रह सक्रिय हो उठा हो पर प्रकृति, आत्मानुभूति और काव्यभाषा के सम्बन्ध में एक ठोस 'छायावादी दृष्टि' उनके पास थी जिसे अनेक व्याख्याओं से उन्होंने स्पष्ट किया। इसी तरह निराला ने विचारों में ही 'चित्रमयी भाषा' का पक्ष नहीं लिया—अपने काव्य-प्रयत्नों से उन्होंने उसे निरन्तर सम्पन्न बनाया और कितनी ही बार उसका रूप बदला। बोझिल भाषा से छनकर जिस तरह कविता सीधी यथातथ भाषा में अपने को व्यक्त करने लगती है, उसी तरह समीक्षा भी अपने भाषा-विवेक को नई संवेदनाओं से अनुशासित करती रही है। कुछ नए समीक्षकों ने छायावादी कविता का भी जिस तरह पुन-र्मूल्यांकन किया है वह इसी दिशा में एक संकेत है। मुक्तिबोध की 'कामायनी' पर लिखी हुई समीक्षा इस दृष्टि से उल्लेख्य है। समकालीन जीवन के ठोस ऐतिहासिक परिदृश्य में 'छायावाद' को रखकर विजयदेवनारायण साही (लघुमानव के बहाने हिन्दी-कविता पर एक बहस) ने जो नतीजे निकाले हैं वे विस्मयकारक इसलिए जान पड़ते हैं कि पहले नहीं

निकाले जा सकते थे। इतिहास की विसंगतियाँ एक खास मोड़ पर ही जाकर अपना असली रूप स्पष्ट करती हैं—यह मानव-इतिहास का न्यूनतम सत्य है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इधर लिखी हुई नई समीक्षाओं में यदि पिछली शास्त्रीय समीक्षा के प्रति तीव्र असन्तोष, असहमति और विद्रोह की मुद्रा दिखाई देती है तो इसका कारण यह है कि उत्तरशती के आरम्भ के साथ ही यहाँ एक ऐसे ऐतिहासिक मोहभंग का सूत्रपात हुआ है जिसके साथ तमाम 'साहित्यिक' या 'काव्यात्मक' या 'नैतिक' धारणाओं ने अपना अर्थ खो दिया है। मूल्य-संकट का सवाल भी यहीं पैदा होता है क्योंकि प्रतिष्ठित मूल्य-विवेक काफी हद तक अर्थहीन हो गया है। जिस 'असाधारणता' के आकर्षण से नन्ददुलारे वाजपेयी को 'साधारण स्थितियों' में कविता नहीं दिखाई देती थी उसे नामवर सिंह ने 'कविता और अकविता' शीर्षक अपने निबन्ध में एक 'निरी रोमान्टिक अवधारणा' की संज्ञा दी है और लिखा है: "कविता सम्बन्धी इस गम्भीरता की नकाब उतारकर देखें तो इसके मूल में कटु यथार्थ से कतराने की भावना विराज रही है।"

जिस प्रकार छायावादी कविता की 'मूर्तिता' जैसी विशिष्टता को वास्तविकता की पहचान से जोड़कर उसकी समीक्षा को नया आधार दिया गया था उसी प्रकार 'निस्संगता' या 'संगतिहीनता', 'भय', 'अकेलापन' आदि नए विषय सूत्रों की सार्थकता जांचने के लिए नई काव्य-समीक्षा में 'अनुभव की प्रामाणिकता' का सवाल उठाया गया है। यह सिर्फ संयोग नहीं है कि जब कविता में आत्मान्वेषण और आत्मसंघर्ष का महत्त्व स्वीकार किया जा रहा था, नई समीक्षा ने 'प्रामाणिक अनुभूति' की सार्थकता को रेखांकित किया। तब से आज तक लिखी जाने वाली नई काव्य-समीक्षा में कितनी ही नई धारणाओं-प्रतीतियों से इसे जोड़ा गया है। यहाँ तक कि 'रचना से साक्षात्कार' को महत्त्व देने के पीछे भी इसी क्रान्ति का विस्तार है। इन सबके बीच प्रगतिवादी काव्य-समीक्षा की मान्यताएँ इतनी साफ और सटीक नहीं हैं कि वे आगे की 'काव्य-चिन्ता' को दिशा दे सकें या समृद्ध बना सकें—हालाँकि ऐसा होना चाहिए था। जिस प्रकार प्रगतिवादी कवि अपनी संवेदना और शिल्प का पुनः संस्कार नहीं कर सके और धीरे-धीरे एक रूढ़ि के शिकार हुए उसी प्रकार प्रगतिवादी काव्य-समीक्षा की परिणति हुई—सतही विचार-सूत्रों के प्रति हठधर्मी आसक्ति में—और हुआ यह कि फिर बदलते हुए रचनात्मक उन्मेष पर उनकी दृष्टि गई ही नहीं। सब मिलाकर आज की काव्य-भाषा और काव्य-समीक्षा तक आते-आते कल्पनावैभव, चित्रमत्ता, भावुकता, लाक्षणिक वक्रता जैसे शब्द समय के रोमान्टिक टेम्पर के बीतने के साथ बीत गए—प्रतीक्षा 'एक ग़लत शब्द' साबित हो गई और 'भविष्य' बेमानी। केदारनाथसिंह ने तो खैर एक खास बदले हुए अन्दाज़ में लिखा:

कुछ शब्द हैं—जैसे भविष्य
जिनके जादू से बचना चाहिए···

श्रीकांत वर्मा ने नाराज होकर कहा: 'कविता का भविष्य हो सकता है पर भविष्य की कविता जैसी कोई चीज नहीं।' यहाँ तक आते-आते सम्प्रेषणीयता जैसे सवाल को कुछ लोगों ने आज की भाषा और आज के मुहावरे से या फिर आज की स्थिति से जोड़ा और 'सीधे साक्षात्कार' की अनिवार्यता बताई और कुछ लोगों के लिए वह एक 'अ-सुखद अनुभव' की चीज होकर रह गई। इस तमाम बहस के बीच नई काव्य-समीक्षा कुछ नतीजे निकाल सकती है—एक तो यह कि समसामयिक कविता के निकटतम और जीवित सम्पर्क से ही वह अर्थपूर्ण और उपयोगी हो सकती है, दूसरे यह कि रचना का यही मूल्यांकन उसकी संश्लिष्टता में ही—यानी आज की तीव्रतम स्थिति, असन्तोष आदि के बीच उसे रखकर ही किया जा सकता है। आज की कविता में 'विडम्बना' और 'फैन्टेसी' जैसे पहलू क्यों अर्थपूर्ण हो उठे हैं, इसका कारण भी आज की तीव्रतम राजनीतिक स्थिति और आर्थिक असंतोष जैसी समस्याओं में निहित है। आज की स्थिति में 'विडम्बना' (Irony) एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पहलू है जिसे केन्द्र में रखकर ही शायद नए 'काव्यार्थ' की व्याख्या की जा सकती है। निबन्ध के शुरू में जो कविता-अंश दिया गया है, उसे जोड़ने वाली पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

अब तुम गायब हो सकते हो।
या जहाँ तुमने दिन की रोटी का,
पहला टुकड़ा तोड़ा था।
वापस जा सकते हो।

यदि 'रचना-प्रक्रिया' के उन तत्त्वों पर ध्यान देना जरूरी है जो काम-साहित्य को अर्थगत गौरव से सम्पन्न करते हैं' (देवराज) तो आज सबसे पहले इस 'विडम्बना' पर विचार

करना चाहिए। कविता में आने वाले सन्दर्भों के अप्रत्याशित नाटकीय पर अधिक प्रामाणिक अर्थ को यह 'विडम्बना' उजागर कर सकती है, जिस पर प्रायः 'काव्यात्मक' कहे जाने वाले शब्द या सन्दर्भ पर्दा डाल देते हैं। आज रघुवीरसहाय की निगाह यदि 'व्यंग' (शराब के बाद का सवेरा) पर है···

दिन निकला फोड़कर
चित्रगुप्त सभा के सचिव के दांत
नाम कहाँ तक याद रखूं
लोगों को उनकी तोंद से जानता हूँ
पहले मुझे वही मिली देवीदयाल वर्मा में
कितनी शान्ति भरी घुटन भरी
आदमी से आदमी के बचाव की ढाल

और केदार की 'विडम्बना' (बाजार से लौटकर) पर—तो इसके पीछे उनकी साहित्यिक मान्यता का ही नहीं—आज की मानव-स्थिति के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का भी अन्तर है। यहाँ साफ कर देने की जरूरत है कि महत्त्वपूर्ण सवाल 'मुहावरे' का नहीं, 'जीवन दृष्टि' का है। जीवन की संश्लिष्ट वास्तविकता से जिसका परिचय नहीं है वह कोशिश करके 'नए मुहावरे' को तो शायद पकड़ सकता है पर जीवन की ऊष्मा को—जो सम्बन्धों की जीवित टकराहट से पैदा होती है—अभिव्यक्ति नहीं दे सकेगा। चालाक और ईमानदार लेखन में फर्क करने की जरूरत समीक्षा के सामने पहले भी थी और आज भी है।

प्रत्यक्ष है कि नई काव्य-समीक्षा रचना-प्रक्रिया की जटिलताओं को अस्वीकार नहीं कर सकती, जिससे उपर्युक्त सवाल नज़दीक से जुड़े हुए हैं। इस बिन्दु पर उसे पूरे 'काव्य-माध्यम' की ही सीमाओं की जाँच करनी पड़ सकती है। भाषा और संवेदना के आवयविक सम्बन्ध को स्वीकार करके ही नई काव्य-समीक्षा उस 'नएपन' की व्यर्थता को भाँप सकती है, जो केवल रूपबन्ध या शिल्प में ही सीमित है। आज के कवि के प्रयोग का क्षेत्र वह नहीं है जिधर दिनकर ने कुछ पहले संकेत किया था···'कि किन तत्वों को छोड़कर कविता, कविता रह जाएगी', बल्कि यह है कि नितान्त काव्यबाह्य शब्दों के मेल से भी क्या वह 'भाषा' हासिल की जा सकती है जो आज के व्यापक अमानवीकरण को परिभाषित कर सके। युग की एकरसता को भाषा देनेवाली ये काव्य-पंक्तियाँ :

पोस्टकार्ड हरदम बादामी
अन्तर्देशीय हमेशा नीला

संकेत है कि आज की कविता के मूल्यांकन के लिए एक नितान्त नए विवेक से काम लेना पड़ेगा। यहाँ इस अत्यन्त सीधी जान पड़नेवाली भाषा के सुदूर अर्थ-सन्दर्भों पर भी ध्यान देने की ज़रूरत होगी। इन सन्दर्भों से काट देने पर इन पंक्तियों की तात्कालिक सरलता धोखे में डालनेवाली साबित हो सकती है। युवा रूसी कवि एवतुशेंको की कविता 'ज़िमाजंक्शन' (जो नास्टेलिजया से शुरू होकर युग की सम्पूर्ण जटिलताओं को भाषा देनेवाली शायद '५० के बाद की सबसे महत्त्वपूर्ण लम्बी कविता है) के आरम्भ में ही यह महत्त्वपूर्ण संकेत है कि 'जैसे-जैसे हम वयस्क होते हैं, अधिक ईमानदार होते जाते हैं। यह कोई चीज़ है। और ये वस्तुगत तबदीलियाँ मुझ तक और मेरी तबदीलियों तक एक भाषा की तरह अपना संवाद पहुँचाती हैं···।''

'काव्यानुभूति' और 'जीवन की काव्येतर अनुभूतियों' के सम्बन्धों में आने वाली तबदीलियों की समीक्षा भी उपर्युक्त भूमि पर ही की जा सकती है—यानी 'भाषा' के माध्यम से। यदि ''कविता शब्दों और शब्दों के संयोग से नहीं, शब्दों का जो जाल यथार्थ पर फेंका जाता है, उससे बनती है'' तो सबसे पहले इस समसामयिक यथार्थ को ठीक सन्दर्भ में परिभाषित करने की ही आवश्यकता है—यानी उससे जीने के स्तर पर जुड़ने की आवश्यता है। यथार्थ की तात्कालिकता में सीमित होकर 'कविता' से 'निष्कर्ष' निकालने की कोशिश न सिर्फ़ बेमानी होगी, बल्कि अर्थशक्ति की सारी सम्भावनाओं को वह मिटाकर रख देगी। आज सवाल काव्य-समीक्षा के बिखरे हुए विचार-सूत्रों में तालमेल बिठाने का नहीं है बल्कि कविता और उसके समकालीन परिवेश (जिसमें कविता लिखी जाती है) के सम्बन्ध को नए सिरे-से जीवन्त बनाने का है और नई काव्य-समीक्षा इसके लिए पहल कर सकती है। इससे कतराकर रचना के चमत्कारपूर्ण अनुषंगों का अलग-अलग विश्लेषण करने वाले समीक्षक की स्थिति ले-देकर एक विदूषक की ही हो जाती है। भाषा की शक्ति और सम्भावनाओं को पहचानकर समकालीन मानव-नियति का साक्षात्कार करने के लिए नए समीक्षक में नैतिक साहस की ज़रूरत सबसे ज़्यादा होगी—जिस तरह नए रचनाकार के लिए वह सर्वथा ज़रूरी होती है।

आक्रोश की भाषा : और भाषा का आक्रोश

सुरेन्द्र चौधरी

आज से लगभग आठ वर्ष पूर्व एडवर्ड डाह्लबर्ग ने अपने कविता-संग्रह 'प्राइएपस का दुःख' की भूमिका में घोषणा की थी कि उसकी यह रचना साहसी कवियों और पाठकों के लिए है। लगभग इसी समय बंगला और हिन्दी में एक आन्दोलन पैदा हो रहा था। इस आन्दोलन के पीछे नई पीढ़ी का मानसिक आक्रोश कार्य कर रहा था। इस आन्दोलन के कवि-कहानीकार अपनी हर रचना को पाठकों के मुँह पर चुनौती की तरह फेंक रहे थे। साहस का यह प्रदर्शन हिन्दी-बंगला में अपने ढंग का अकेला था। लगभग नब्बे वर्षों में मध्यवर्गीय संस्कारों से कुण्ठित भाषा इस आक्रोश को वहन करने में अशक्य थी, क्योंकि वह कृत्रिम रूप से नैतिक आग्रहों में बँधकर भदेस हो गई थी, उसकी घिसीपिटी अधिकांश मुद्राएँ ना-काफ़ी हो गई थीं और तन्त्र के रूप में वह गँदले भावुक साधन के रूप में चुक गई थी।

कविता-कहानी में एक साथ ही आक्रोश की यह अभिव्यक्ति शुरू हुई। गद्य और पद्य की दीवार तोड़कर आक्रोश की एक सामान्य भाषा पैदा हो गई। इस कृत्रिम भाषा की शिकायतें भी सुनी जाने लगीं। कविता में इस भाषा के ढाँचे को लेकर डॉ० रामविलास शर्मा ने कहा कि शमशेर गद्य की पंक्तियाँ तोड़ते हैं। मगर असर हुआ हो ऐसा नहीं मालूम पड़ता। गद्य की भाषा को और बेरहमी से तोड़ा जाने लगा, शब्दों को बोलने की यातना दी जाने लगी और कहा जाने लगा कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध टूट गया है। स्थिति शब्देतर हो रही थी। रचना-क्षेत्र में पैदा होनेवाले इस आन्दोलन के प्रति समकालीन आलोचक अजीब असमंजसता का अनुभव कर रहा था। उसकी इस असमंजसता का लाभ उठाकर रचनाकार ने घोषित कर दिया कि वह लेखक-पाठक के बीच एक फालतू आदमी है। उसे इस रूप में बाहरी, जासूस, तीसरा आदमी आदि-आदि कहा गया। लेखक ने इस जासूस को पकड़कर रचना-क्षेत्र से निर्वासित कर देने की घोषणा की।

आक्रोश की यह घोषणा जितनी आकस्मिक पहली नज़र में लगती थी, उतनी वस्तुतः थी नहीं। इस आक्रोश के पीछे एक पूरी बिचली पीढ़ी की व्यर्थता का अनुभव था। आज़ादी के तत्काल बाद गुज़रनेवाली इस पीढ़ी ने बड़े धैर्य और विवशता से समय की प्रतीक्षा की थी। किन्तु, समय के भीतर कुछ घटित होने का विश्वास धीरे-धीरे समाप्त होता गया। इसकी सूचना दो संवेदनशील कवियों की '५५-५६ के आसपास लिखी कविताएँ देती हैं—

> **इस घाटी से कई काफ़ले गुज़र गए हैं,**
> **शिखरों को जानेवाले जन**
> **अन्धकार में भटक गए हैं;**
> **मैं सबकी हड्डी के रखवारे-सा बैठा**
> **असफलताएँ नाप रहा हूँ।**

व्यर्थता का यह बोध एक 'डायलेक्टिक्स' तैयार कर रहा था। एक दूसरे समर्थ कवि ने लिखा—

> **हिम की ऊष्मा के उफान से निकल रहे थे**
> **सही-सही बातों के उत्तर !**
> **हम ज्वालामुखियों के मुँह में उतर रहे थे।**
> **जीवन के सच्चाई के स्तर**
> **सही बात के चौड़े पत्थर**
> **तीव्र वेदना में कैसे गड़गड़ा रहे थे**
> **इन ज्वालामुखियों के भीतर।**

अनुभव की यह समानता इतिहास के भीतर चुकरही प्रतीक्षा का आभास देती है। मुक्तिबोध '५५-'५६ के आसपास बड़े सपाट शब्दों में लिख रहे थे—"खूँख़ार, सिनिक, संशयवादी शायद मैं कहीं नहीं हो जाऊँ।" इस भय को हम व्यर्थ नहीं कह सकते। '६० की पीढ़ी एक साथ खूँखार, सिनिकऔर संशय-

वादी होकर, साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करती है। संवेदना की इस ऐतिहासिक ज़मीन से आक्रोश को बहुत सही ढंग से समझा जा सकता है। संशय, आक्रोश, सिनिसिज़्म की यह संवेदना गद्य को तोड़कर कविता में प्रवेश करती है।

अज्ञेय, शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन, मुक्तिबोध की पीढ़ी गद्य नहीं तोड़ती, पुराने पद्य का संस्कार घटाती-बढ़ाती है। कोई कवित्त-सवैया तोड़ता है, कोई उर्दू-अंग्रेज़ी के प्रचलित छन्द। परम्परित छन्दों की लय की सुरक्षा का ध्यान मुक्तिबोध जैसे कवि को भी रहता है। यों कविता के लिए नया मुहावरा गढ़ने में सबसे अधिक सचेष्टता का परिचय मुक्तिबोध ने ही दिया है। मानसिक आक्रोश की अन्तर्ध्वनियाँ '५५-'५६ के आसपास श्रीकांत वर्मा के अपने स्वर के साथ सुनाई पड़ने लगी थीं। मगर यह स्वर सर्वथा आवेशहीन नहीं था। 'अन्धा युग' जैसी कृतियों में यह आवेश यथेष्ट स्पष्ट है। लगभग सभी नये लोगों ने इस आवेश के चारों ओर व्याप्त व्यर्थता का संकेत किया है।

आवेश की भावनात्मक भाषा और व्यंग्यात्मक उपचार की भाषा अन्ततः एक ही मुहावरे बोलती है। संस्कारतः वह भिन्न नहीं है। इसके विपरीत 'सिनिकल' आक्रोश की भाषा सर्वथा दूसरी है। वह मध्यवर्गीय संस्कारों से मुक्ति की आंतरिक चेष्टा को रेखांकित और परिभाषित करती है। 'मखमली घास पे दो जिस्म यूँ एकबख़्ता पड़े। अगर ख़ुदा है तो पशेमाँ हो जाए।' जैसा व्यर्थ आवेश बाद के कवियों में नहीं दीखेगा। मध्यवर्ग का यह कृत्रिम नैतिक आग्रह नई पीढ़ी को भाषा का लिजलिजापन मालूम पड़ता है। धीरे-धीरे एक शब्देतर स्थिति की संवेदना और प्रचलित काव्य-भाषा की व्यर्थता का बोध हमारी पीढ़ी को हो जाता है। ऐसी स्थिति में यदि नये मुहावरे हिन्दी भाषा के मिज़ाज से मेल खाते नहीं मालूम पड़ते तो इसमें आश्चर्य क्या ? निहायत जटिल और अतियथार्थवादी ढंग से निर्मित मुक्तिबोध के छन्द भी आज की काव्य-भाषा से पूरी तरह एक नहीं हैं।

भाषा का काल से सम्बन्ध केवल क्रियापदों को लेकर नहीं होता, यह सही है, मगर क्रियापद भाषा को बदलने की पूरी क्षमता देते हैं। हेमिंग्वे और कामू (पहला उपन्यास लेत्रांज़ेर) की भाषा में क्रियापदों का यह नयापन क्या भाषा के पूरे ढाँचे को बदल नहीं देता ? क्या इन्हीं क्रियापदों के कारण जैनेन्द्र की भाषा अलग नहीं हुई ? भाषा इन्हीं क्रियापदों के माध्यम से काल के साथ नये रिश्ते जोड़ती है। कविता के पूरे तन्त्र का बदल जाना निश्चित रूप से काल के भीतर घटित होने वाले किसी हादसे की सूचना देता है। जब कोई समकालीन कवि कहता है कि वह चिड़ियों का व्याकरण सीख रहा है तब भाषा को लेकर पाठक को ऐय्यारी करनी पड़ती है। ऐसे दूरान्वयों से ध्वन्यर्थों का विस्तार हो जाता है। सर्वत्र काव्य-भाषा का दृश्य अर्थ (visual meaning) मिले ही, यह शर्त आवश्यक नहीं होती। आज गद्य और पद्य के न साहित्यिक मुहावरे अलग हैं, न भाषात्मक मुहावरे। यों गद्य और पद्य के लिए अलग-अलग तंत्रों की माँग सही माँग है।

एक समकालीन नया कवि जब बड़े सादे मगर 'सिनिकल' अन्दाज़ में कहता है कि—

अन्य लोगों की तरह मैं इतना कृतघ्न नहीं
कि उस ज़मीन को धिक्कार दूँ
जिस पर मेरा जन्म खड़ा है। मेरे लिए
मेरा देश जितना बड़ा है, उतना बड़ा है।

यही कवि तब अपनी दूसरी कविता में कहता है—

आदमी टकराता रहेगा सड़कों पर
छूंछे सवालों से
गलियाँ यूँ ही भरी रहेंगी गन्दे नालों और छिनालों से
लड़के धड़ों पर, मर्द चूतड़ों पर मरते रहेंगे;
हम कविता करते रहेंगे।

लगता है, कवि व्यंग्य करने के सभी स्वीकृत उपचारों को धक्के देकर भगा रहा है। उसके इस आक्रोश के लिए विमल वर्मा को सफ़ाई देनी पड़ती है—"सामाजिकता अपने व्यवहार में जब असामाजिक हो जाती है तब उसे बदलने के लिए सही और नंगी भाषा का प्रयोग करने वाले सक्रिय लोग··· असामाजिक···कहे जाते हैं।" वास्तविकता के मुहावरे भाषा में कितने कटु हो सकते हैं इसका उदाहरण उपर्युक्त टुकड़ा है। आक्रोश की भाषा न पिंगल के नियम-कानून मानती है और न मध्य-वर्ग के संस्कारों को, वह violence की भाषा होती है, प्रहार करना उसका अनिवार्य गुणधर्म बन जाता है।

भाषा में रोचकता की तलाश के कई दुष्परिणाम हमारे सामने हैं। घूम-फिरकर हम इस तलाश में वापसी की जगह पर ही पहुँच जाते हैं। चमत्कार हमें निष्प्रयोजन और छूंछा

कर जाता है। कभी-कभी हमारी यह चमत्कार-प्रियता भाषा को यातना तो देती ही है, साथ ही उसे विकलांग भी करती है। प्रयोग की खींचतान में 'प्रपद्य' की भाषा इसका उदाहरण है। भाषा में निरन्तरता व्यक्तित्व पैदा करती है, मगर कहीं-कहीं अनिवार्य रूप से इस निरन्तरता को आहत करना पड़ता है। उसकी अभिधात्मक सामर्थ्य बढ़ाने के लिए ऐसा कुछ आवश्यक हो जाता है। कविता की बढ़ती हुई अभिधात्मक क्षमता में कुछ लोगों को अराजकता और कृत्रिमता दीखती है। मगर गति और परिवर्तन का यह क्रम एक सामाजिक अवस्था से दूसरी सामाजिक अवस्था में भाषा के बदलने की अनिवार्य प्रक्रिया है। क्या भाषा-सम्बन्धी हमारा यह तात्कालिक प्रश्न इस बड़े प्रश्न से किसी तरह जुड़ता है? भाषा की मौलिक क्षमता को हर ऐतिहासिक उत्थान अपने ढंग से विकसित करता है। इस विकास में शक्तियों की अन्तर्क्रिया का एक विराट नाटक चलता है। ऐसी स्थिति में यह भी एक विशेष विचारणीय 'कोण' हो सकता है कि इस नाटक में हमारी पीढ़ी की भूमिका क्या है? भाषा-विकास की जिस सन्धि की भूमिका हमारी पीढ़ी पूरा कर रही है उसके विघटन और पुनःसंगठन के सन्दर्भ में हम क्या-कुछ कर रहे हैं? हिन्दी भाषा जिस नई चाल में सन् १८७३ ई० में ढली थी उसके लगभग सौ वर्ष पूरे होने को आ रहे हैं। विचारधारा, भावधारा और भाव-संवेदन के सन्दर्भ में इस विशिष्ट अवस्था की अपनी जटिलताएँ हैं।

भाषा के व्यावहारिक और काव्यात्मक स्वरूप को विकसित होने में समय लगता है, किन्तु भाव-संवेदन अपने लिए भाषात्मक अभिव्यक्ति तब भी ढूँढ़ ही लेता है। ऐसी स्थिति में व्यावहारिक और काव्य की संस्कारी भाषा का भेद बहुत साफ़ हो जाता है। कविता की भाषा की कृत्रिमता और भदेसपन की शिकायतें इसी तरह शुरू होती हैं। प्रयोग के युग की भाषा डॉ० नगेन्द्र को इसी तरह भदेस लगी थी। उनकी नज़र इस अन्तर्विरोध को नहीं पहचान पा रही थी। आज के सन्दर्भ में विमल वर्मा ने ठीक लिखा है—"शब्दों की असमर्थता को महसूस करते हुए नए कवि बोलचाल की साहित्यिक संस्कार वाली भाषा की खोज कर रहे हैं।" इस खोज में यह आक्रोश का सन्दर्भ विशेष महत्व रखता है। स्व० राजकमल चौधरी की रचना 'मुक्ति-प्रसंग' को लें। 'मुक्ति प्रसंग' में दो स्तरों पर काव्य-भाषा के अलग-अलग रूप मिलते हैं। उनका तन्त्र अलग है। उनका व्यावहारिक रूप एक-दूसरे से भिन्न है। यह द्विरूपता राजकमल की कविता में विशेष मानसिक तनाव के भीतर की अनिवार्यता है जो कि कविता में नहीं थी। 'मुक्ति-प्रसंग' में जहाँ एक ओर उपचारहीन सीधी साहित्यिक संस्कार वाली बोलचाल की भाषा है, दूसरी ओर वही तन्त्र के सिद्धपीठ की भाषा भी है, उसी क्षेत्र के रूपक हैं, काव्य-प्रकरण (allusions) हैं। मैं इस विशेष मनःस्थिति के भीतर के उपचारों की चर्चा एक विशेष कारण से कर रहा हूँ। इस भीतरी-सन्दर्भ की कृच्छ्रता चाहे जितनी सन्देहजनक लगे, मगर आज की मानसिक परिस्थिति में यह असंभाव्य नहीं है। आत्मीयता राजकमल की काव्य-भाषा में है, सीधी-सादी तेवरवाली भाषा भी है, मुहावरे समकालीन जीवन के पूरे विस्तार से चुने गए हैं।

कृत्रिम गद्य की पैदाइश का खतरा केवल हमारी पीढ़ी के सामने नहीं है। आज से पहले भी इस तरह के खतरे पैदा हुए हैं। जैनेन्द्र की पीढ़ी में तो ऐसा कृत्रिम गद्य विपुल मात्रा में लिखा गया। मगर धीरे-धीरे सारे गद्य-रूप हिन्दी के अपने हो गए, उनका अजनबीपन ग़ायब हो गया। समकालीन हिन्दी गद्य के massiveness को लोग ठीक-ठीक ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं, इसलिए भी पुरानी शिकायतें दुहराई जा रही हैं। आक्रोशकारी गद्य भारतेन्दु के ज़माने से लेकर आज तक लिखा जा रहा है। पद्य की तुलना में इसे मैं गद्य की मौलिक सहूलियत मानता हूँ। वैसे इस आक्रोशकारी गद्य के लगभग साथ-ही-साथ 'शेखर' का सुभाषित, प्रतीकपंथी गद्य चलता रहा। नई पीढ़ी इससे अछूती नहीं रही। राजकमल की प्रारम्भिक कहानियों में ('खामोश घाटियों के साँप' आदि) ऐसा ही गद्य है। श्रीकांत वर्मा, रमेश बक्षी भी इसी तरह का गद्य आरम्भ में लिख रहे थे। किन्तु धीरे-धीरे इस गद्य रूप की व्यर्थता स्वयं इन लेखकों को महसूस हुई। आज का लेखक जब रिपोर्ताज और दैनिक बुलेटिन की भाषा में लिखता है तब लगता है कि उसकी संपृक्ति बदल गई है। मगर कहीं-कहीं वस्तुओं, घटनाओं, नामों और सम्बन्धों की सूचना देनेवाली यह भाषा पीली पत्रिकारिता की तेज़ी (छद्म) से भी भर गई। 'न्यूज़' की भाषा के सारे दुर्गुण कुछ समकालीन कहानी-लेखकों की भाषा में उपलब्ध हो जाएँगे।

अमरकांत की कहानी 'हत्यारे' की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। 'हत्यारे' में अमरकांत ने

सुकराती संवादों की भाषा की तीखी आधुनिक ज़बान में पैरोडी की है। इस भाषा में जहाँ एक ओर पूरी क्षमता से अन्तर्विरोधों और फ़ैन्सीफुल स्थितियों की पैरोडी की गई है, वहीं दूसरी ओर समकालीन पीढ़ी के मानसिक वातावरण को 'अण्डरटोन' और 'ओवरटोन' के द्वारा पूरी क्षमता से अभिव्यक्ति दी गई है। हत्यारे की भाषा उपराम बुद्धिजीवियों (राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश) की भाषा सर्वथा भिन्न है। उसमें 'टोन' का सँभाल-सँभालकर प्रयोग नहीं किया गया। इसी जुबान के समानान्तर श्रीकांत वर्मा की कहानियों में इनकी भाषा का एक दूसरा रूप ही उभरता है। 'ओन्वी' को यह भाषा 'अन्तराल' की स्थितियों में नहीं गढ़ी जाती, यह प्रत्यक्ष की प्रतिक्रिया के रूप में लिखी जाती है। इस भाषा में अनपेक्षित संकेत नहीं उछाले जाते।

भाषा की यथार्थता को लेकर इधर 'यारों के यार' की चर्चा हुई है। इस परिचर्चा में काफ़ी वैविध्य है। एक ओर जहाँ इस भाषा को कहानी-लेखिका कहानी की अनिवार्यता सिद्ध करती है, वहीं जैनेन्द्र जी को मुहावरे आड़े आते हुए मालूम पड़ते हैं। एक विदेशी आलोचक की राय में यह भाषा गहरे 'रियलिज़्म' को उभारने वाली भाषा है। वैसे यथार्थ की खोज से भाषा के इस नये पहलू के अनिवार्य सम्बन्ध को लेकर बहुत अधिक विचार नहीं हुआ। फिर भी स्थिति कुछ तो साफ़ ज़रूर हुई। श्रीकांत वर्मा को 'यारों के यार' की भाषा में 'ऊब' दिखी और श्री शील को एक विशेष वर्ग के जीवन की तल्खी। लेखिका यथार्थ को किसी सात्त्विक पर्याय से बदलना नहीं चाहती—भाषा में आक्रोश, सिनिसिज़्म के तत्त्व यहाँ स्वाभाविक हैं। नामवर सिंह और श्रीमती विजय चौहान ने इस ओर संकेत भी किया। डॉ० नामवर सिंह को तनाव के भीतर संवाद के दोनों स्तरों पर यह भाषा कृत्रिम मालूम हुई। 'यारों के यार' के सन्दर्भ में स्व० राजकमल ने बातचीत में कहा था—मुहावरे सारे गढ़ाऊ और फालतू हैं, एक स्तर पर जैसा कैरिकेचर रेणु ने गाँव-गँवई के लोगों के 'ओवरटोन' का किया था, वैसा ही कृष्णा सोबती ने किया है। राजकमल ने अपनी ज़बान में यह बात कही थी, मैंने उसे केवल आलोचक का 'टच' दे दिया है।

भाषा में 'ओवरटोन' और 'अण्डरटोन' का बड़ा ही सफल प्रयोग काशीनाथसिंह की कहानियों में मिलेगा। 'सुख', 'बिस्तरों पर लोग' जैसी कहानियों में भाषा में 'ओवरटोन' है, 'अपने लोग' भाषा के 'अण्डरटोन' का उदाहरण है। इस 'टोन' का अनुकरण कई लेखकों ने किया है, अवधनारायण सिंह ने, मधुकरसिंह ने और विजयमोहन सिंह ने। सुदर्शन चोपड़ा की कहानियों की भाषा ही क्रुद्ध है। भाषा के इस आक्रोश से बेहद एकरसता और ऊब पैदा होती है। श्री दूधनाथ सिंह भाषा के मामले में उपराम बुद्धिजीवी पीढ़ी के ज्यादा नज़दीक हैं। उन्होंने भाषा के स्तर पर अपनी पीढ़ी से अपने को सायास अलगाया है। 'रीछ' को पढ़ते हुए लगता है कि राजेन्द्र यादव की कोई गुमशुदा कहानी पढ़ रहे हों। संकेत उछालने वाली यह भाषा बिचली पीढ़ी के एक खास वर्ग की याद दिलाती है। मुद्राराक्षस वस्तुतः मुद्राओं के राक्षस हैं। वे शब्दों को अपने लिए बोलने की यातना देते हैं। उनकी भाषा अकारण गुस्सा दिखाती है, उस खलनायक की तरह जिसकी फिल्मी आदतें घर पर भी उसे सहज नहीं होने देतीं। उनकी भाषा की मुद्रा एक 'डर्टी स्नियर' है। सुदर्शन चोपड़ा की क्रुद्ध भाषा में, अराजकता और आततायीपन उनकी भाषा का फैशन है।

यथार्थ की खोज में कहानी की भाषा ने कई मंज़िल पार की हैं, कई भटकाव भी झेले हैं। कहीं वह दूर तक कविता की भाषा के समीप चली गई है। जब कोई लेखक लिखता है कि 'वह गली को पड़ोसी नहीं कह सकता' तब स्पष्ट लगता है कि वह कविता का मुहावरा चुराकर बोल रहा है। जासूस आलोचक के लिए यहाँ काफी मसाला है, वह कहानी के ऐसे मुहावरों की जासूसी करता हुआ असली अपराधी की खोज कर सकता है। आक्रोश की भाषा जब भाषा के आक्रोश का फैशन बन जाती है तब एक नई परिस्थिति पैदा हो जाती है। ऐसी स्थिति में न केवल भाषा की अभिधात्मक क्षमता का ह्रास होता है, बल्कि एक साथ ही संवादी स्वरों का जमाकड़ा तैयार हो जाता है। वास्तविक तल्खी की जगह सिर्फ़ तल्ख मुहावरे बोले जाते हैं और इस तरह भाषा के मामले में एक मुकम्मिल बदहवासी का आलम पैदा हो जाता है। केवल शब्दों की आततायी भूमिका भाषा में प्राण फूँक सकती है, इसमें मुझे पूरा संदेह है। यथार्थ की खोज में सबसे बड़ी बाधा यह भाषा है। बिका हुआ ऐय्यार आलोचक भी इस भाषा की ऐय्यारी से पीछे छूट जाता है। अतियथार्थवादी उपचारों से लिखा जाने वाला ऐसा गद्य अधिकांशतः घटिया गद्य है। एक छोटी पत्रिका के एक छोटे सम्पादक ने बड़ी

सटीक बात कही है—''लेकिन, ऐसा नहीं लगता कि तोड़ने के लिए बागी होने के बजाय अपराधी हो जाना हालत में ज्यादा फिट बैठता है।'' कहानीकारों को इसी अर्थ में आरा गोष्ठी में श्री चन्द्रभूषण तिवारी ने 'डिफाल्टर्स' कहा था। भीड़ से भागने वाले लोग ही इस भीड़ में अधिक हैं। इस गद्य में इतनी आकस्मिक समानताएँ हैं कि एक कहानीकार की भाषा से दूसरे कहानीकार की भाषा को अलगाने का आधार केवल उनका अलग-अलग नाम रह जाता है।

कहानियों की भाषा में जो आततायीपन है, वह उनकी आन्तरिकता से मेल नहीं खाता। कोई लेखक विदेशी लेखकों के फ़िकरों, मुहावरों, सुभाषितों और वाक्यों का अनुवादकर जातीय भाषा-संपदा को समृद्ध नहीं कर सकता। चमत्कार की इस संवादी भाषा में चमत्कार रह नहीं जाता, बोझ हो जाता है।

आलोचना का प्रसंग शायद सबसे दुःखद प्रसंग है। आलोचक के लिए जिस कटी-छँटी भूमिका का जिक्र कुछ लोगों ने किया वह जैसे आन्दोलनों के इस युग में निरन्तर बाधित हो रही है। आलोचक की यह भूमिका कृतिगत प्रौढ़ता की परीक्षा खुद रचनाकारों ने सम्पन्न करनी शुरू कर दी है। इस दौर में आलोचक 'तीसरा आदमी' हो गया है। अविश्वास का केन्द्र बन जाना आलोचक के लिए सचमुच ही दुःखद प्रसंग है। कुछ ही ऐसे आलोचक हैं जो स्थिति का साक्षात्कार धैर्य से करते मालूम पड़ते हैं। आलोचना की भाषा का इस तरह बदल जाना हमें आश्चर्यप्रद लग सकता है। हिन्दी आलोचक रचनाकार के स्वर में स्वर मिलाकर बोलने की अजीब विवशता से आज पीड़ित हैं। जो ऐसा नहीं करते वे स्कूली आलोचक, प्राध्यापक आलोचक और व्यावसायिक आलोचक हो जाया करते हैं! 'पत्रकार' आज आलोचक हो गए हैं। आलोचना की भाषा, फिकरों, मुहावरों और आन्तरिक सूचनाओं की उत्तेजना से दूषित हो रही है। दावा यह है कि आलोचना की भाषा को Pragmatic बनाया जा रहा है। कहानी में जिस तरह 'अनुवाद' का जोर है, आलोचना में 'प्रैगमेटिक' होने का। कभी-कभी तो रचनाकार से ज्यादा क्रुद्ध वह व्यक्ति तब मालूम पड़ता है जब आलोचक की भूमिका में उतरता है। किसी भी कहानी पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित वक्तव्यों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। आलोचना की भाषा का आक्रोश आज फ़तवों में व्यक्त होता है। ये फ़तवे कभी कृतिकार से जोड़कर दिए जाते हैं, कभी कृति से जोड़कर और अधिकांशतः आंदोलन से जोड़कर। रचनात्मक क्षेत्र के सारे मुहावरे आलोचना में ज्यों के त्यों आ गए हैं। आलोचना की पूरी लड़ाई जैसे शब्दों की सरहदों पर लड़ी जा रही है। आलोचना की यह तकनीकी भाषा (बड़ी नफ़ासत होती है इसमें!) नए हाथों में सर्वथा अर्थहीन हो जाया करती है। अधिकांश वक्तव्य रचनाओं के सन्दर्भ में इसीलिए उखड़े-उखड़े और कभी-कभी एकदम बेमानी से लगते हैं।

वक्तव्यों की राह से, परिसंवादों और टिप्पणियों-लेखों की राह से ढेर-ढेर क्रुद्ध आलोचना हिन्दी में आ रही है। 'पोलेमिक्स की भाषा' का जैसा दुरुपयोग पिछले वर्षों में हुआ है वैसा कभी नहीं हुआ। अश्कजी, राजेन्द्र यादवजी, कमलेश्वरजी और मोहन राकेशजी आज यही कह रहे हैं। इन 'जी' लोगों ने आलोचना को अच्छी-खासी परेशानी दे रखी है। कृतियाँ छूट जाती हैं, कृतिकार की ढेर-ढेर व्यक्तिगत सूचनाएँ आलोचना के नाम पर पाठकों के मत्थे मढ़ दी जाती हैं।

अस्तित्ववादी तकनीकी शब्दों का चलन इधर हाल में हिन्दी में हुआ है। अपने दार्शनिक और सही सन्दर्भों से उच्छेदित ये शब्द 'अजनबी' की तरह हिन्दी में, आलोचना में, चल रहे हैं। कठोर वास्तविकता और आततायी फैंटेसी की जिस मिली-जुली जमीन से आज का साहित्य लिखा जा रहा है उसे समझने में इन शब्दों से ठीक कितनी मदद मिलती है, मुझे नहीं मालूम!

आलोचक जब साहित्य में 'सामुदायिक सूचना-केन्द्र' बनकर रह जाए तब मानना चाहिए कि हालात और आसार अच्छे नहीं हैं। पाठक-रचनाकार (नया) का ध्यान जाने-अनजाने इन सूचना-केन्द्रों की ओर लगा रहता है, स्थिति-स्थापन के लिए ये 'सूचना-केन्द्र' 'सेंसेटिव कोर' हो गए हैं। अधिकांश नए आलोचक एक पिछड़ी हुई लड़ाई लड़ रहे हैं। इस या उस 'सूचना केन्द्र' से गढ़े जाने वाले मुहावरे की प्रतीक्षा हमें सामर्थ्यहीन करती जा रही है। समकालीन आलोचना में हमें अभी उस भाषा का इंतजार है, जो सूचना-केन्द्रों, इश्तिहारी व्यक्तित्वों, फैशनेबिल आन्दोलनों से स्वतन्त्र होकर वस्तुस्थिति का सही-सही बोध करा पाने में समर्थ होगी और रचनात्मक संवेदनाओं की ऐतिहासिक गह-

राई में उतरकर साहित्य की प्रक्रिया को समझने-पहचानने की दृष्टि देगी। इस क्षेत्र में गम्भीर कार्य नहीं हो रहे हों ऐसी बात नहीं। इस स्थिति से ऊपर उठकर भी लोगों ने लिखा है।

प्रस्तुत टिप्पणी रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य का भाषा-सर्वेक्षण नहीं है। इसमें भाषा के सन्दर्भ में खड़ी हुई कुछ समस्याओं को मैंने इंगित करने की चेष्टा की है, इसलिए भाषा से होकर एक राह शुद्ध साहित्यिक गतिविधि की ओर भी निकल गई है। वैसे अनायास और अनिवार्य रूप से फूटकर निकलने वाली इस राह को मैं कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। इस परिदृश्य में उभरने वाले कुछ तथ्य हमें विवश करते हैं कि हम भाषा के इन मुद्दों पर गम्भीरता से विचार करें। आज का काव्य-साहित्य Kamp of poesie हो गया है—उससे प्रगीत की आत्मीयता समाप्त हो गई है, प्रयोग भी लगभग बन्द हैं और प्रतीकों के नए सन्दर्भ गढ़ने की क्षमता कम की जा रही है। वक्तव्यों की एकरसता उसमें अधिक है। कहानी साहित्य में 'मानवीय परिस्थिति' के नाम पर अत्यन्त तिरस्कृत स्थितियाँ उभारी जा रही हैं और संवादों का नकली स्वर ऊपर उठ रहा है। आज का जीवन जिस कठोर किन्तु ऐन्द्रिजालिक लगने वाली वास्तविकता से घिर गया है उसे कहानी की भाषा पूरी-पूरी तरह व्यक्त नहीं कर पा रही है। आलोचना मुहावरों और आन्दोलनों में बंद हो गई है। इस अराजक परिस्थिति में भाषा की सही भूमिका एक सचेत और अपेक्षित कार्य है।

भाषा सामार्थ्य के डायलेक्टिक के प्रति समकालीन हिंदी आलोचक जितना उदासीन दीखता है, उतना पहले का आलोचक नहीं रहा है। इस 'डायलेक्टिक' में अभावात्मक का अभावात्मक के माध्यम से प्रयोग एक प्रकार की कला है। ज़रा इन रूपों पर विचार कीजिए—विरोध, प्रत्यवस्थान, तुलना, अन्तर्विरोध, परस्परावलंबन, सन्तुलन और पुरःसरण।

इनके भीतर सर्वत्र जिस द्वैत की अवस्था है उसे काव्य अथवा नाट्य अथवा अन्य विधाओं में क्या आलोचक देखने में आज समर्थ है? फतवों में खोया आलोचक भाषा का 'डायलेक्टिक' नहीं जानता, यह स्पष्ट है।

व्यावहारिक आलोचना में शायद इन जटिल भाषात्मक साधनों की सामान्यतः आवश्यकता नहीं पड़ती, मगर क्या इसके साथ यह भी सही नहीं है कि भाषा के इन डायलेक्टिकल साधनों का प्रयोग करने वाली आलोचना भी हमारे यहाँ नहीं है। किसी भी विधा का सौंदर्यशास्त्र तब तक गढ़ा नहीं जाता, जब तक आलोचक स्वयं अपने भाषात्मक और दूसरे साधनों की सामर्थ्य की परीक्षा न कर ले। किस आलोचक ने अपनी व्यावहारिक आलोचना में इन साधनों का उपयोग करने का साहस दिखाया है? व्यावहारिक विश्लेषण में इन साधनों को पद्धतिबद्ध करने की क्षमता की आजमाइश होती है। फैंटेसी की चर्चा कहानियों के प्रसंग में हुई है। मगर फैंटेसी में जिस भाषा-रूप का प्रयोग किया जाता है क्या उसकी भी परीक्षा हुई है? स्वप्न-प्रतीकों की भाषा ही फैंटेसी के गठन को पूरा करती है। कहीं उसका ढाँचा स्वप्न-प्रतीकों का होता है और कहीं वह 'onamistic' आत्मोद्रेक की लय में चलता है।

आत्मोद्रेक की यह लय तो गीतात्मक प्रकरणों में भी होती है मगर गीतों का आत्मोद्रेक एक शुद्ध आन्तरिक वातावरण है, जबकि फैंटसी में आत्मोद्रेक की परिस्थिति ठोस, सूच्य और वस्तुपरक होती है।

'वास्तविकता' की इतनी चर्चाएँ हिन्दी में हुई हैं कि उनके आधार पर आप इसका कोई भी मानसिक रूप खड़ा कर सकते हैं। आलोचना में ऐसे समकालीन पदों की पारिभाषिकता इतनी संदिग्ध है, ऐसा क्यों? सम्भवतः इसका कारण है आलोचना की भाषा का पत्रकारिता की भाषा हो जाना। अभी हाल में धर्मयुग में श्री कालेश्वर ने समकालीन कहानियों की परीक्षा में भाषात्मक पहलुओं के कुछ प्रश्न उठाए। मगर कमलेश्वर के इस निबन्ध में फतवों के साथ-साथ दूसरा प्रत्यक्ष दोष यह है कि खुद भी वे इस वास्तविकता का कोई मानसिक अथवा ऐन्द्रिय चित्र नहीं खड़ा कर सके हैं। लगता है जैसे श्री कमलेश्वर की 'वास्तविकता' भी पद-दोष से उतनी ही पीड़ित है, जितनी सुदर्शन चोपड़ा या कालिया की।

समकालीन आलोचना में पद-सन्दर्भों के विचित्र अनिश्चय की स्थिति है। भाषात्मक अराजकता का एक कारण यह भी है। 'कहानी : नई कहानी' जैसी पुस्तक में डॉ० नामवर सिंह अगर पद-सन्दर्भों का बहुत अधिक प्रयोग नहीं करते, तो सम्भवतः उसका कारण यही है जबकि कमलेश्वर की पुस्तक में ऐसे पद-सन्दर्भों का बेहद अनिश्चित और पर-

स्पर विरोधी अर्थों में प्रयोग हुआ है।

आलोचक अपनी भाषा के माध्यम से ही अपने 'टोन' का निश्चय करता है। आचार्य शुक्ल की भाषा उस 'टोन' से निश्चित है जिसे हम शुक्लजी की श्रेष्ठता कहते हैं। किंतु इस 'टोन' के 'रिगर' से भाषा को शुक्लजी मुक्त भी करने में समर्थ हैं। आज की आलोचना में भाषा और टोन में ऐसा ताल-मेल कम ही आलोचकों में मिल पाएगा। समकालीन आलोचना में दो ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी भाषा 'टोन-ओरिएन्टेड' है, वे हैं श्री विजयदेव नारायण साही और डॉ० नामवर सिंह। इनके अलावा सारे लोग वक्त की बोली बोलते हैं जिसे 'धर्मयुग', 'सारिका'; 'ज्ञानोदय' जैसे पत्रों में आलोचना और चिन्तन के नाम पर छापा जाता है।

वस्तुतः समकालीन हिन्दी आलोचना को पद-परिभाषाएँ गढ़नी हैं, पदों के परिदृश्यगत प्रयोग निश्चित करने हैं, उनके साथ आलोचक के 'टोन' की संगति ढूँढ़नी है और अन्ततः उस प्रायोगिक ढाँचे को उपलब्ध करना है जिसमें निरन्तर विकसित होती हुई रचनात्मक संवेदना को ग्रहण किया जा सके। दुर्भाग्य से इस ओर बहुत गम्भीरता से कार्य नहीं किया जा रहा है। जिनके पास भाषात्मक साधन नए हैं उनका 'टोन' अनिश्चित है। इस असंगत स्थिति में पड़ी आलोचना की भाषा को समर्थ व्यक्तित्व देने वाले एक आलोचक की प्रतीक्षा है। ●

गिरीश की मृत्यु

रघुवीरसहाय

एक महान राष्ट्रीय दायित्व ने मुझे जगा दिया
उठ बैठा मैं
डकारता अपनी पतली टाँगे निहारता
अपने को झाड़ता कविता लिखने के लिए

फ़र्श धोता है कथाकार
जब वह आखिरकार उजला होने ही लगता है तो
पोतना लिए
बीचोबीच फँसा खड़ा रहता है कथाकार
कितनी शानदार शाम होती है वह कितना भयावह
अकेलापन
शीशे में देखती हो जैसे अभिनेत्री खोले हुए अधेड़ सर
तीन रात लगातार मैंने सपने में देखा मुझे तिगुना कर
उलझाया। हर बार मैं घटाकर अपने को
निकल आया
अन्त में नहीं समझ पाया जब इतना भी क्यों हूँ
जग पड़ा

सबसे बड़ा प्रश्न है योजना आयोग में
पहले पंडे या पहले क्रान्ति या पहले कवि
पहले स्वागत समिति
पहले ढोल ताशा टमटम राष्ट्रपति
खौफ़नाक दर्दनाक
उपमाएँ लिए हुए राजनीति के लिए
कुँकुआते राजकवि बाद में
महँगी मचलती महिलाओं से रमणीय ये विरोध
दरवाज़े आ बैठा सुबह-सुबह
आठ बरस का लड़का काला दुबला ऊबा सुनता है।

शायद एक दुनिया तेजतर्रार औरतों गुस्सेवर मर्दों
मटकते बच्चों धमकाते बाजों की दुनिया है
शायद—
भारत की मिट्टी से पैदा तीखी बू वाली
पसरी विज्ञापन में प्यार से पहनती उतारती
पुरुषों के कपड़े हिरदै लगाती लड़कियों की दुनिया

मैं जानना चाहता हूँ, अगर इसके एक डंडा अँधेरे में
मारा जाय
कौन-सी बोली में यह क्या चिल्लायेगी

झुका हुआ बैठा रहा घुटने पर
बाप देर तक दवाखाने में था सकून

देर तक घुट-घुट कर क्या तोड़ूँ क्या तोड़ूँ—
नंगा सर नीचा किये तरबतर इन्तज़ार
बुड्ढा करता रहा
घूसखोर बस का
धीरज से मुरझाता दिन भर
एक दिन अपना घर बनाने की आशा में

मेरे लिए महान लाओ कुछ ठंडा पेय
मैले नाख़ून वाले चीकट लड़के ने
नहीं सुना जो मैंने पूछा था
पहले वह चाहता था कि मैं समझ लूँ
कि वह मेरा कौन है

ऊब कोई रोग नहीं
भय कोई शोक नहीं

ऊब और भय का
चितपट किया चित्रपट किया चौपट किया

उन दिनों मैं अपने को खोज रहा था
प्यार करने के लिए मैंने छुट्टी नहीं ली भाग लिया
एक लड़की का कौन-सा भाग ? भरे-भरे गालों के बदले
उसे कितना अधिकार दिया जाये जानने के लिए
उसकी दुखियारी जड़ता के बदले चुमकार दिया

एक अन्य लड़की
साथ-साथ खंडहरों में घूमी
किसी क्षण अकेले मुझे इनकार करने का इन्तजार
करती एक अन्य लड़की मैंने देखा आखिरकार एक व्यक्ति है
ठोस मांस और पोले मांस का बना जीव
हाँफती हड़ैली वह दौड़ी घर की ओर बस की दिशा में
एक चिड़चिड़ी जिन्दगी लेसपोत कर

क्या तोड़ूँ क्या तोड़ूँ जो मुझे अपनापा मिले समुदाय में
मोरारजी देसाई की उजबक खीस नहीं
कितनी सुन्दर आँखें
देखो खेत की मेड़ पर खड़े होकर दूर-दूर तक फैली रेत
देखो मैंने देर तक देखीं आत्मनिष्ठ आत्मरत
आत्म केन्द्रित अहं
निस्संदेह मुझमें था

वह मुझे मिली नहीं बिस्तर में

सर खुजलाकर बोला मित्र, तुम रह गये
निस्संदेह रह गया मैं जब कि और सब
एक धुर पहुँच गये
महासंघ के दो दल फाड़ती दरार में ठूँस दिया मोटा मुँह
मधुर मुसद्दी ने

देखो भविष्य की सूखी कर्कश पीठ
जो वह हमारी ओर किये हुए लेटा है
देखो महापौर के भौचक चेहरे तले
अतल मानवमय पारावार का कीचड़

गाँव-गाँव में दिया जनजन को
विश्वास
नेकराम नेहरू ने
कि अन्याय आराम से होगा आमराय से होगा नहीं तो
कुछ नहीं होगा
गाँव का

उसी दिन, बुड्ढों की तरह नहीं मरा मेरा बाप
लड़ते-लड़ते मरा
बिना दवा के नहीं बिना सिफ़ारिश के
ट्रक से टकराकर
छिटक कर गिरीश गिरा हलवाई समिति ने
जहाँ आज तक सड़क पर पारपथ नहीं
खुलवाया—
वहीं।

नाट्य-रंग

आधुनिक हिन्दी नाटक : प्रतिमान का अन्वेषण

नेमिचन्द्र जैन

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने खड़ी बोली हिन्दी में नाटक लिखना शुरू किया तो हिन्दी-भाषी क्षेत्र में रंगमंच के विविध रूप शताब्दियों से प्रचलित होने पर भी, नियमित लिखित नाटक हिन्दी के लिए और स्वयं भारतेन्दु के लिए एक नया साहित्य-प्रकार था। उनसे पहले जो छिटपुट अनूदित अथवा मौलिक नाटक मिलते हैं उनका कोई कलात्मक महत्त्व नहीं। यह भारतेन्दु की असाधारण प्रतिभा का ही चमत्कार है कि उन्होंने इस नई विधा को न केवल प्रारम्भ करके स्वरूप दिया, बल्कि उसे सर्वथा अद्वितीय सर्जनात्मक स्तर पर स्थापित किया। यही नहीं, भारतेन्दु के अलग-अलग नाटक उस समय प्रचलित रंगमंच की प्रायः सभी परम्पराओं और शैलियों को एक नया ही रूप और स्तर देने का प्रयास करते हैं, और इस प्रक्रिया में ऐसे अभिव्यंजनापूर्ण नाटकीय गद्य का निर्माण करते हैं जो बोलचाल की भाषा के समीप भी है और गहरे भाव-स्तर को अभिव्यक्त करने में समर्थ भी। उनकी नाटक-रचना रंगमंचीय माध्यम से एक नये और सार्थक जीवन-बोध को प्रस्तुत करने की क्रिया थी, विशुद्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक अन्य प्रकार मात्र नहीं। अपने इस कार्य में भारतेन्दु ने जो सर्जनात्मक स्तर प्राप्त किया वह किसी भी विधा के प्रारम्भिक रचनाकार की प्रतिभा और कृतित्व के लिए गौरव का कारण हो सकता है।

भारतेन्दु के परवर्ती नाटककार किसी हद तक व्यक्तिगत प्रतिभा के अभाव में, और किसी हद तक व्यावसायिक पारसी रंगमंच के बढ़ते हुए प्रभाव के फलस्वरूप रंगमंचीय अभिव्यक्ति के अधिक सहज और मौलिक नाट्य-रूपों से सम्पर्क शिथिल हो जाने के कारण, नाटक का वैसा सर्जनात्मक स्तर बनाए नहीं रख सके। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि भारतेन्दु के बाद की तीन-चार दशाब्दियों में हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक तथा सर्जनात्मक प्रतिभा अपना वास्तविक परिचय खोजने के लिए उन्मुख हुई और उसी में उलझी रही। इसीलिए इस शती की दूसरी दशाब्दी तक नाटक और रंगमंच ही नहीं, साहित्य में भी कोई विशेष सार्थक रचनात्मक उपलब्धि नहीं होती।

देश के मानस के वास्तविक परिचय का यह सर्जनात्मक अन्वेषण सबसे पहले उस युग में अभिव्यक्ति पा सका जिसे हिन्दी साहित्य का छायावादी काल कहा जाता है। भारतेन्दु के बाद जयशंकर प्रसाद ही हिन्दी के पहले ऐसे महत्त्वपूर्ण नाटककार हैं, जिन्होंने नाटक की विधा का गहरी सांस्कृतिक तलाश के लिए उपयोग किया। इसीलिए उनकी रचनाओं में हिन्दी नाटक एक नई सर्जनात्मक ऊँचाई भी प्राप्त करता है। नव-जागरण के इस युग की तीव्र आत्मसजगता के फलस्वरूप प्रसाद देश के अतीत में समकालीन भारत का आत्मपरिचय ढूँढ़ने, और युगव्यापी गहरी मानवीय उथल-पुथल को अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं। शायद यह गहरी तलाश और युग से संवाद की कामना ही प्रसाद को नाटक की ओर खींच लाती है और उनके नाटक-साहित्य को अपने सभी पूर्ववर्तियों से अधिक गहराई का आयाम प्रदान करती है। अपनी इस विशेष युगीन स्थिति और उससे उत्पन्न भाव-तीव्रता में निस्सन्देह प्रसाद भारतेन्दु से आगे हैं। किन्तु इस प्रेरणा के अनुरूप एक समर्थ रंगमंच की तलाश के विषय में प्रसाद को वह सुविधा नहीं थी जो भारतेन्दु को मिली थी। भारतेन्दु ने विभिन्न रंग परम्पराओं को लेकर अपने कथ्य के अनुरूप उनका संस्कार करने का प्रयास किया था, कोई पहले से निश्चित, सर्वथा प्रतिष्ठित-स्वीकृत रंगमंचीय रूप उनके आगे न था। पर जब प्रसाद ने नाटक लिखना प्रारम्भ किया, तब तक पारसी नाटक-मंडलियाँ रंगमंच का एक देशी-विदेशी खिचड़ी रूप प्रतिष्ठित

कर चुकी थीं जो अपनी चरम विकृतियों की स्थिति में पहुँच-कर अब प्राय: विघटन की दशा में था। किन्तु फिर भी रंग-मंच का कोई नया रूप सामने नहीं था। शेक्सपियर के, और बँगला में द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक भी प्राय: उसी रंग-मंचीय रूप की ओर इंगित करते जान पड़ते थे जो पारसी रंगमच ने अपनाया था। यह दिलचस्प बात है कि इस दृष्टि से संस्कृत रंगमंच भी शेक्सपियर के रंगमंच के ही समीप पड़ता था और उसका अनुशीलन भी प्रसाद को रंगमंच के किसी सर्वथा भिन्न या नवीन प्रकार या रूप की खोज की प्रेरणा नहीं दे सकता था।

फलस्वरूप प्रसाद के नाटकों का रंगमंचीय आधार और स्वरूप थोड़े-बहुत परिवर्तनों-संशोधनों के साथ पारसी रंग-मंच ही रहा, और वे उसी रंगमंच की रूढ़ियों-व्यवहारों और अन्य सीमाओं तथा परिस्थितियों से निर्धारित-सीमित हैं। उनकी विषयवस्तु उसी प्रकार से रोमेंटिक, घटनाबहुल और बहुमुखी है, और रूपबंध भी उसी प्रकार से शिथिल, बहुपात्रीय, बहुदृश्यीय तथा वर्णनात्मक है। प्रसाद के नाटकों में कार्य-व्यापार की एकसूत्रता नहीं है, बल्कि बहुत-से सूत्रों को प्रभाव की समग्रता और व्यापकता की दृष्टि से एक साथ नियोजित किया गया है। उनमें पात्रों की विविधता पर बल है, और निस्सन्देह उनका प्रदर्शन उसी तरह की विभिन्न साधनों तथा प्रतिभाशाली अभिनेताओं वाली बड़ी-बड़ी मंडलियाँ ही कर सकती थीं जैसी पारसी मंडलियाँ हुआ करती थीं। भारतेन्दु के नाटकों का रूप जहाँ सहज ही गम्भीर किन्तु अव्यवसायी मंडलियों के प्रयोग के भी उपयुक्त था, वहीं प्रसाद के नाटक व्यावसायिक स्तर पर संगठित मंडलियों की अपेक्षा रखते थे। इसीलिए वे न तो किसी मंडली द्वारा सफलतापूर्वक खेले गए, न उन्होंने किसी रंगमंचीय आन्दोलन को प्रेरणा दी। इस दृष्टि से प्रसाद के नाटक उस नाट्य-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि हैं जो पारसी मंडलियों द्वारा स्थापित रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया। प्रसाद के नाटकों और उनमें निहित रंगमंच के इस स्वरूप को समझना आवश्यक है, क्योंकि प्रसादोत्तर नाटक का विकास प्रसाद के नाटकों की इन विशेषताओं से जुड़ा हुआ है और उन्हीं के सन्दर्भ में ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

प्रसाद के युग में ही बहुत-कुछ, और उनके परवर्ती काल में सम्पूर्ण रूप से, पारसी रंगमंच का विघटन हो गया। अव्यवसायी कलात्मक रंगमंच का तो पहले से ही प्राय: अभाव था। फलस्वरूप रंगमंच के विघटन के साथ ही एक प्रकार से हिन्दी-नाटक भी प्राय: विघटन की स्थिति तक जा पहुँचा। रंगमंच के सम्पूर्ण अभाव में न तो नाटक की कोई तात्कालिक सार्थकता ही बची और न उसका कोई अपना निजी स्वरूप ही उभर सका। अधिक-से-अधिक अब उसकी उपयोगिता पाठ्य-पुस्तकों के लिए रह गई, किन्तु एक जीवन्त तथा सार्थक अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में उसका कोई आधार न बचा। इन दिनों रंगमंचीय गतिविधि थोड़ी-बहुत स्कूल-कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में शुरू होने लगी थी; पर वहाँ गम्भीर या पूर्णकालिक नाटकों के लिए कोई गुंजाइश न थी। उनके लिए, तथा सद्य:स्थापित रेडियो के लिए, एकांकियों की माँग बढ़ी और इस प्रकार क्रमश: समस्त नाटक-लेखन एकां-कियों अथवा पाठ्य-क्रमोपयोगी नाटकों तक सीमित हो गया। प्राय: पाँचवीं दशाब्दी के अन्त तक हिन्दी-नाटक इसी दायरे में चक्कर काटता रहता है और किसी प्रकार की सर्जनात्मक सार्थकता प्राप्त नहीं कर पाता।

नाटक की यह स्थिति हिन्दी के अन्य साहित्य-रूपों की तुलना में और भी तीव्रता से स्पष्ट हो जाती है।। प्रसादोत्तर युग रोमेंटिक प्रभावों के उत्तरोत्तर ह्रास और यथार्थवादी जीवनदृष्टि के अधिकाधिक विस्तार का युग है। इस युग के काव्य और कथा-साहित्य में व्यापक बौद्धिक उथल-पुथल और जीवन के मूल्यों के प्रति एक नई दृष्टि के प्रारम्भ की अभिव्यक्ति स्पष्ट है, जिसके फलस्वरूप काव्य और कथा के कथ्य और रूप तथा शिल्प में व्यापक परिवर्तन सम्भव हुए। ये परिवर्तन किसी हद तक बौद्धिक और आरोपित होने पर भी, मूलत: बदलते हुए परिवेश और रचनाकारों की बदलती दृष्टि की उपज थे और कथ्य और रूप दोनों ही स्तरों पर आत्यन्तिक रूप में हिन्दी की अपनी विशिष्ट काव्य-परम्परा से सम्बद्ध थे।

किन्तु नाटक के क्षेत्र में इस बौद्धिक उथल-पुथल और परिवेश तथा मूल्यगत परिवर्तनों की छाप बड़ी सतही, कृत्रिम, बल्कि प्राय: निराधार और मिथ्या रही। प्रसाद के बाद, बल्कि उनके ही युग में, शेक्सपियर के नाटकों का प्रभाव तो कम होता गया, पर इब्सन, बर्नार्ड शा तथा यूरोप के अन्य यथार्थवादी नाटककारों का जो प्रभाव बढ़ा वह बड़ा सतही

रहा, क्योंकि बौद्धिक और भावात्मक धरातल पर किसी हद तक स्वीकृत होने पर भी वह मूलतः आंतरिक, सामाजिक भौतिक परिस्थितियों की उपज न था। यूरोपीय यथार्थवाद यंत्र और जीव-विज्ञान की प्रगति और औद्योगिक समाज तथा उसके बदले हुए सम्बन्धों पर आधारित है और वह सम्पूर्ण यूरोपीय सभ्यता तथा संस्कृति में प्रकट होने वाले नये जीवन-मूल्यों और जीवन-दृष्टि का सूचक था। इब्सन के नाटकों में उस बदलते हुए समाज की गहरी आत्मिक पीड़ा की अभिव्यक्ति है। भारतीय रचनाकार, विशेषकर हिन्दी लेखक, के लिए न तो वह सामाजिक परिवेश ही यथार्थ था, न वह बौद्धिक आलोड़न ही। उसकी चेतना यथार्थवादिता की ओर उन्मुख होते हुए भी अभी उसका स्तर ऐसा न था कि नाटकीय अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक स्पष्टता, तीव्रता और प्रखरता सम्भव हो सके।

इसलिए काव्य और कथा-साहित्य में जहाँ यह छद्म यथार्थवाद, जो यथार्थवादी शब्दावली में रोमेंटिक दृष्टिकोण का ही एक निरन्तरण था, किसी हद तक चल गया और इतना कृत्रिम तथा आरोपित न जान पड़ा, वहीं नाटक में, उसकी रूपगत विशिष्टता के कारण, वह सर्वथा प्रभावहीन और कृत्रिम सिद्ध हुआ। यूरोप के यथार्थवादी नाटककार ने मनोविज्ञान, जीवविज्ञान और समाजविज्ञान के नये आलोक में व्यक्ति के बाह्य और आन्तरिक यथार्थ को यथासंभव प्रामाणिकता, सूक्ष्मता और सम्पूर्णता में रंगमंच पर उपस्थित करने का यत्न किया था और इस प्रकार मनुष्य के भावजगत् तथा सामाजिक सम्बन्धों का नये सिरे से अनुसंधान किया था। किन्तु उपयुक्त बाह्य तथा आन्तरिक परिस्थितियों के अभाव में हिन्दी-नाटककार के लिए यह संभव न था, वह यथार्थवादिता का केवल नाम-भर ले सकता था।

नाटक के विशेष संदर्भ में इस स्थिति का एक कारण यह भी था, कि हिन्दी के पास अब कोई भी रंगमंच नहीं रहा था जो अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं से नाटक के बदलते हुए स्वरूप को निर्धारित कर सके। इब्सन और शा के नाटक यथार्थवादी रंगमंच के लिए ही लिखे गए थे, और बहुत हद तक वे रंगमंच के अपने विशिष्ट आन्तरिक विकास के परिणाम भी थे और उसके सूचक भी। यथार्थवादी नाटक और रंगमंच न केवल एक ही सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति की अभिव्यक्ति हैं, बल्कि एक-दूसरे की मूलभूत रूप में प्रभावित और निर्धारित भी करते हैं। हिन्दी में प्रसाद के तुरन्त बाद का तथाकथित यथार्थवादी नाटक (जो कुछ भी थोड़ा-बहुत लिखा गया) अधर में लटका हुआ था और एकदम अयथार्थ था, क्योंकि वह किसी भी प्रकार के रंगमंच से सम्बद्ध या अनुशासित नहीं था। इस प्रकार इस काल का नाटक-साहित्य आन्तरिक अथवा बाह्य किसी भी प्रकार के प्रभावों अथवा आवश्यकताओं की परिणति न था।

यूरोपीय यथार्थवादी नाटक का उल्लेख प्रसाद के तुरन्त बाद के नाटक के सन्दर्भ में इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि इस समय तक हिन्दी-नाटक अपनी निजी रंगमंचीय परम्परा या प्रेरणा से भी पूरी तरह कट चुका था और भारतेन्दु या प्रसाद की तुलना में कहीं अधिक यूरोपीय नाटक का अनुकरण करने लगा था। देश के किसी भी रंगमंचीय रूप से कोई भी सम्बन्ध न होने के कारण उसका और भी अधिक कृत्रिम और अयथार्थ हो जाना अनिवार्य था। किसी जीवित रंगमंच से सम्पर्क के अभाव में नाटक का एक प्रकार के अवास्तव भावविलास, रूपहीनता और निरर्थकता के दलदल में फँस जाना बहुत अस्वाभाविक नहीं। प्रसाद के बाद चौथी दशाब्दी का हिन्दी-नाटक इसी निरर्थकता और रूपहीनता का ज्वलंत उदाहरण है।

इस दौर के सबसे चर्चित नाटककार हैं लक्ष्मी नारायण मिश्र, जिनके नाटकों में यह स्थिति पूरी तरह प्रतिफलित है। मिश्रजी एक प्रकार से प्रसाद तथा अपने युग के अन्य रोमेंटिक लेखकों के विरुद्ध बुद्धिवाद का आग्रह लेकर सामने आए थे। अपने नाटक 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका में उन्होंने कहा था—"बुद्धिवाद किसी तरह का हो—किसी कोटि का हो—समाज या साहित्य की हानि नहीं कर सकता।" वे इब्सन और बर्नार्ड शा से प्रभावित थे और मानते थे कि "ज़िन्दगी की कोई भी संकीर्ण परिपाटी, धर्म या सदाचार की कोई भी निश्चित कसौटी, साहित्य और कला की कोई भी प्रभावशालिनी व्याख्या आँख मूँदकर स्वीकार कर लेना यही नहीं कि व्यक्तिगत विकास में बाधा डालेगी, एक प्रकार से घातक भी होगी।" प्रसाद के नाटकों के सुदूर ऐतिहासिक और काल्पनिक वातावरण की बजाय उन्होंने घोषित रूप से समसामयिक जीवन के यथार्थ को नाटकों में प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाया। अपने नाटक 'राक्षस का मन्दिर' की भूमिका

में वे कहते हैं—"लेकिन यह तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम ज़िन्दगी को सब ओर से, भीतर और बाहर से प्रवृत्तियों के चढ़ाव और उतार को, दैवी और राक्षसी द्वन्द्व को, आशा और निराशा के सम्मिलन को, लालसाओं और इच्छाओं के मरुस्थल को, होनी और अनहोनी की रंगशाला को देख न लें, समझ न लें।" वे अपने नाटक 'मनुष्य की सारी ज़िन्दगी' को प्रकाशित करने के लिए लिख रहे थे। यदि पाठकों को उनकी रचना 'अश्लील या संहारक' लगे तो इसका उत्तरदायित्व उन पर नहीं 'समाज के उसी अधिकांश भाग पर है जिसके मुख्य उपकरण मेरे नाटक के चरित्र हैं।' इस प्रकार मिश्रजी नाटक में यथार्थ की स्थापना के लिए ही कृतसंकल्प होकर आए थे।

मिश्रजी के दृष्टिकोण की इतने विस्तार से चर्चा इसलिए आवश्यक है कि एक प्रकार से वह हिंदी नाटक के क्षेत्र में एक नये दौर के प्रारंभ का सूचक था। किंतु कुछ तो इस दृष्टिकोण और भारतीय परिस्थितियों के अपने अंतर्विरोध के कारण, कुछ यथार्थवादी रंगमंच या नाटक के उपयुक्त परिस्थितियों के अभाव में, और कुछ मिश्रजी की अपनी सीमाओं के कारण, उनके नाटक किसी कलात्मक सार्थकता को प्राप्त न कर सके। उनका पहला नाटक 'संन्यासी' (१९२१) उसी वर्ष प्रकाशित हुआ जिस वर्ष प्रसाद का 'स्कंदगुप्त'। उसकी विषयवस्तु ऐतिहासिक नहीं, आधुनिक शिक्षा और उसके कारण रोमेंटिक प्रेम की बुराइयों से संबंधित है। इसके बाद १९३७ तक मिश्रजी ने पाँच नाटक और लिखे जिन सब में वे बदलते हुए भारतीय समाज में स्त्री-पुरुषों के नए संबंधों की ही जाँच-पड़ताल करते रहे। किंतु इस बदलती हुई स्थिति को गहराई में जाकर देखने योग्य पैनी यथार्थ दृष्टि मिश्र जी के पास नहीं थी। इसलिए उनके नाटकों के कथानक बनावटी हैं, स्थितियाँ अधिकांश आरोपित, काल्पनिक और अविश्वसनीय हैं, और चरित्र निर्जीव, निरे विचार-मात्र, ऐसी अंतहीन बहस में लगे हुए जो लेखक के खोखले, थोथे आदर्शवाद के कारण अवास्तव ही नहीं, एक भंगिमा-मात्र लगती है। 'राक्षस का मंदिर' की भूमिका में उनका दावा है कि उसमें उन्होंने 'अपना लैन्सेट बेदरदी के साथ इस्तेमाल किया है'। पर वास्तव में यदि कोई लैन्सेट उसमें हो भी तो डान क्विज़ोट की तलवार की भाँति वह हवा में ही घूमता रहता है और हवा को ही काटता रहता है, कभी किसी यथार्थ स्थिति का स्पर्श नहीं करता।

मिश्रजी के इस नाटक में एक आतंकवादी अपनी विवाहिता पत्नी से उदासीन होकर एक वेश्या से प्रेम करता है और बाद में उस वेश्या के संरक्षक अपने वकील मित्र का सारा रुपया वेश्या-सुधार के नाम पर हड़प लेता है और एक ऐसा आश्रम खोलता है जिसकी आड़ में वह अपनी वासनाओं की पूर्ति कर सके। उधर वेश्या का हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वह उसका भंडाफोड़ करने का डर दिखाकर उस आश्रम का, अर्थात् उस राक्षस के मंदिर का, सारा प्रबंध अपने कब्ज़े में ले लेती है। 'मुक्ति का रहस्य' में एक स्त्री किसी विवाहित पुरुष से प्रेम करती है और एक डॉक्टर की सहायता से उसकी पत्नी को ज़हर दिलवाकर मरवा डालती है। किंतु उसके बाद डॉक्टर उसका रहस्य खोल देने की धमकी देकर उसे समर्पण के लिए बाध्य करता है, पर उससे विवाह करने को तैयार नहीं। इस परिस्थिति से दुखी होकर वह आत्महत्या का प्रयत्न करती है पर बच जाती है और सारी बात अपने प्रेमी को बता देती है जो डॉक्टर को पिस्तौल लेकर मारने चलता है। उधर डॉक्टर का हृदय बदल जाता है और वह स्त्री भी अब अपने प्रेमी से नहीं डॉक्टर से ही विवाह करना चाहती है, आदि। 'राजयोग' में एक प्रेम में तिरस्कृत व्यक्ति योगी बनकर वापस आता है और अपनी आत्मिक शक्ति से अपनी भूतपूर्व प्रेमिका के—जो अब विवाहित है—नौकर को हिप्नोटाइज़ करके बेहोशी की दशा में प्रेमिका के जन्म से संबंधित कुछ अप्रिय स्थितियों का भेद खुलवा देता है। इससे सहसा प्रेमिका और उसके पति के बीच संबंध टूटने की स्थिति आ जाती है, पर अंत में वह स्वयं स्वार्थ त्याग करके राजयोगी से कर्मयोगी बनकर चला जाता है। 'सिंदूर की होली' में एक घूसखोर डिप्टी कलक्टर की बेटी ऐसे विवाहित पुरुष से प्रेम करने लगती है जिसकी उसके पिता को घूस देकर हत्या कर दी गई है। पिता के विरोध के बावजूद वह लड़की अस्पताल में जाकर उसके मरने से पहले उसके हाथों से अपनी माँग में सिंदूर भरवा लेती है। 'आधी रात' में इंगलैंड में शिक्षाप्राप्त मायावती नामक स्त्री की कहानी है। उसके दो प्रेमी हैं। उनमें से एक दूसरे की हत्या कर देता है तो उसे काले पानी की सज़ा होती है। मायावती इस स्थिति से दुखी होकर नारी के भारतीय आदर्श की खोज में एक कवि से विवाह कर लेती है और वर्षों तक उसके साथ

इतना आदर्श, सात्विक जीवन बिताती है कि दोनों में कभी शारीरिक संबंध नहीं होता। कुछ समय बाद उसका मृत प्रेमी प्रेत बनकर और हत्यारा छूटकर आ जाता है और उसे इस प्रकार तीन पुरुषों का सामना करना पड़ता है। अंत में वह नदी में डूबकर आत्महत्या कर लेती है।

मिश्रजी के नाटकों के कथासूत्रों के इस अत्यंत संक्षिप्त विवरण से इतना तो प्रकट होता है कि उनमें से कई एक में पर्याप्त नाटकीय संभावनाएँ हैं। विशेषकर 'मुक्ति का रहस्य', 'सिंदूर की होली' और 'आधी रात' में मूलभूत मानवीय स्थितियों में नाटकीय संघात का एक चौखटा मौजूद है। पर उसके नाटकीय अथवा किसी भी प्रकार के कलात्मक रूपायन के लिए जैसी प्रखर, निर्मम और निस्संग अंतर्दृष्टि चाहिए, वह मिश्रजी के पास नहीं है। मिश्रजी अपने पूर्वाग्रहों की भावुकता और इच्छित चिंतन में बह जाते हैं, और किसी सार्थक और विश्वसनीय नाटकीय संघात की सृष्टि कहीं नहीं होती। प्रत्येक नाटक में घटना-विन्यास अत्यधिक सतही, कृत्रिम और आरोपित बना रहता है। बहुत बार तो घटनाओं और उनकी परिणतियों का कोई सिर-पैर नहीं मिलता, कार्य-व्यापार में न तो कोई यथार्थपरक बाह्य तर्कसंगति का निभाव दूर तक हो पाता है न किसी आंतरिक संगति का। इसीलिए अधिकांश पात्र यांत्रिक और आंतरिक गति तथा संगति से शून्य हैं। शा के अनुकरण में वे अपने नाटकों में पात्रों से बड़ी बहसें और चर्चाएँ करवाते हैं, पर शा की प्रखर बुद्धि और सुचिंतित आधुनिक जीवनदृष्टि के अभाव में मिश्रजी के विचार तारतम्यहीन, छिछले और दंभपूर्ण लगते हैं, और लम्बी-लम्बी चर्चाएँ निरी वाचालता मात्र। विषयवस्तु में न भावगत तीव्रता है, न बौद्धिक प्रखरता और न काव्यात्मक गहनता।

इसीलिए इन तथाकथित नाटकों की दुर्बलता और भी तीव्रता से प्रकट होती है उनके रूप और शिल्प में। वास्तव में वे अधिकांशतः भावुक-संवादात्मक कथाएँ-भर हैं, नाटक नहीं। रूप और गठन की उनमें इतनी भयंकर शिथिलता है कि आश्चर्य होता है। 'सिंदूर की होली' तक में, जो संभवतः उनकी सबसे कम दुर्बल रचना है, नाटकीय दृश्य-नियोजन की सामान्य बातों का, रंगमंच की साधारण-से-साधारण आवश्यकताओं का भी अज्ञान और अभाव है। इतना तक निश्चित नहीं कि दृश्य कमरे के अंदर हैं या बाहर। यथार्थवादी नाट्य-रूप और शिल्प का भी ज्ञान उन्हें अधिक नहीं जान पड़ता। उन वास्तविक रंगमंचीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं की चेतना की तो बात ही क्या, जिन्होंने यथार्थवादी नाटक का रूप निर्धारित किया! मूलतः उनकी रंगमंचीय कल्पना पारसी रंगमंच पर प्रचलित लिपटवाँ पर्दों की है, यथार्थ का भ्रम उत्पन्न कर दे ऐसे दृश्य-विन्यास की नहीं। इसीलिए उनके नाटकों में एक अंक के भीतर कई-कई दृश्य होते हैं, और प्रायः एक ही दृश्य के भीतर एकाधिक पट-परिवर्तन। 'राक्षस का मंदिर' के तीसरे अंक के एक ही दृश्य में नगर की सड़क, फिर पर्दा उठने पर मातृमंदिर का भवन, फिर उसी में 'ऊपर का बड़ा कमरा' आदि स्थलों में कार्य-व्यापार घटित होता है। 'मुक्ति का रहस्य' में कार्य-व्यापार एक ही अंक-दृश्य में सड़क के किनारे दुमंज़िले मकान के पहले मंज़िल के कमरे में, उसके सामने छत पर, उसके नीचे लॉन पर, सड़क पर, घटित होता जाता है। मिश्रजी में दृश्यमूलक कल्पना का नितांत अभाव है, जिसके बिना किसी रचना को नाटक कहना निरा शब्दजाल मात्र है। 'राक्षस का मंदिर' के तीसरे अंक के मंच-निर्देश का एक उदाहरण है—'सामने आगे को निकला हुआ चबूतरा। उसके नीचे सपाट मैदान। हरी घास चबूतरे से लेकर कुछ दूर मैदान तक; ऊपर शामियाना। चबूतरे पर शामियाने के नीचे एक बड़ी गोल मेज़ और कुर्सियों की कई कतारें। नीचे भी कई कतारों में कुर्सियाँ। सामने से प्रवेश करने का रास्ता नीचे की कुर्सियों के बीच से होता हुआ चबूतरे तक इत्यादि। और कुछ देर बाद इसी दृश्य में कार्य-व्यापार ऊपर के बड़े कमरे में पहुँच जाता है। किसी यथार्थवादी निर्देशक के लिए इससे बड़ी दृश्यबंध-संबंधी उलझन की कल्पना बहुत आसानी से नहीं की जा सकती। 'आधी रात' में मिश्रजी एक प्रेतात्मा को पात्र बनाते हैं और नाटक के वातावरण में एक प्रकार की अति-प्राकृतिकता भी मौजूद है। यथार्थवादी नहीं तो एक प्रकार की काव्यात्मक नाटकीय संभावना इस नाटक में बड़ी गहरी है। पर मिश्रजी उसका कोई उपयोग नहीं कर पाते और नाटक नितांत अनाटकीय संवादों और बे-सिरपैर की परिणतियों में खो जाता है। वास्तव में छायावादी रोमेंटिक दृष्टिकोण को ठुकराकर बुद्धिवाद के ध्वजाधारी होने के दावे के बावजूद, मिश्रजी मूलतः रोमेंटिक ही बने रहते हैं, बल्कि रोमेंटिक दृष्टिकोण के उच्छिष्ट से पीड़ित हैं।

और इस खींचतान में न रोमेंटिक दृष्टि की भावसघनता उनके हाथ लगती है न यथार्थवादी दृष्टि की वस्तुनिष्ठ प्रखरता।

इस अयथार्थ दृष्टि का बड़ा ज्वलंत रूप इन नाटकों की भाषा में है। वह नितांत गतिहीन, कृत्रिम और बोझिल है। न उसमें प्रसाद की-सी काव्यात्मकता है न बोलचाल की प्रवाहमयता। वास्तव में वह भाषा है ही नहीं, शब्दों का समुच्चय-भर है—रोमेंटिक काव्य और कथा-साहित्य की भावसघन भाषा का प्रभावहीन अवशेष-मात्र। मिश्रजी संवादों में नाटकीयता लाने के लिए अधूरे वाक्यों का और उन्हें बीच में बिंदियाँ लगाकर जोड़ने की युक्ति का बहुत उपयोग करते हैं, जिससे भाषा का रहा-सहा प्रवाह भी नष्ट हो जाता है।

यह स्थिति मिश्रजी के तथाकथित 'सामाजिक' या 'समस्या' नाटकों की है। १९३७ के बाद तो फिर उन्होंने सामयिक प्रश्नों को लेकर नहीं, केवल ऐतिहासिक, पौराणिक और 'सांस्कृतिक' कथानकों को लेकर ही बहुत-से नाटक लिखे। वे सब संवादात्मक इतिवृत्त-मात्र हैं, जिनमें न महत्त्वपूर्ण कथा की कोई विशेषताएँ हैं न नाटक की। वास्तव में मिश्रजी में नाटकीय कल्पना का अभाव है। फलस्वरूप उनके नाटकों की रंगमंचीय पुनर्सृष्टि के लिए अधिक गुंजाइश नहीं। इसी कारण उन्होंने शायद ही कभी किसी नाटक-मंडली को आकर्षित किया हो। और इसी कारण रचना, शैली या भाषा किसी भी दृष्टि से समकालीन अथवा परवर्ती नाट्य-लेखन या रंगमंच पर उनका कोई प्रभाव न पड़ सका। दुर्भाग्यवश मिश्रजी ने उस समय लिखना शुरू किया जब पारसी रंगमंच तक प्रायः विघटित हो चुका था और रंग-मंचीय गतिविधि जो भी थोड़ी-बहुत थी वह स्कूल-कॉलेजों और विश्वविद्यालयों तक ही सीमित रह गई थी। वहाँ केवल एकांकियों की ही खपत हो सकती थी। वैसे भी स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के विश्लेषण-जैसे विस्फोटक विषय पर लिखे गए नाटक हमारी दकियानूसी शिक्षण-संस्थाओं द्वारा नहीं खेले जा सकते। फलस्वरूप एक जीवन्त रंगमंच की व्याव-हारिक और सर्जनशील आलोचना का लाभ भी मिश्रजी को नहीं मिल सका और वे अपनी दृष्टि और अपने रूपविधान को सार्थक तथा सक्षम बनाने का अवसर न पा सके। पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में जब हिन्दी में रंगमंच नए सिरे से सक्रिय और सजीव हुआ, तब भी वे उसके साथ कोई सम्बन्ध न स्थापित कर सके और उनके नाटकों की कोई दिशा नहीं बन पाई।

इस दौर के अन्य नाटककार हैं **हरिकृष्ण प्रेमी, राम-कुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, गोविन्द वल्लभ पंत, वृन्दावनलाल वर्मा** आदि, जो प्रायः सभी तीसरी दशाब्दी के अन्त या चौथी के मध्य से प्रारम्भ करके छठी दशाब्दी तक नाटक लिखते रहे हैं। इन लोगों की रचनाओं में नाटक के विघटन की अभिव्यक्ति और भी सम्पूर्ण है। संवादात्मक इतिवृत्त की अनिवार्यता, आरोपित घटना-विन्यास, सरलीकृत स्थितियों, आकस्मिक परिवर्तन, कृत्रिमता, गहनता और नाटकीय काव्यात्मकता का पूर्णतः अभाव आदि बातें इन लेखकों के प्रायः सभी नाटकों में समान भाव से विद्यमान हैं। वे हिन्दी की इस अन्तर्विरोध-पूर्ण स्थिति के सबसे ज्वलन्त प्रमाण हैं कि रंगमंच के बिना ही केवल पढ़ने के लिए, या छपने और पाठ्यक्रमों में सम्मिलित होने के लिए, सार्थकताहीन संवादात्मक कथाओं को नाटक कहकर प्रचारित किया जाता रहता है। इस दृष्टि से हिन्दी के ये तथाकथित नाटक बँगला, मराठी आदि भाषाओं के नाटकों से कितने भिन्न हैं। बँगला, मराठी आदि भाषाओं के नाटक अपने-अपने रंगमंचों पर प्रयोग के लिए लिखे जाने के कारण, कलात्मक दृष्टि से अधिकांशतः भावुकतापूर्ण, अयथार्थ, छिछले और इसीलिए सार्थकताहीन होने पर भी, रंगमंच पर किसी हद तक जीवित रहे हैं, और नाटक-लेखन की परम्परा को भी जीवित तथा सक्रिय रखने में सहायक हुए हैं। किन्तु इस दौर के हिन्दी के नाटक हर दृष्टि से अनुल्लेखनीय और निरर्थक हैं। उनकी किसी लिखित प्रकार की रचना के रूप में भी कोई कलात्मक सार्थकता नहीं है, रंगमंच की दृष्टि से तो सर्वथा अप्रासंगिक वे हैं ही। उनका उल्लेख केवल हिन्दी के शोध-ग्रन्थों में ही होता या हो सकता है, अन्यथा कलात्मक अभिव्यक्ति की किसी भी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता को वे पूरा नहीं करते और नाटक-सम्बन्धी किसी चर्चा में वास्तव में उल्लेखनीय नहीं हैं।

हिन्दी-नाटक के अपेक्षाकृत अधिक सार्थक दौर का आरम्भ द्वितीय महायुद्ध के दिनों में, विशेषकर युद्धोत्तर-कालीन बौद्धिक और सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता में से, हुआ। और यह आकस्मिक नहीं है। यह ऐसा काल है जिसमें पारसी रंगमंच का सम्पूर्ण विघटन हो जाने के बाद रंगमंच

सम्बन्धी एक नई चेतना का उदय हुआ। इसका एक छोर दीख पड़ता है व्यवसायी स्तर पर संगठित पृथ्वी थिएटर में, और दूसरा जन नाट्य संघ के सर्वथा अव्यवसायी किन्तु तीव्र उद्देश्यपरक प्रदर्शनों में। दोनों ही के प्रभाव के अन्तर्गत रंगमच को पहले की अपेक्षा सर्वथा भिन्न प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। नाटक और उसका प्रदर्शन पारसी रंगमंच के उच्छृंङ्खल और नैतिक रूप में भ्रष्ट वातावरण से निकल आया। अब एक ओर उसे सामाजिक सार्थकता मिली और दूसरी ओर कलात्मक अभिव्यक्ति के एक प्रकार के रूप में भी उसकी तरफ ध्यान गया। साथ ही नाटक-प्रदर्शन स्कूल-कॉलेजों के सीमित वातावरण से निकलकर अधिक व्यापक धरातल पर खड़ा हो सका।

नाटक रचना की दृष्टि से एक मूलभूत परिवर्तन का प्रारम्भ इस दौर में हुआ। अब इस बात की प्रवृत्ति बढ़ी कि नाटक रंगमंच के लिए ही लिखे जाएँ और उसी की कसौटी पर उन्हें देखा-परखा और समझा जाए। नाटक-रचना का सम्बन्ध केवल पाठ्यक्रमों और स्कूल-कॉलेजों तक सीमित न रहा, और अपने प्रकृत मूलभूत आधार रंगमंच से बनना फिर से प्रारम्भ हुआ। निस्सन्देह पृथ्वी थिएटर और जन-नाट्य-संघ के प्रभाव में लिखे और खेले गए नाटकों का कलात्मक स्तर बहुत नीचा है, बल्कि नहीं के बराबर है। उनकी अपील मुख्यतः या तो राजनीतिक है, या उद्देश्यपरक मनोरंजन प्रधान। मानव-जीवन या स्वभाव या स्थिति के किसी गहरे और सार्थक आयाम की कोई तलाश उनमें न हो सकती थी और न है। फिर भी हिन्दी नाटक में फिर से प्राण-प्रतिष्ठा होने का बहुत बड़ा श्रेय इन्हीं दोनों घटनाओं को है, क्योंकि उन्होंने नाटक को रंगमंच से जोड़ा और उसे निरे मनोरंजन के प्रकार से उठाकर एक सामाजिक सार्थकता प्रदान की।

इसी बीच यों भी देश के बौद्धिक-मानसिक जीवन में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। यूरोप की विभिन्न राजनीतिक, दार्शनिक और साहित्य-सम्बन्धी विचारधाराओं ने, विशेषकर यथार्थवादी विचारधाराओं ने, देश के बुद्धिजीवियों और लेखकों को अधिक गहराई के साथ छुआ। दूसरे महायुद्ध ने बहुत-सी स्वीकृत-स्थापित मान्यताओं को ध्वस्त कर दिया, या कम-से-कम उन पर बड़ा-सा प्रश्न-चिह्न लगा दिया, और संवेदनशील भारतीय बुद्धिजीवी, लेखक, सर्जनात्मक कर्मी अपने-आपको और अपने परिवेश को, तथा दोनों के बीच सम्बन्ध को, नई दृष्टि से देखने की ओर उन्मुख हुआ। जीवन का रोमेंटिक काल्पनिक अथवा अमूर्त भाववादी प्रस्तुतीकरण साहित्यकार और उसके पाठक को अपर्याप्त लगने लगा। महायुद्धकालीन और परवर्ती हिन्दी-काव्य कथा-साहित्य में इस उथल-पुथल के चिह्न पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं, जिन पर सभी का ध्यान जाता है और जाता रहा है। नाटक के क्षेत्र में भी इस उथल-पुथल का निश्चित प्रभाव पड़ा, पर वहाँ यह परिवर्तन इतना धीमा और अटकता हुआ-सा रहा, और सक्रिय जीवंत रंगमंच के अभाव में मात्रा और गुण दोनों ही दृष्टियों से इतना अपर्याप्त रहा, कि तुरन्त ही उसकी ओर ध्यान न जा सका।

नाटक के विषय में इस बदलती हुई चेतना की सबसे पहली उल्लेखनीय अभिव्यक्ति **उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटकों** में मिलती है। अश्क हिन्दी के पहले नाटककार हैं जिनके नाटकों में यथार्थवादी रंगमंच की चेतना सुस्पष्ट है। अश्क का पहला पूर्णकालिक नाटक 'जय-पराज' १९३७ में प्रकाशित हुआ। वह कथावस्तु इतिहास से लेने में एक प्रकार से द्विजेन्द्रलाल राय और जयशंकर प्रसाद से प्रभावित होकर भी अपने रूपबन्ध में यथार्थवादी था, यद्यपि मूलतः यह शायद किसी पाठ्यक्रम में स्वीकृत होने के लिए लिखा गया था, या कम-से-कम उन दिनों की उस मुख्य प्रवृत्ति के अनुरूप था। किन्तु अश्क शीघ्र ही पाठ्यक्रमोपयोगी नाटकों की चहारदीवारी से निकल आए और जीवन की साधारण दैनन्दिन परिस्थितियों में नाटक खोजने की ओर प्रवृत्त हुए। १९३९ में प्रकाशित 'स्वर्ग की झलक' में उच्च-शिक्षित युवक-युवतियों के विवाह का प्रश्न है। एक पत्रकार प्रारम्भ में किसी उच्च शिक्षा प्राप्त 'आधुनिका' से विवाह करने के स्वप्न देखता है, पर ऐसे कुछ परिचित दम्पतियों के विवाहित जीवन के 'स्वर्ग की झलक' देखकर अन्ततः एक साधारण पढ़ी-लिखी लड़की से विवाह करना निश्चित करता है। नाटक में मध्यवर्गीय जीवन की धुरीहीनता और दम्भ पर हलका-फुलका व्यंग्य है, हास्य है, भाषा में बोलचाल की रवानी है और स्थितियों में किसी हद तक नाटकीयता भी है। पर कुल मिलाकर कार्य-व्यापार साधारण और सतही है, और चरित्र प्रायः सीधे, रूढ़ और एक-आयामी हैं। साथ ही यथार्थवादी नाटक की दृष्टि से इसकी दृश्य-योजना बहुत है उलझी हुई। उसमें पाँच विभिन्न दृश्यबन्ध हैं; और चौथे

अंक में ही तीन विभिन्न दृश्य हैं जिनमें से एक में पहले अंक के दृश्य की पुनरावृत्ति है। पात्रों की संख्या भी बहुत है: पुरुष ९, स्त्री ५, शिशु ३, और थिएटर हाल की भीड़।

अश्क के नाटक 'क़ैद' (१९४५) और 'उड़ान' (१९४६) में विषयवस्तु में अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्मता है। 'क़ैद' में अप्पी नामक एक सुन्दर चंचल युवती, जो कवि दिलीप से प्रेम करती थी, अपने विधुर जीजा से विवाह के लिए बाध्य होती है और पति के साथ चिनाब नदी के किनारे एक एकांत जगह में जीवन बिताती है। नाटक उसके जीवन की नीरसता, प्राणहीनता और व्यर्थता को प्रस्तुत करता है। दिलचस्प बात यह है कि नाटक के हर पात्र की अपनी-अपनी क़ैद है: अप्पी की, उसके पति की, प्रेमी कवि दिलीप की और उसकी वर्तमान प्रेयसि वाणी की। मानवीय स्थिति की ऐसी परिणति की प्रतीति, कम-से-कम सम्भावना के स्तर पर, हिन्दी नाटक को नया स्तर देती है। पर अश्क इस सम्भावना का पर्याप्त सूक्ष्म, गहरा और संवेदनशील उपयोग नहीं कर सके हैं। अप्पी और दिलीप की अपनी-अपनी क़ैद और उनके अंत: संघर्ष में पर्याप्त विसदृशता, प्रखरता और सार्थकता नहीं है। कुल मिलाकर चरित्रों में संघर्ष और परिणति की, और घटनाओं तथा संघर्ष के साथ चरित्रों की, पर्याप्त और अनिवार्य संगति नहीं है। नाटक की चरम परिणति आकस्मिक बाह्य स्थिति पर आधारित है, उसमें आन्तरिक अनिवार्यता का अभाव है। उसका दिलीप के चरित्र से भी मूलभूत और गहरा सम्बन्ध नहीं; वह दिलीप के चरित्र को अस्पष्ट, सतही और निरर्थक कर देती है और नाटक की सारी समस्या बेमानी हो जाती है। कुल मिलाकर नाटक का मूल संघर्ष अन्त तक कृत्रिम, निराधार और सार्थकताहीन बना रहता है। चरित्र सभी एक-आयामी हैं। वाणी ही सबसे अधिक विश्वसनीय, रोचक और संभावनापूर्ण है, बहुत-कुछ इसलिए कि वह इतनी कम खुलती है। अश्क हर बात को इतना साफ़ और खोलकर कहते और दुहराते हैं कि उनके नाटकों की निहित संभावनाएँ प्राय: नष्ट हो जाती हैं।

रूपबंध के स्तर पर 'क़ैद' में एक और भी बड़ा भारी दोष है। उसमें प्रत्येक नाटकीय स्थिति में बच्चों के संवादों और कार्य का इतना अधिक उपयोग है कि स्थितियाँ प्राय: अनभिनेय हो जाती हैं और समूची रचना एक लम्बी संवादात्मक कहानी जैसी लग उठती है।

१९५० के आसपास ही लिखा गया 'भँवर' शायद अश्क का सबसे सूक्ष्म विषय-वस्तु का नाटक है। उसमें उच्च वर्ग की अत्यधिक शिक्षित 'बौद्धिक' युवती प्रतिभा के कुंठित व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया गया है। वह विद्यार्थी जीवन में दर्शन के अध्यापक नीलाभ से प्रेम करती थी पर उसका प्रतिदान नहीं मिला। बाद में कोई पुरुष उसे सन्तोषजनक नहीं जान पड़ता और वह सदा नीलाभ की ही कामना करती रहती है—उस बच्ची की भाँति 'जो चाँद को चाहती है और खिलौनों से जिसकी तसल्ली नहीं होती।··· लेकिन चाँद तो बहुत ऊँचा है···।' निस्संदेह यहाँ मानवीय स्थिति की गहराई में नाटक की खोज है। पर दुर्भाग्यवश अश्क उसकी अभिव्यक्ति के लिए जिस संघर्ष को प्रस्तुत करते हैं वह अत्यधिक बाह्य और स्थूल है। पूरे नाटक में कोई गहन भावात्मक स्थिति नहीं है, घटनाएँ, पात्र, परिणतियाँ सभी हल्की-फुल्की, सतही और सामाजिक परिस्थितियों तक सीमित रहती हैं। नाटक के अंत में प्रतिभा का एक प्रेमी हरदत्त उसे बाँहों में कस लेता है तो वह अलग छूटकर उत्तेजित आवेश-भरे स्वर में उससे चले जाने को कहती है, और उसके जाने के बाद नीलाभ की याद करके सिसकने लगती है। यह परिणति किसी गहरे विस्फोट की बाह्य या आंतरिक स्थिति को प्रस्तुत नहीं करती, केवल भावुकतापूर्ण बनावट और अतिनाटकीय लगती है।

वास्तव में इस नाटक के पात्रों की परिकल्पना में जो जटिलता है वह रंगमंच पर कार्य-व्यापार द्वारा नहीं प्रकट हो पाती; एक कथा की भाँति निर्देशों के वर्णनों में ही अधिक रहती है। कार्य-व्यापार बड़े सतही और साधारण स्तर पर चलता है। स्थितियों में कोई भी नाटकीय घुमाव नहीं है जो प्रतिभा के व्यक्तित्व को और उसके संघर्ष को एक साथ कई स्तरों पर रंगमंच पर मूर्त कर सके।

'अलग-अलग रास्ते' (१९५३) तीन-चार वर्ष पहले लिखे गए एकांकी 'आदि मार्ग' का परिवर्धित रूप है। इसमें रानी और राजी नामक दो बहनों के अलग-अलग रास्तों की कथा है। दोनों का विवाह असफल सिद्ध होता है। रानी का पति प्रत्याशित दहेज न मिलने के कारण दुर्व्यवहार करता है और वह पिता के घर लौट आती है। राजी का पति पहले से ही किसी और लड़की से प्रेम करता था और राजी से उसका विवाह विरोध के बावजूद कर दिया गया था। अब वह

अवसर पाकर अपनी प्रेमिका से भी विवाह कर लेता है तो राजी भी पिता के घर लौट आती है। किन्तु अन्त में राजी तो सपत्नी के साथ रहना स्वीकार करके पति के घर लौट जाती है, पर रानी किसी तरह अपने पति के पास लौटने को तैयार नहीं होती और इस कारण पिता के क्रुद्ध होने पर आत्म-निर्भर होने के उद्देश्य से घर छोड़कर भाई पूरन के साथ चली जाती है। इस कथावस्तु में भी मानवीय और नाटकीय दोनों ही सँभावनाएँ पर्याप्त हैं। पर अश्क यहाँ भी स्थिति को बहुत सतही ढंग से, उसका कुरीतिमूलक स्थूल सामाजिक पक्ष ही, प्रस्तुत कर सके हैं; वैयक्तिक स्तर पर कोई गहराई का आयाम ही प्रकट नहीं होता।

इसके दो कारण हैं। एक तो राजी और रानी दोनों में से किसीका भी परिस्थिति से असन्तोष अपने पति से प्रेम के कारण, या किसी तीव्र मानवीय भावना के कारण, नहीं, बल्कि एक-न-एक प्रकार के दुर्व्यवहार के कारण है। किसी प्रकार के गहरे आंतरिक सम्बन्ध का प्रश्न ही सामने नहीं आता। इसलिए किसी तीखी मानसिक यातना, नाटकीय अन्तःसंघर्ष का कोई स्पर्श नहीं मिलता। दूसरे, लेखक का निर्वहण कुछ इस प्रकार का है कि सहानुभूति परिस्थिति को स्वीकार कर लेने वाली राजी और उससे भी अधिक उसके पति मदन के प्रति होती है, रानी के प्रति नहीं। कुल मिलाकर राजी का व्यवहार और मार्ग अधिक प्रभावशाली लगता है; वह अधिक त्याग करती है, अधिक सहन करती है, उसमें मानवीय करुणा और गरिमा कहीं अधिक है। इसलिए अश्क जो प्रश्न नाटक में उठाते हैं उनका कोई तर्कसंगत सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता, और नाटक का मूल स्वर बिखर जाता है। कुल मिलाकर नाटक में एक-आयामी चरित्रों, खोखली सतही क्रांतिकारिता और निरी शाब्दिक स्थितियों की प्रधानता है। इसलिए यह सतही सामाजिक आलोचना का नाटक रह जाता है, मानवीय भाव-ऊष्मा का नाटक नहीं बन पाता।

'अंजो दीदी' (१९५४) को भी एक एकांकी से बढ़ाकर पूर्णकालिक बनाया गया है। इसमें यांत्रिक नियमबद्धता के विरुद्ध विद्रोह प्रस्तुत किया गया है। ज़िन्दगी को मशीन की तरह चलाने से कभी-न-कभी उसमें चाबी ज्यादा लग ही जाती है जिससे मशीन का रुकना अनिवार्य है। दो दृश्यों के इस नाटक में दूसरे दृश्य में पहले दृश्य की स्थिति की बड़े विस्तार से सचेष्ट पुनरावृत्ति है और उस पुनरावृत्ति द्वारा यांत्रिकता के अन्य आयाम का प्रभाव संप्रेषित करने का प्रयास है। पर जहाँ पहला दृश्य एक सघन भावस्थिति को प्रस्तुत करता है वहाँ दूसरा कृत्रिम और गढ़ा हुआ लगता है। चरित्रों में अश्कीय सरलीकरण और एक-आयामिता है ही, अन्त भी अनावश्यक रूप से भावुकतापूर्ण हो गया है। कुल मिलाकर एक रोचक स्थिति का प्रस्तुतीकरण तो है, पर गहराई का कोई आभास नहीं होता।

अपने नाटक 'अंधी गली' (१९५६) को अश्क एक नया नाट्य प्रयोग कहते हैं। उनका कहना है कि यह सात अंकों का नाटक है, जिसमें प्रत्येक अंक अलग अलग एकांकी भी है और वे सब मिलकर समग्र रूप से एक गली के जीवन का चित्र भी प्रस्तुत करते हैं। पर इस दावे में कोई सार नहीं। 'अंधी गली' शिथिल रूप में संबद्ध सात एकांकियों का संग्रह-मात्र है, एक पूरा नाटक नहीं। केवल रूपबन्ध की दृष्टि से लें तो इन सातों अंकों को चार घंटे से कम में नहीं खेला जा सकता, शायद कुछ अधिक समय ही लगे। उसमें १० स्त्री-पात्र, १९ पुरुष-पात्र, १ बच्चा, १ लड़का और भीड़ चाहिए। चार दृश्यबन्ध होंगे जिनमें से पहले और दूसरे-तीसरे की अंत में पुनरावृत्ति भी होती है। ये सब बातें इसके रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण पर प्रश्नचिह्न लगा देती हैं। आंतरिक दृष्टि से भी कोई केन्द्रीय संघर्ष या कार्य-व्यापार का सूत्र उसमें नहीं उभरता। किसी एकाग्रता की ओर, समन्वित चरमबिन्दु की ओर गति नहीं, एक ही सीमा में, एक ही स्तर पर, एक ही से जीवन के कई रूप प्रस्तुत हैं। शुरू से आखिर तक कोई गहराई का क्षण नहीं। इसीलिए दृश्यात्मकता बड़ी क्षीण है। नाटक का विन्यास और रूपबंध सम्पूर्णतः एक लम्बी कथा या छोटे उपन्यास-जैसा है।

अश्क के नाटकों के इस विस्तृत विश्लेषण से संभवतः यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर उनके नाटकों ने हिन्दी नाटक को निरी पाठ्यक्रमीय स्थिति से उबार कर उसे यथार्थवादी रंगमंच के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध किया, वहीं दूसरी ओर वे यथार्थ के बाह्य, सतही और एक-आयामी रूप को ही प्रस्तुत कर पाये। उनके नाटकों में न तो कोई तीव्र सघन मानवीय स्थिति है, न कोई स्मरणीय व्यक्तित्व, और न जीवन के बुनियादी घात-प्रतिघातों का विस्फोटक सार्थक साक्षात्कार। मूलतः अश्क एकांकीकार हैं, जिनमें

विभिन्न सामाजिक और वैयक्तिक स्थितियाँ अपने क्षणिक और प्रायः सतही रूप में कुशलता और रोचकता के साथ प्रस्तुत हो सकी हैं। किन्तु उनकी कुशलता या रोचकता इतनी पर्याप्त नहीं की किसी उल्लेखनीय रंगमंचीय गतिविधि को सहारा दे सके। यही कारण है कि अश्क मुख्यतः स्कूलों और कॉलेजों में ही लोकप्रिय हैं जहाँ रोचक और हलके-फुलके एकांकियों की ही माँग होती है, किसी गहरे नाटकीय प्रयास की नहीं। हिन्दी में नाटकों की इतनी कमी होने के बावजूद, देश की गंभीर नाट्य मंडलियाँ अश्क के नाटकों को प्रदर्शन के लिए नहीं उठातीं, क्योंकि उनकी समस्त 'अभिनेयता' और कई शिल्पगत नवीनताओं के बावजूद, उनमें इतनी गंभीरता नहीं है कि किसी गंभीर अभिनेता को अपना प्रयास सार्थक जान पड़े। वे एक-दो प्रदर्शन के लिए ही यथेष्ट हैं, बार-बार प्रस्तुत करने लायक गहराई और बहुविधता उनमें नहीं है। अश्क के नाटक न तो इतने छिछले हैं कि निरे मनोरंजन की तलाश करने वाली मंडलियों को आकर्षित करें, और न इतने गहरे कि गंभीर मंडली को नाट्य प्रदर्शन के लिए आवश्यक परिश्रम और प्रयास के उपयुक्त जान पड़ें। अश्क के नाटकों में कथा का तत्त्व भी बहुत अधिक है : वे व्यक्तियों और घटनाओं को उनके बुनियादी और गहरे संघात में घटित होते नहीं दिखा पाते, अधिक-से-अधिक पृष्ठभूमि के रूप में उसका वर्णन भर कर पाते हैं। किन्तु एक बात में अश्क का योगदान बड़ा महत्त्वपूर्ण है—नाटकोपयोगी भाषा तैयार करने में। उनके नाटकों की भाषा में बोलचाल की सहजता है, प्रवाह है, नाटकीय क्षण को मूर्त कर सकने की क्षमता है। पर प्रायः वह अभिधा से ऊपर नहीं उठ पाती। उसमें काव्यात्मक व्यंजना की और संयम की कमी है, यद्यपि नाटक की भाषा को रोमेंटिक अस्पष्टता तथा धुँधलेपन से और मिथ्या ओजप्रियता, भाषणात्मकता आदि से मुक्त करने में उसका निश्चित योग है। कुल मिलाकर अश्क नाटक को उसकी कृत्रिम सीमा से निकालकर उसके प्रकृत परिवेश में, रंगमंच के साथ संबद्ध करके, प्रस्तुत करते हैं, जो नाटक के विकास में अपने आप में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण चरण है।

नाटक को रंगमंच से जोड़ने और उसे सार्थक रचनाशीलता केस्तर पर प्रस्तुत करने का जो प्रारम्भ अश्क ने किया उसे एक और चरण आगे **जगदीशचन्द्र माथुर** ने बढ़ाया। अश्क की भाँति ही वे भी चौथी दशाब्दी के उत्तरार्द्ध से ही एकांकी लिखते रहे थे, जिनमें नाटकीय अभिव्यक्ति के कई एक रोचक और महत्त्वपूर्ण उपादानों का प्रयोग था। १९५१ में जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' प्रकाशित हुआ। जो हिंदी नाटक साहित्य के विकास की महत्वपूर्ण मंजिल है। उसमें एक बीते हुए युग के संदर्भ में एक समकालीन जीवन्त भावस्थिति का अन्वेषण किया गया है, जिससे घटनाओं, पात्रों और भाषा को एक से अधिक स्तर और आयाम प्राप्त होता है और संभाव्य निहित नाटकीय अर्थों का महत्त्व बढ़ जाता है। साथ ही वह अभिनेता के लिए निरी अभिधा को छोड़कर व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करने का अवसर प्रस्तुत करता है। 'कोणार्क' की मुख्य विषयवस्तु भी अधिक सूक्ष्म और व्यापक है—स्थापित सत्ता और कलाशिल्पी के बीच और कलाकार की सृजनप्रेरणा की विभिन्न स्थितियों के बीच अंतःसंघर्ष। इस प्रकार न केवल 'कोणार्क' की स्थूल कथावस्तु का सम्बन्ध कला-सर्जन की मूल प्रेरणा और कलाकार के सर्जनशील व्यक्तित्व के अन्वेषण से है, बल्कि वह नाटक और रंगमंच को सर्जनात्मक सार्थकता के अन्वेषण का माध्यम बना देता है, जो वह अभी तक हिन्दी में प्रायः नहीं था। 'कोणार्क' का उद्देश्य मनोरंजन नहीं, और न किसी तात्कालिक सामाजिक कुरीति का उद्घाटन अथवा कोई अन्य नैतिक-उपदेशात्मक या सुधारवादी निष्कर्ष ही है।

'कोणार्क' में कोई स्त्री पात्र नहीं, बारह पुरुष पात्र हैं और दो दृश्यबंध। इस दृष्टि से हिन्दी की सद्यःस्थापित अथवा अन्य नाटक मंडलियों के लिए उसका प्रदर्शन अपेक्षाकृत सुविधाजनक था। सम्भवतः 'कोणार्क' आधुनिक हिन्दी का सबसे अधिक प्रदर्शित नाटक है, यद्यपि उसकी वेशभूषा में युगानुकूलता की माँग के कारण, और अंतिम अंक में भवन का ध्वस्त होना दिखाने की आवश्यकता के कारण, वह कई एक टेक्नीकल और साधनगत समस्याएँ प्रस्तुत करता है। नाटक के रूपबन्ध में भी जहाँ भावना का तीव्र संघात और चरित्रों के आत्ममंथन की स्थितियाँ पर्याप्त हैं, वहीं घटनाबहुलता और अन्तिम परिणति में अतिनाटकीयता का तत्त्व भी है ही। आहत धर्मपद की परिचर्या के समय विशु के आत्मप्रकाश में भी अतिरिक्त भावकुतापूर्ण स्थिति और अतिरंजना की संभावना है। किन्तु प्रसाद के नाटकों के बाद 'कोणार्क' पहला नाटक है जिसमें गहरी प्रबल भावनाओं का

संघात भी है और विषयवस्तु में सार्थकता भी। उसमें सुपरिचित नाटकीय युक्तियों और रूढ़ियों का प्रयोग है, जैसे धर्मपद का विशु की परित्यक्ता पत्नी से उत्पन्न पुत्र होने का उद्घाटन आदि। पर उनसे नाटकीय स्थिति को तीव्र बनाने का काम लिया गया है। नाटक में उपक्रम और उपसंहार की अयथार्थवादी युक्तियों द्वारा विषय-वस्तु को अधिक सघन और प्रखर बनाने का प्रयास भी है जो हिन्दी नाटक रचना में नई दिशा का सूचक है।

जगदीशचन्द्र माथुर का दूसरा नाटक 'शारदीया' १९५९ में प्रकाशित हुआ। इसकी पृष्ठभूमि १९वीं शताब्दी में मराठा इतिहास से सम्बद्ध है, पर इसकी भी मूल भाववस्तु कलाकार और उसके प्रेरणास्रोतों का परिवेश के साथ सम्बन्ध ही है। कलाकार और उनके विभिन्न बाह्य तथा आन्तरिक सम्बन्धों से उलझाव इस नाटक को समकालीन हिन्दी साहित्य की अन्य सर्जनात्मक विधाओं से तो जोड़ता ही है, साथ ही नाटक को मनोरंजन का साधन-मात्र मानने की बजाय उसे एक गहरे स्तर पर महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मक कार्य-कलाप का दर्जा प्रदान करता है। कई बातों में 'शारदीया' 'कोणार्क' से आगे का चरण सूचित करता है। उसके विभिन्न दृश्यों में गति और लय की विविधता, शिल्पगत कसाव और तीव्रता अधिक है, उसकी भाषा में भी अधिक नाटकीयता है, बोलचाल के साथ काव्यात्मक तथा अभिव्यंजनापूर्ण भाषा का अधिक सहज समन्वय है, संगीत तथा नृत्य के तत्त्वों का स्थितिमूलक संयोजन है, पात्रों की परिकल्पना और उनके पारस्परिक सम्बन्ध में तीव्रता, विविधता तथा संयम अधिक है और अनावश्यक पक्षों में उलझाव कम है। इसके अतिरिक्त उसमें नाट्य वस्तु के संप्रेषण में विभिन्न बिम्बों का बड़ा महत्त्वपूर्ण उपयोग है। किन्तु दूसरी ओर, इस नाटक में दो विभिन्न भाववस्तुओं को एक साथ सँजोने के प्रयत्न में प्रभाव की तीव्रता ही कम नहीं हुई है, मुख्य विषयवस्तु गौण पड़ गई है। मराठा इतिहास की जिन घटनाओं को लेखक ने केवल पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करना चाहा है, अपनी प्रबलता और तीव्र नाटकीय संभावनाओं के कारण वे ही प्रधान हो गई हैं। विशेषकर शर्जेराव के चरित्र में इतनी शक्ति और गति है कि नरसिंह राव उसके पीछे घिसटता-सा जान पड़ने लगता है। नरसिंहराव को, बल्कि पँचतोलिया साड़ी के उस अज्ञात स्रष्टा और उसकी समस्या को, अपेक्षाकृत किसी कम नाटकीय पृष्ठभूमि में रखकर ही उसका ठीक-ठीक अन्वेषण हो सकता था। इसी कारण से रूपबन्ध में भी असंतुलन उत्पन्न हो गया है। फिर भी कुल मिलाकर 'शारदीया' आधुनिक नाटक की उल्लेखनीय कृतियों में है, इसमें सन्देह नहीं।

जगदीशचन्द्र माथुर के इन दोनों नाटकों के बीच क। काल, अर्थात् छठी दशाब्दी, हिन्दी नाटक के लिए कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जैसे, इसी दौर की एक अन्य महत्त्वपूर्ण नाट्योपलब्धि है **धर्मवीर भारती** का काव्य नाटक 'अंधा युग' (१९५५)। यद्यपि प्रारम्भ में इसे मान्यता और प्रशंसा काव्य के रूप में ही प्राप्त हुई थी, फिर भी हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए इस कृति का महत्त्व बहुत बड़ा है। इसने पहली बार हिन्दी नाटक में यह स्थापित किया कि काव्य और नाटक का बड़ा गहरा सम्बन्ध है, बल्कि श्रेष्ठ नाट्य-कृति काव्य का ही एक अन्य प्रकार है। 'अंधा युग' का सफल प्रदर्शन निःसन्देह उसके प्रकाशन के कई वर्ष बाद हुआ, पर उसने अंततः मनोरंजनवादी पारसी शैली से अथवा यथार्थवाद से प्रभावित नाट्यकर्मियों की और हिन्दी के विश्वविद्यालयीय शैक्षिक समालोचकों की इस प्रकट-अप्रकट मूढ़तापूर्ण धारणा को तोड़ दिया कि रंगमंच काव्य नाटक का उचित और उपयुक्त स्थान नहीं। 'अंधा युग' ने हिन्दी नाटक ही नहीं हिन्दी रंगमंच को गहरी कलात्मक सार्थकता दी है और दोनों के अभिन्न सम्बन्ध को बड़ी तीव्रता से स्थापित किया है। 'अंधा युग' सहज ही युद्धोत्तर हिन्दी कविता का सबसे महत्त्वपूर्ण, गहन और सार्थक वक्तव्य है, और यह सर्वथा आकस्मिक नहीं कि वह वक्तव्य नाटक के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

'अन्धा युग' महाभारत संग्राम के बाद की स्थिति के अन्वेषण के माध्यम से दूसरे महायुद्ध के बाद की, बल्कि युद्ध मात्र से उत्पन्न होने वाली, मूल्यहीनता, अमानवीयता, विकृति और सामूहिक तथा वैयक्तिक विघटन का उद्घाटन करता है। आनुषंगिक रूप से वह देश के विभाजन में निहित आंतरिक गृह-कलह की परिणतियों की ओर भी इंगित करता है। इस नाटक के सभी पात्र मूल्यांधता के किसी-न-किसी स्तर, रूप या पक्ष के प्रतीक हैं: अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र, गांधारी, विदुर, कृपाचार्य, युयुत्सु, संजय, युधिष्ठिर तथा अन्य पांडव और अन्ततः स्वयं कृष्ण। प्रहरियों के रूप में

जनसाधारण की कल्पित निर्लिप्तता भी उसी अन्धता का एक रूप है। इस सर्वव्यापी ज्योतिहीनता के कारण 'प्रभु' भी अन्ततः उसी असहाय और करुण स्थिति में मृत्यु को प्राप्त होते हैं और उनकी मृत्यु के साथ व्यक्ति के लिए अपनी नैतिक जिम्मेदारी किसी बाह्य शक्ति या सत्ता पर डालने का अन्तिम आधार भी नष्ट हो जाता है। आज या सदा ही हमारा अपना विवेक और नैतिक आचरण ही हमें बचा सकता है, और कुछ नहीं। 'अन्धों के माध्यम से' 'ज्योति' की यह तलाश, और अन्ततः प्रतिष्ठा—कम-से-कम उसकी प्रतिष्ठा की इच्छा—इस नाटक को अत्यंत महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मक उपलब्धि बनाती है। उसमें पहली बार नाटक के माध्यम से मानवीय नियति के मूलभूत प्रश्नों और उनके उत्तरों की तलाश प्रस्तुत की गई है, किसी क्षणिक या सामयिक सामाजिक या वैयक्तिक स्थिति का प्रस्तुतीकरण मात्र नहीं।

निस्सन्देह 'अन्धा युग' की भाववस्तु के अपने अन्तर्विरोध हैं। पूरा नाटक पढ़ चुकने पर ऐसा लगता है कि भारती अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा कहने के प्रयास में अन्धकार में ही उलझे रह गए हैं। पूरे नाटक में ऐसा गहरा निराशा और विवशता का, चतुर्दिक लगभग समान मर्यादाहीनता और अनैतिकता का दम घोंटनेवाला वातावरण है कि अन्त में वृद्ध याचक और कथागायक का आशावाद आरोपित लगने लगता है। अश्वत्थामा और कृष्ण या प्रभु को लेखक ने कुछ इस प्रकार से आमने-सामने और बराबरी के साथ रखा है कि यदि गांधारी के श्राप के बाद कृष्ण की स्वीकृति की प्रतिक्रिया न होती तो ज्योति का शायद एक क्षण भी नाटक में न रह जाता। इसके अतिरिक्त दूसरे महायुद्ध के प्रमुख प्रतिस्पर्धियों—मित्र राष्ट्रों और फासिस्ट देशों—की सैद्धांतिक और नैतिक समानता पर लेखक का कुछ अतिरिक्त आग्रह भी उसे स्थितियों के सरलीकरण की ओर ले जाता जान पड़ता है। नाटक में पाश्चात्य रोमन कैथोलिक तथा अस्तित्ववादी विचारों का भी किसी कदर ऐसा अनावश्यक मोह है कि कृष्ण के शब्द जीसस के शब्दों-जैसे सुनाई पड़ते हैं और एक सीमा के बाद 'अन्धा युग' का स्वर अवास्तव प्रतीत होने लगता है। किन्तु फिर भी इन अन्तर्विरोधों के बावजूद 'अन्धा युग' के कथ्य में कई स्तरों पर ऐसी बेजोड़ तीव्रता, सघनता और एकाग्रता है जो उसे एक अद्वितीय और श्रेष्ठ नाटक ही नहीं, समर्थ और सार्थक कलाकृति का दर्जा प्रदान करती हैं।

नाट्य शिल्प के स्तर पर भी 'अन्धा युग' की कई उपलब्धियाँ हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है उसकी भाषा, जिसमें बिम्ब-प्रधानता और भाव-तीव्रता के साथ बोलचाल की सहजता और प्रवाह है, गति और लय की विविधता है। इसके कारण भी 'अन्धा युग' एक महत्त्वपूर्ण अनुभव का सार्थक भावात्मक वक्तव्य बन सका है। भाषा के अतिरिक्त नाटक में कार्य-व्यापार की निरन्तरता को विभिन्न रंग-युक्तियों द्वारा निभाया गया है। पूर्वावलोकन और समानांतर कार्य-व्यापार का संयोजन, कार्यस्थल में अन्तःपुर और वन-पथ के बीच सहज और अबाध परिवर्तन, कथावस्तु के उद्घाटन और सूत्रान्वयन के लिए कथागायन का उपयोग, प्रहरियों और वृद्ध याचक के माध्यम से कार्य-व्यापार पर निरंतर टिप्पणी के साथ स्थिति में नए आयामों का उद्घाटन और उनका समक्षीकरण, स्थापना और समापन की प्राचीन नाट्य-रूढ़ियों का नया उपयोग आदि अनेक शिल्पगत विशिष्टताएँ हिन्दी-नाटक के लिए नया पथ-निर्देश करती हैं। दूसरी ओर यह बात भी असन्दिग्ध है कि 'अन्धा युग' में निहित रंगमंच भारती के आगे पूरी तरह स्पष्ट नहीं था। उनकी रंग-मंचीय योजना बहुत कुछ लिपटवाँ परदों वाली ही है। रंग-मंचीय आधार की इस अनिश्चितता के कारण ही उन्होंने बहुत-सी युक्तियों का प्रयोग करना चाहा है जो बहुत बार अतिरिक्त और अनावश्यक भी लगती हैं। बीच-बीच में वर्णनात्मकता अधिक हो जाती है और कार्य-व्यापार प्रायः सूचित अधिक, रंगमंच पर घटित कम होता है। शैली में भी निरन्तरता का अभाव दिखाई पड़ता है और उसमें बीच-बीच में परिवर्तन नाट्य रूप को सुस्पष्ट नहीं होने देता। फिर भी 'अन्धा युग' का नाट्य रूप अपने आप में एक उपलब्धि तो है ही, साथ ही वह हिन्दी-नाटक के लिए नई सम्भावनाओं को भी सूचित करता है, विशेषकर हमारे प्राचीन संस्कृत तथा लोक-नाटकों के यथार्थवादी नाट्य-व्यवहारों के नई दृष्टि से अन्वेषण और प्रयोग की सार्थक सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है।

सम्भवतः 'अन्धा युग' की सफलता से प्रेरित होकर ही **दुष्यन्त कुमार** ने भी एक काव्य-नाटक 'एक कण्ठ विषपायी' (१९६३) लिखा। उसकी भी विषयवस्तु है युद्ध की व्यर्थता,

हेतुहीनता और अमानवीयता और उसका कथानक दक्ष यज्ञ, सतीदाह और फलस्वरूप शंकर के क्रोध और देवताओं के युद्ध को लेकर है। इस नाटक में 'अन्धा युग' की अनुगूंज के अतिरिक्त स्थितियाँ मूलतः अतिरंजित हैं, और विवाद तथा बहस अधिक है। कोई मूलभूत गहरा मानवीय आयाम नहीं। शंकर के व्यवहार से इंद्र का उत्तेजित होना तो स्वाभाविक लगता है, पर विष्णु और ब्रह्मा की दार्शनिकता सतही और अप्रासंगिक जान पड़ती है। सबसे अधिक अविश्वसनीय और अनाटकीय है सर्वहत। वह अनावश्यक रूप से भावुकतापूर्ण तो है ही, उसका व्यक्तित्व आधारहीन है, उसकी कोई अनिवार्यता नहीं, नाटक की मूल स्थिति से उसका कोई आत्यंतिक सम्बन्ध नहीं। इसलिए वह बेहद अतिरंजित, कृत्रिम और आरोपित लगता है।

सबसे दुर्भाग्य की बात है कि नाटक न तो किसी तीव्रतापूर्ण मानवीय स्थिति या व्यक्तित्व के रूप का उद्घाटन करता है, और न अन्त तक किसी तीव्र नाटकीय परिणति तक पहुँचता है। इसलिए कोई गहरा, संघातपूर्ण विस्फोटक प्रभाव किसी भी स्थल पर पैदा करने में असमर्थ रहता है। नितान्त वर्णनात्मक स्तर पर एक प्रकार की मिथ्या दार्शनिकता और वैचारिकता धुन्ध की तरह छाई रहती है और किसी गहरे संकट और उसके तीव्र द्वन्द्व से साक्षात्कार नहीं होता। यही नीरस भावहीनता और इतिवृत्तात्मक वर्णन-प्रधानता भाषा में भी मौजूद है। न केवल भाववस्तु में नाटकीय संयोजन नहीं है, प्रायः बिम्बहीन, रंगहीन, सपाट भाषा और अभिव्यक्ति के कारण भी कोई काव्यात्मक स्तर नहीं स्थापित हो पाता। सम्भावना के रूप में उल्लेखनीय होने पर भी 'एक कण्ठ विषपायी' की नाटकीय या काव्यात्मक उपलब्धि बड़ी सीमित है।

'अंधा युग' १९५४ में लिखा गया था और १९५५ में प्रकाशित हुआ पर उसका प्रदर्शन सफलतापूर्वक सात-आठ वर्ष बाद ही हो सका। इस बीच देश के रंगमंच आन्दोलन ने कई दिशाओं में प्रगति की। सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी रंगमंच की, मनोरंजन के साधन की बजाय, एक अत्यन्त ही समर्थ किन्तु जटिल और परिश्रम तथा शिक्षण साध्य कला-माध्यम के रूप में क्रमिक स्वीकृति। रंगमंचीय कार्य-कलाप को एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और सर्जनात्मक कार्य का दर्जा मिलने में ही यह निहित था कि न केवल नाट्य-कर्मियों में अधिक जागरूकता, संवेदनशीलता और कलात्मक गम्भीरता की अपेक्षा हो, बल्कि साथ ही नाटक में भी जीवन के साथ गहरे साक्षात्कार की माँग हो। फलस्वरूप एक ओर रंग-मण्डलियों को विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन मिले, रंगकर्मियों के काम में अधिक गम्भीरता और दायित्व भावना आई, उनके प्रशिक्षण की समस्याएँ उठने लगीं, रंगमंच के विकास के लिए उपयुक्त नाटकघरों तथा अन्य शिल्पिक साधनों के विकास पर ध्यान गया। दूसरी ओर प्रतिभावान लेखकों के ऊपर नाटक लिखने का, नाटक के माध्यम से जीवन के सार्थक अनुभव को अभिव्यक्त करने का, बाह्य और आंतरिक दबाव बढ़ने लगा। छठी शताब्दी देश-भर में नाट्य-आन्दोलन के विभिन्न दिशाओं में, चाहे जितने धीमे ही सही, अग्रसर और आत्मसजग होने का काल है। निस्सन्देह देश की विभिन्न भाषाओं के रंगमंचों में इस प्रक्रिया की गति और स्तर की पर्याप्त भिन्नता है, पर उसका प्रभाव अनिवार्य रूप से सभी क्षेत्रों पर पड़ा। किसी व्यवस्थित रंगमंच के अभाव में हिन्दी में यह प्रक्रिया कुछ अतिरिक्त तेजी और स्पष्टता के साथ सामने आई है। १९५८ में संगीत नाटक अकादेमी द्वारा हिन्दी-नाटक और प्रदर्शन प्रतियोगिताओं में **मोहन राकेश** के 'आषाढ़ का एक दिन' को नाटक के लिए और कलकत्ते की अनामिका मंडली को सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए पुरस्कार मिला जिसने निस्सन्देह हिन्दी के नाटक को एक नया बल और सहारा दिया। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि नाटक और नाटक मण्डली दोनों की ही दृष्टि से इन पुरस्कारों ने हिन्दी-नाटक और रंगमंच को अधिक ऊँचे, सार्थक और महत्त्वपूर्ण स्तर पर स्थापित किया। इसके बाद १९५९ में राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय की स्थापना और उसमें नाट्य-प्रदर्शनों की भाषा के रूप में हिन्दी की स्वीकृति ने भी हिन्दी नाटक को कई प्रकार से समृद्ध किया—शिक्षित हिन्दी भाषी अभिनेता तैयार करने की दृष्टि से, रंग शिल्पों के ज्ञान के प्रसार की दृष्टि से, नाटक को कलात्मक अभिव्यक्ति के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से, और इन सबसे अधिक हिन्दी के मौलिक तथा विश्व तथा भारत की अन्य भाषाओं के अनूदित श्रेष्ठ नाटकों के प्रदर्शन की दृष्टि से। हिन्दी नाटक के सामने इससे नई सम्भावनाएँ भी खुलीं और एक नई चुनौती भी सामने आई। इन दोनों ही बातों की कुछ-न-कुछ छाप १९५८ के आसपास के और परवर्ती

हिन्दी नाटक साहित्य पर दिखाई पड़ती है।

किन्तु इसका सबसे विशिष्ट और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण है मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' (१९५८) जो आधुनिक हिन्दी नाटक की श्रेष्ठतम उपलब्धियों में गणनीय है; एक प्रकार से उपेन्द्रनाथ अश्क और जगदीशचन्द्र माथुर ने, विशेषकर जगदीशचन्द्र माथुर ने, नाटक में सहज स्वाभाविकता और नाटकीयता के यथार्थपरकता और काव्यात्मकता के, जिस मिश्रण का सूत्रपात किया उसकी महत्त्वपूर्ण परिणति 'आषाढ़ का एक दिन' में हुई है। अवश्य ही 'अंधा युग' इससे पहले लिखा जा चुका था, पर उसका प्रभाव नाटक और रंगमंच पर बहुत कम पड़ा और पड़ा भी तो कुछ बाद में ही दृष्टिगोचर हुआ—अपने विशेष रूपबन्ध और शैली के कारण उसका इतना व्यापक होना सम्भव भी न था।

'आषाढ़ का एक दिन' की प्रत्यक्ष विषयवस्तु कवि कालिदास के जीवन से सम्बन्धित है। किन्तु मूलतः वह उसकी प्रसिद्ध होने के पहले की प्रेयसी मल्लिका का नाटक है—एक सीधी-सादी समर्पित लड़की की नियति का चित्र जो एक कवि से प्रेम ही नहीं करती, उसे महान होते भी देखना चाहती है। महान वह अवश्य बनता है, पर इसका मूल्य मल्लिका अपना सर्वस्व देकर चुकाती है। अंत में कालिदास भी अधिक-से-अधिक उसे अपनी सहानुभूति ही दे पाता है। और चुपके से छोड़कर चले जाने के अतिरिक्त उससे कुछ नहीं बन पड़ता। मल्लिका के लिए कालिदास उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के, जीवन के, साथ एकाकार सुदूर स्वप्न की भांति है; कालिदास के लिए मल्लिका उसके प्रेरणादायक परिवेश का एक अत्यन्त जीवंत तत्त्व मात्र। अनन्यता और आत्मकेन्द्रिता की इस विसदृशता में पर्याप्त नाटकीयता है, और मोहन राकेश जिस एकाग्रता, तीव्रता और गहराई के साथ उसे खोजने और व्यक्त करने में सफल हुए हैं वह हिन्दी नाटक के लिए सर्वथा अपरिचित है। इसके साथ ही समकालीन मनुष्य के और भी कई आयाम इस नाटक में हैं जो उसे एकाधिक स्तर पर सार्थक और रोचक बनाते हैं। उसका नाटकीय संघर्ष कला और प्रेम, सर्जनशील व्यक्ति और परिवेश, भावना और कर्म, कलाकार और राज्य आदि कई स्तरों को छूता है। इसी प्रकार काल के आयाम को बड़ी रोचक तीव्रता के साथ नाटक में प्रस्तुत किया गया है— लगभग एक पात्र के रूप में। मल्लिका और उसके परिवेश और उसकी परिणति में तो वह मौजूद है ही, स्वयं कालिदास भी उसके विघटनकारी रूप का अनुभव करता है। अपनी समस्त आत्मकेन्द्रिता के बावजूद उसे लगता है कि अपने परिवेश से टूटकर वह स्वयं भी भीतर कहीं टूट गया है।

किन्तु शायद कालिदास ही इस नाटक का कमजोर अंश है। क्योंकि अंततः नाटक में उद्घाटित उसका व्यक्तित्व न तो किसी मूल्यवान और सार्थक स्तर पर स्थापित ही हो पाता है, न इतिहास-प्रसिद्ध कवि कालिदास को, और इस प्रकार उसके माध्यम से समस्त भारतीय सर्जनात्मक प्रतिभा को, कोई गहरा विश्वसनीय आयाम ही दे पाता है। नाटक में प्रस्तुत कालिदास बड़ा क्षुद्र और आत्मकेन्द्रित, बल्कि स्वार्थी व्यक्ति है, और साथ ही उसके व्यक्तित्व में कोई तत्व ऐसा नहीं दीख पड़ता जो उसकी महानता का, उसकी असाधारण सर्जनात्मक प्रतिभा का स्रोत समझा जा सके या उसका औचित्य सिद्ध कर सके। राज्य की ओर से सम्मान और आमंत्रण मिलने पर वह 'नहीं-नहीं' करता हुआ भी अंत में उज्जैन चला ही जाता है, कश्मीर का शासक बनने पर गाँव में आकर भी मल्लिका से मिलने नहीं आता, अंत में मल्लिका के जीवन की उतनी करुण दुखद परिणति देखकर भी उसे छोड़कर कायरतापूर्वक चुपचाप खिसक पड़ना सम्भव पाता है—ये सभी उसके व्यक्तित्व के ऐसे पक्ष हैं जो उसको एक हीन मानव के रूप में ही सूचित करते हैं। निःसंदेह किसी महान सर्जनात्मक व्यक्तित्व में महानता और नीचता के दो छोरों का एक साथ अन्तर्ग्रथित होना सम्भव है। किन्तु 'आषाढ़ का एक दिन' में उसका हीन रूप ही प्रकट हो सका है, महानता को छूने वाले सूत्र का छोर कहीं नहीं दीख पड़ता। लेखक उसके भीतर ऐसे तीव्र विरोधी तत्त्वों का कोई संघर्ष भी नहीं दिखा सका है जो इस क्षुद्रता के साथ-साथ उसकी असाधारण सर्जनशीलता को विश्वसनीय बना सके। कालिदास की यह स्थिति नाटक को किसी हद तक भावुकतापूर्ण स्तर पर उतार देती है, और मल्लिका के जीवन की ट्रेजेडी को भी किसी गहराई के साथ व्यंजित नहीं होने देती।

नाट्य-रूप की दृष्टि से 'अषाढ़ का एक दिन' सुगठित यथार्थवादी नाटक है जिसमें बाह्य ब्यौरे की बातों से अधिक परिस्थिति के काव्य को अभिव्यक्ति करने का प्रयास है।

इस दृष्टि से शायद हिन्दी का यह पहला यथार्थवादी नाटक है जो बाह्य और आंतरिक यथार्थ को उनकी समन्विति में, उनके अन्तर्द्वन्द्व में, देखता और प्रस्तुत करता है। उसमें कार्य-व्यापार के संयोजन में गति पर्याप्त तीव्र ही नहीं है, उस तीव्रता के भीतर विविधता भी है; विभिन्न भावों और स्थितियों को, विभिन्न पात्रों को, इस प्रकार आमने-सामने रखा गया है कि वे अपने-आपमें नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करते हैं और परवर्ती परिणति को भी यथासंभव अनिवार्य और विश्वसनीय बनाते हैं। फिर भी तीसरे अंक में मल्लिका के स्वगत-भाषण और कालिदास के लम्बे एकालाप में गति का संयोजन ठीक नहीं रहता। बल्कि कालिदास का प्रवेश जितना नाटकीय है उसका परवर्ती भाषण उतना ही उद्घाटनमूलक होने के कारण तीव्रता को कम करता है। चरम बिन्दु के इतने समीप पहुँचकर भाषण द्वारा स्थिति का उद्घाटन बहुत अच्छी नाटकीय युक्ति नहीं, विशेषकर जबकि बाकी नाटक में राकेश कार्य-व्यापार के द्वारा ही सफलतापूर्वक उद्घाटन करते रहे हैं। पर तीसरे अंक की यह दुर्बलता शीघ्र ही नियंत्रण में आ जाती है और द्वार खटखटाया जाने के बाद से नाटक बड़ी दुर्दम्य और तीव्र गति से चरम परिणति की ओर अनिवार्यतापूर्वक चलता जाता है।

निस्संदेह हिन्दी-नाटक के परिप्रेक्ष्य में, और भाववस्तु और रूपबन्ध दोनों के स्तर पर, 'आषाढ़ का एक दिन' ऐसा पर्याप्त सघन, तीव्र और भावोद्दीप्त लेखन प्रस्तुत करता है जैसा हिन्दी-नाटक में बहुत कम ही हुआ है। उसमें भाव और स्थिति की गहराई में जाने का प्रयास है और पूरा नाटक एक साथ कई स्तरों पर प्रभावकारी है। बिम्बों के बड़े प्रभावी नाटकीय प्रयोग के साथ-साथ उसमें शब्दों की अपूर्व मितव्ययता भी है और भाषा में ऐसा नाटकीय काव्य है जो हिन्दी-नाटकीय गद्य के लिए एकदम अभूतपूर्व है और अचानक ही हिन्दी-नाटक का वयस्क होना सूचित करता है।

राकेश का अगला नाटक 'लहरों के राजहंस' (१९६३) कुछ अंशों में 'आषाढ़ का एक दिन' की उपलब्धियों को अधिक सक्षम और गहरा करता है, यद्यपि रूपबन्ध के स्तर पर, उसका तीसरा अंक अधिक दुर्बल है और पर्याप्त स्पष्टता और तीव्रता के साथ अभिव्यंजित नहीं होता। इसमें भी सुदूर अतीत के एक कथानक (सौंदरानन्द) के आधार पर आज के मनुष्य की बेचैनी और आन्तरिक संघर्ष संप्रेषित है। हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति का पथ स्वयं ही तलाश करना है। दूसरों के द्वारा खोजा गया पथ चाहे जितना श्रद्धास्पद हो (जैसा गौतम बुद्ध का), या चाहे जितना आकर्षक और मोहक हो (जैसा सुन्दरी का), किसी संवेदनशील व्यक्ति का समाधान नहीं कर सकता। इसीलिए नाटक के अंत में नंद न केवल बुद्ध द्वारा बलपूर्वक थोपा गया भिक्षुत्व अस्वीकार कर देता है, बल्कि सुन्दरी के आत्मसंतुष्ट और छोटे वृत्त में आबद्ध किन्तु आकर्षक जीवन को भी त्यागकर चला जाता है। अपनी मुक्ति का मार्ग उसे स्वयं ही रचना होगा।

इस रचना में भी राकेश नाटक को दैनन्दिन निरर्थक क्रियाकलाप से उठाकर एक सार्थक अनुभूति और उसके भीतर किसी अर्थ की खोज के स्तर पर ले जा सके हैं। किंतु इसकी विषयवस्तु पर्याप्त तीव्रता और स्पष्टता से अंत तक स्थापित नहीं होती। पहला अंक सुन्दरी पर केन्द्रित जान पड़ता है, जिसमें नन्द एक लुब्ध-मुग्ध, किन्तु किसी हद तक संयमित और संतुलनयुक्त, पति मात्र लगता है। किन्तु दूसरे अंक से नाटक स्वयं उसके अंतःसंघर्ष पर केन्द्रित होने लगता है, यद्यपि अभी इस संघर्ष की रूपरेखा अस्पष्ट है। तीसरे अंक में संघर्ष की आकृति तो स्पष्ट होने लगती है, पर वह किसी तीव्रता या गहराई का आयाम प्राप्त करने के बजाय अकस्मात ही नन्द और सुन्दरी के बीच एक प्रकार की गलतफहमी में खो जाता है। दोनों एक-दूसरे के संघर्ष का, व्यक्तित्व के विस्फोट का सामना ही नहीं करते और नंद बड़ी विचित्र-सी कायरता से चुपचाप घर छोड़कर चला जाता है। न केवल उसके इस पलायन की अनिवार्यता नाटक में नहीं है, बल्कि एक अन्य स्तर वर वह 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास के भी इसी प्रकार भाग निकलने की याद दिलाता है। कुल मिलाकर तीनों अंक अलग-अलग-से लगते हैं, जिनमें सामग्रिक अन्विति की रक्षा न हो पाने पर भी पहले और दूसरे अंक अत्यन्त सावधानी से गठित और अपने-आपमें अत्यन्त कलापूर्ण हैं। विशेषकर दूसरे अंक में नन्द और सुन्दरी के बीच दो अलग-अलग स्तरों पर चलने वाले पारस्परिक आकर्षण और आन्तरिक उद्वेग और उसके तनाव को बड़ी सूक्ष्मता, संवेदनशीलता और कुशलता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

इस नाटक में भी नाटकीय बिम्ब-योजनाओं का प्रयोग है, पर वे सभी समान रूप से प्रभावकारी नहीं हैं। जहाँ

घायल हिरन, व्याघ्र से युद्ध और दर्पण का टूटना जैसे बिम्ब भाववस्तु का एक नया आयाम प्रस्तुत करते हैं, वहीं राजहंसों का प्रसंग नाटकीय एकाग्रता को तोड़ता है। श्यामांग का प्रसंग भी अतिरंजित और अंततः अवांतर बल्कि व्याघातकारी-जैसा जान पड़ने लगता है। उसके प्रलाप का अत्यधिक उपयोग गहरी नाटकीयता के बजाय भावुकता की सृष्टि करता है। हाल ही में मोहन राकेश ने इस नाटक को फिर से संशोधित करके लिखा है जिसमें रूपबंध-सम्बन्धी दुर्बलताएँ बहुत कम हो गई हैं।

छठी दशाब्दी में रंगमंचीय आन्दोलन के जिस उभार का उल्लेख ऊपर किया गया उसने और भी कई संभावनापूर्ण नाटककारों को जन्म दिया। **लक्ष्मीनारायण लाल** ने अपना पहला नाटक 'अंधा कुआँ' १९५५ में ही लिखा था। उसके बाद से वे न केवल निरंतर नाटक लिखते रहे हैं, बल्कि इलाहाबाद में एक नाट्य-केन्द्र भी चलाते रहे जिसमें उन्होंने बहुत ही सीमित साधनों से नाट्य-प्रशिक्षण और प्रदर्शन दोनों का प्रयास किया। उनके नाटकों में साधारण जीवन के अनुभवों को किसी गहरे या महत्त्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास तो होता है, पर आवश्यक कलात्मक संयम, नाटकीय एकाग्रता तथा संवेदनशील चयन के अभाव में, वे इधर-उधर बिखर जाते हैं। उनके 'मादा कैक्टस' (१९५९) में चित्रकार अरविन्द के आत्मकेन्द्रित व्यक्तित्व के कारण आनंदा क्षयग्रस्त हो जाती है, जैसे मादा कैक्टस का पौधा सूख जाता है। दिलचस्प नाटकीय बिम्ब के बावजूद इस नाटक के मानसिक सूत्र तथा हेतु (मोटिवेशन) पर्याप्त और विश्वसनीय नहीं हो पाते। निर्वहण कृत्रिम, सतही, भावुकतापूर्ण रहता है और चरित्रों की परिकल्पना अनिश्चित और असंगत लगती है।

प्रतीकात्मक 'नाटक तोता-मैना' (१९६२) कुछ अधिक दिलचस्प है। उसमें लोकमंचीय रंगविधि में मुखौटे, सूत्रधार और नटी, सत्कर्म और प्रेरणा-जैसे पात्र, तथा संगीत और लयबद्ध संवाद-जैसे अयथार्थवादी व्यवहारों के द्वारा किसी नये नाट्य-रूप की खोज का प्रयास है। किन्तु रंगविधि दिलचस्प होने पर भी वह निरर्थक लगती है, क्योंकि कहीं पहुँचाती नहीं। ऐसा कथा-सूत्र तीव्र लाक्षणिकता के बिना रोचक या सार्थक नहीं हो सकता। नाटक में घटनाओं की बहुलता है, पर उनके भीतर आंतरिक अनिवार्यता और संगति नहीं। इसलिए किसी कलात्मक समग्रता के बजाय छिछली भावुकता उभर आती है। कोई भी मूल्य, भाव अथवा पात्र पर्याप्त स्थापित नहीं होता। कुछ-कुछ स्थल संदर्भ से अलग बड़े नाटकीय और सफल हैं, विशेषकर प्रेतात्मा और राजा की भेंट का दृश्य। संगीत और नृत्य की योजना भी दिलचस्प है और उसमें रंगमंचीयता है। पर कुल मिलाकर नाटक कोई तीव्र सुस्पष्ट प्रभाव नहीं छोड़ता।

'रातरानी' (१९६२) में अपेक्षाकृत अधिक संयम है और नाट्य व्यापार को अधिक सुस्पष्ट करने और उसे नाटकीय परिणति देने का प्रयास है। इसकी विषय-वस्तु है अर्थ और आदर्श के बीच संघर्ष की पृष्ठभूमि में पति-पत्नी के परस्पर सम्बन्धों का विश्लेषण। इसके कथासूत्र में अपेक्षाकृत अधिक अन्विति, प्रवाह और आंतरिक गति है, नाटकीय युक्तियों और रूढ़ियों का प्रयोग चमत्कारपरक होने के बजाय अधिक संगत भी है। पर नाटक का चरम बिन्दु उतना अनिवार्य, सहज और बहुमुखी नहीं है जितना होना चाहिए था या जितनी प्रारम्भ में आशा होने लगती है। यह अंश नाटक के अन्य अंशों की अपेक्षा उतरा हुआ और अधिक भावुकतापूर्ण होने के कारण किसी सार्थकता की उपलब्धि नहीं हो पाती।

लक्ष्मीनारायण लाल का सबसे सफल नाटक शायद 'दर्पण' (१९६३) ही है, विशेषकर अपने नये संशोधित रूप (१९६६) में। इसमें आत्मोपलब्धि के लिए व्याकुल एक नारी का करुणापूर्ण चित्र है जो सोचती है कि अपना नाम बदलकर वह अपने व्यक्तित्व के अधिक मूलभूत रूप से छुटकारा पा जाएगी और जिस परिपूर्णता की उसे तलाश है उसे पा सकेगी। नाटक का पूरा कार्य-व्यापार एक गहरी लाक्षणिकता और व्यंजना से युक्त है और अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक भी। नाटकीय बिम्बात्मकता के कारण संप्रेषण भी एक से अधिक स्तरों पर होता है। नाटकीय व्यंजना (ड्रेमेटिक आयरनी) का उपयोग भी कई स्थलों पर प्रभावकारी है, पर इसमें भी निर्वहण की असमानता है और बहुत-सी अतिरिक्त बातों, घटनाओं और पात्रों से लेखक पूरी तरह छुटकारा नहीं पा सका है। ऐसा निरन्तर लगता है कि नाटककार को नाटकीय स्थिति का बोध तो है पर उसका शिल्प उसके रूपायन के लिए अपर्याप्त है। बोध के अतिरिक्त लक्ष्मीनारायण लाल में रंगमंच में गहरी दिलचस्पी के साथ-

साथ निरन्तर परिष्कार करने की प्रवृत्ति और अटूट अध्यवसाय भी है। इसलिए असंभव नहीं कि वे अपनी भावुकता और सब-कुछ कह डालने की प्रवृत्ति पर काबू पा सकें और उनके नाटकों में आवश्यक एकाग्रता आ जाए।

रंगमंच के बढ़ते हुए आन्दोलन से प्रभावित एक अन्य नाटककार हैं **विष्णु प्रभाकर**। उन्होंने मौलिक नाटक 'डॉक्टर' (१९५८) के अतिरिक्त प्रेमचंद के 'ग़बन' और 'गोदान' के 'चंद्रहार' और 'होरी' नाम से नाट्यांतर किए हैं। हाल ही में प्रभातकुमार मुखोपाध्याय की बँगला कहानी 'देवी' का भी नाट्यांतर उन्होंने किया है। 'डॉक्टर' में स्थिति में निस्संदेह पर्याप्त नाटकीय कार्य-व्यापार की संभावना है, और किसी हद तक विष्णुजी इसमें सफल भी हुए हैं। पर नाटक में भाववस्तु की एकाग्रता नहीं है। कुछ विसदृशता के लिए, कुछ तथाकथित वातावरण के निर्माण के लिए, और कुछ शायद कार्य-व्यापार को लंबा करने के लिए, अतिरिक्त चरित्र और संवाद तो रखे गए हैं, किन्तु मूल कार्य-व्यापार को ही विभिन्न स्तरों या पक्षों से प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। नाटक में 'अन्तर' की आवाज़ का प्रयोग भी उसके यथार्थवादी शिल्प और वातावरण में आरोपित और फ़िल्मी लगता है। कुल मिलाकर समग्र प्रभाव किसी तीव्र या सशक्त नाटकीय अनुभूति का नहीं पड़ता और लेखक में नाटकीय कल्पनाशीलता की क्षीणता खटकती है। विष्णुजी की भाषा में भी नाटकीय तनाव और तीव्रता का अभाव है, वह आवश्यकता से अधिक अभिधाप्रधान है, और उसमें भावसघनता की कमी है। उनके नाट्यांतरों में उनकी दृष्टि और शिल्प की ये दुर्बलताएँ और भी तीव्र हो जाती हैं। 'होरी' में स्थितियों और संवादों को मूल उपन्यास से यथावत् रखने के प्रयास में नाटक का सम्बन्ध शिथिल और एकाग्रताहीन हो गया है। 'देवी' में कार्य-व्यापार की गति किसी क्रमिक तीव्रता में से चरमबिन्दु की ओर नहीं जाती और अन्त ठीक अपने विस्फोटक रूप में स्थापित नहीं हो पाता। भाषा की अपर्याप्तता 'देवी' में सबसे अधिक खटकती है।

अन्य नाटककारों और नाटकों में कुछेक नाम और भी लिए जा सकते हैं। जैसे **विनोद रस्तोगी** का 'नए हाथ' (१९५८), जिसके अनामिका द्वारा प्रदर्शन को संगीत नाटक अकादमी की प्रदर्शन-प्रतियोगिता में पुरस्कार मिला, एक रोचक कामदी नाटक है, और शिथिल रूपबन्ध के बावजूद समाज के बदलते हुए मूल्यों को प्रस्तुत करता है। **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** का 'न्याय की रात' (१९५८) सर्वव्यापी भ्रष्टाचार का चित्र प्रस्तुत करता है, पर उसका निर्वहण सतही तथा रहस्यात्मक और अन्त आदर्शवादी तथा कृत्रिम हो जाने के कारण कोई गहरा मानवीय प्रभाव नहीं छोड़ता। **सन्तोष नारायण नौटियाल** का 'चाय पार्टियाँ' (१९६३) आधुनिक शहरी जीवन की कृत्रिमता और ढोंग को उघाड़ता है, जो रोचक अधिक है यथार्थ का गहरा या चुटीला उद्घाटन कम। **नरेश मेहता** के दो नाटक 'सुबह के घंटे' (१९५६) और 'खण्डित यात्राएँ' (१९६१) सम्भावनाओं और कुछेक तीव्रता-पूर्ण नाट्य-स्थलों के बावजूद, उनके प्रारम्भिक लेखन की अराजकताओं और अनियन्त्रित कल्पनाशीलता के कारण, कोई उल्लेखनीय सार्थकता नहीं प्राप्त करते। **मन्नू भण्डारी** के 'बिना दीवारों का घर' (१९६५) में एक पढ़ी-लिखी पत्नी की बढ़ती हुई लोक-प्रियता और प्रमुखता से पति की ईर्ष्या, खीझ और अन्ततः पत्नी के गृह-त्याग का बड़ा आत्मीयतापूर्ण प्रस्तुतीकरण है। यदि उसके निर्वहण में नाटकीय संयोजन और अन्त में विस्फोटक तत्त्व कुछ और अधिक होता तो वह निस्सन्देह बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति बन जाता।

विभिन्न नाटककारों के सम्पूर्ण कृतित्व के अथवा स्वतन्त्र नाटकों के इस विश्लेषण के सन्दर्भ में यदि पिछले तीस-पैंतीस वर्षों के नाटक-साहित्य पर समग्रतः विचार करें तो इस निष्कर्ष से कोई छुटकारा नहीं कि जहाँ पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में हिन्दी-नाटक ने अपनी निरर्थकता और कलात्मक-हीनता के घेरे को तोड़कर उल्लेखनीय सर्जनात्मक स्तर प्राप्त करने की दिशा में कदम बढ़ाया है, वहीं अभी तक परिमाण और स्तर दोनों ही दृष्टियों से वह बहुत ही अपर्याप्त है। अधिकांश नाटक-लेखन अब भी सतही सामाजिकता अथवा उद्देश्यपरकता के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहता है, गहरी या मूलभूत मानवीय अनुभूतियों या स्थितियों का अन्वेषण नहीं करता। दूसरी ओर, उसमें नाटक के लिए आवश्यक समकालीनता की बहुत कमी है। 'अन्धा युग', 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'कोणार्क', 'शारदीया'-जैसे सार्थक नाटक आधुनिक संवेदना और भाववस्तु को प्रस्तुत करते हुए भी बिना अपवाद के किसी-न-किसी दूरवर्ती युग में प्रक्षेपित हैं। रूप में समकालीन

स्थितियाँ, व्यक्तियों और परिवेश से अलगाव समस्त कलात्मकता के बावजूद उनकी सम्प्रेषणीयता को सीमित करता है। नाटक का मुख्यतः और अधिकांशतः न केवल भाववस्तु में, बल्कि उस भाववस्तु के परिवेश में, उसके रूपायन में, समकालीन होना बहुत आवश्यक है। इसके बिना वह अपने मुख्य सम्प्रेषण माध्यम रंगमंच से सही सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता। जब तक हिन्दी-नाटक व्यापकतम समकालीन सामाजिक परिवेश और उसके भीतर जीने वाले अधिकाधिक व्यक्तियों और उनकी बहुविध जीवन-स्थितियों को गहराई से नहीं प्रस्तुत करता, तब तक वह सजीव सक्रिय कला विधा के रूप में समर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि तब तक वह न तो किसी सशक्त रंगमंच का निर्माण कर सकता है, न मौजूदा रंगमंच को पुष्ट कर सकता है, जिसके बिना नाटक की कोई गति नहीं।

वर्तमान हिन्दी-नाटक की इसी अपर्याप्तता का एक अन्य कारण है उसमें हास्य का अभाव। सार्थक और कलात्मक कामदी या सुखांत नाटक हिन्दी में नहीं के बराबर हैं। उनके बिना भी नाटक का रंगमंच के साथ अविच्छिन्न सजीव सम्बन्धजुड़ना बड़ा दुष्कर है, जो अन्ततः स्वयं नाटक-लेखन की प्रगति में बाधक बन जाता है। कुल मिलाकर अभी तक हिन्दी-नाटकों में विषयवस्तु और परिवेश की, स्थितियों और व्यक्तियों की, रूप और शिल्प की, विविधता नहीं है और वे विभिन्न स्तरों, रुचियों और साधनों वाली नाट्यमण्डलियों और दर्शक-वर्ग के लिए पर्याप्त नहीं सिद्ध होते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस दिशा में कुछ प्रगति हुए बिना हिन्दी-नाटक पूरी तरह अपने स्वाभाविक कलात्मक रूप में प्रतिष्ठित न हो सकेगा।

हिन्दी-नाटक की एक अन्य बुनियादी समस्या रही है भाषा। हिन्दी-उर्दू के झगड़े और द्विवेदी तथा छायावादी युगों की भावहीन अथवा कृत्रिम भाषा ने तथाकथित साहित्यिक और बोलचाल की भाषा के बीच जो दूरी पैदा की उसका सबसे घातक प्रभाव नाटक पर ही पड़ा। लोकप्रिय पारसी शैली के नाटकों की सौष्ठवहीन और फूहड़ भाषा से प्रतिक्रिया ने भी नाटकीय भाषा के सही विकास को रोके रखा। प्रसादोत्तर, विशेषकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, नाटक की एक बड़ी उपलब्धि है नाटकीय भाषा के विकास में महत्त्वपूर्ण प्रगति। इस दौर में उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश आदि नाटककार धीरे-धीरे ऐसी भाषा को रूप देने में समर्थ हुए हैं जो काव्यात्मक, अभिव्यंजनापूर्ण और शैलीनिष्ठ होकर भी बोलचाल के रूप और ढंग के समीप है। हिन्दी-नाटककार अब भाषा के मामले में पहले-जैसा अहसाय नहीं रह गया है, यद्यपि भाषा की इस सक्षमता को अभी और भी बहुत-से स्तरों तक, अनुभूति के बेशुमार रूपों और पक्षों तक, व्यापक करने की आवश्यकता है।

वास्तव में हिंदी-नाटक के विकास का सबसे आशाप्रद तत्त्व है हिंदी-क्षेत्र में रंगमंचीय गतिविधि का व्यापक प्रसार और लगभग हर शहर में नई-नई मंडलियों का उदय। इन मंडलियों को निरन्तर हर संभव विषय पर, वैयक्तिक और सामाजिक अनुभव के हर संभव स्तर पर, नये-नये नाटक चाहिए। साथ ही हिन्दी-क्षेत्र में भी निर्देशक का उदय, अभिनेताओं में प्रशिक्षण और कलात्मक अभिरुचि का प्रसार और स्वयं नाटककारों का रंगमंच से बढ़ता हुआ सम्बन्ध, आदि तत्त्व ऐसी परिस्थितियों के सूचक हैं जो हिन्दी-नाटक में आसन्न नव-जागरण की संभावना प्रस्तुत करती हैं।

इस प्रकार इस नये दौर में हिन्दी नाटक को एक ओर क्रमशः महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मक साहित्य का दर्जा प्राप्त हुआ है, दूसरी ओर साहित्य से प्रायः स्वतन्त्र विधा के रूप में, आलेख के अतिरिक्त अभिनय, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य आदि कलाओं के संयुक्त अभिव्यक्ति-माध्यम के रूप में, उसकी स्वीकृति बढ़ी है। यह बात भी अब पहले से अधिक सुनी, समझी और मानी जाने लगी है कि नाटक एक जटिल, मिश्रित और संश्लिष्ट माध्यम है जो अपनी सृजन और संप्रेषण की प्रक्रिया में, और साथ ही दर्शक वर्ग द्वारा ग्रहण, आस्वाद और उपभोग की प्रक्रिया में, अन्य माध्यमों से भिन्न है और इसलिए उसका शीघ्र-से-शीघ्र साहित्य की छत्रछाया से मुक्त होना आवश्यक है। नाटक-रचना लिखित शब्द की अन्य विधाओं की भाँति स्वायत्त और स्वतः संपूर्ण नहीं है, वह अविच्छिन्न रूप से रंगमंच के किसी-न-किसी, पर मुख्यतः तत्कालीन स्वीकृत-प्रचलित, रूप के साथ, उसकी तत्कालीन विकास-स्थिति, रूढ़ियों और व्यवहारों के साथ, जुड़ी हुई है—यह बात हिन्दी की शैक्षिक साहित्य समालोचना की रूढ़ और जड़ दृष्टि के बावजूद, क्रमशः अधिकाधिक नाटककारों और साधारण नाटकप्रेमियों और रंगकर्मियों के सामने स्पष्टतर होती गई है, जिसने नाटक-रचना को

निर्जीव सिद्धान्तों और मान्यताओं की जकड़ से मुक्त कर दिया है। वास्तव में हिन्दी-नाटक के अवरुद्ध विकास का एक कारण हिन्दी के नाट्यालोचन में स्पष्टता और निश्चित चिन्तन का घोर अभाव भी रहा है। हिन्दी-नाट्य-समालोचना संस्कृत नाट्यशास्त्र अथवा पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों की यांत्रिक पुनरावृत्ति में लगी रही। उसे हिन्दी-नाटक को रंगमंच की किसी सजीव परम्परा से संबद्ध करके देखने का अवसर नहीं मिला। पिछले दिनों में इस स्थिति में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ है और नाट्य-समालोचना साहित्य-समालोचना से स्वतन्त्र होकर अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं, मान्यताओं और कसौटियों के अनुसन्धान की दिशा में उन्मुख हो सकी है। हिन्दी रंगमंच की बहुमुखी प्रगति और हिन्दी-नाट्य समालोचना के स्वतन्त्र विकास से भी आनेवाले वर्षों में हिन्दी-नाटक को अपने सही रूप का अन्वेषण करने में सहायता मिलेगी और वह समकालीन सार्थक अनुभूति को अधिक प्रामाणिकता और तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करने में सक्षम हो सकेगा, यह बात अब अधिक विश्वास के साथ कही जा सकती है। ●

छूट

श्रीकान्त वर्मा

एक जगह जन्म ले
मरता हूँ
दूसरी जगह
हासिल करने को
मैं—
गड़बड़ था लोकतन्त्र
जहाँ
मैं
हुआ और नहीं हुआ
बग्गी, असवार, पैदल
खाली होता है
अन्तःपुर
हमेशा से मनाही थी—
विफलता थी
स्याही थी
कंगाल
सिर उठाता है
चिलचिलाता है
दुख

अरावली
कानों तक
आकर
चिल्लाता है
आता है
कौन
छोड़कर
अपने संसार को
क्लीव कर मुझे
शासन
करती है
लालसा
बचा-खुचा परिचय
समाप्त
हुआ
दो बहनें चैत की
फिरती हैं
गाँव में
मेरठ में
अथवा
उन्नाव में
—कहीं भी
उड़ती है
राख
कहीं नहीं छोर—
इकट्ठा है
शोर
घर पर, घूरे पर
दोआब पर
नंगा है खानदान
झपटती है
चील
अबाबील
मँडलाता है
ग़लत थी
यहाँ तक पहुँचने की
सारी
तरक़ीब
बड़बड़ाती है
छूट
सबसे बड़ी
लूट—
लँहगा उतरता है
चढ़ती है
पताका।

नये प्रतिमान : पुराने निकष

मलयज

यह संयोग की ही बात है कि जिस समय लक्ष्मीकान्त वर्मा की पुस्तक 'नये प्रतिमान : पुराने निकष'[1] मुझे उस पर विचार करने के लिए मिली, उनकी लेखमाला 'हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष' का 'कल्पना' में प्रकाशन आरम्भ हुआ और इस लेख को लिखते समय तक उसकी तीन किस्तें मैं पढ़ चुका हूँ। मेरा विचार है कि यह लेखमाला लक्ष्मीकांत वर्मा की इस पुस्तक का एक अच्छा पूरक अध्ययन पेश करती है। 'हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष' देश के राष्ट्रीय संदर्भ और उसकी सांस्कृतिक-साहित्यिक परिणतियों के बारे में आत्मालोचन के ढंग पर उस पीढ़ी का चिन्तन प्रस्तुत करती है जो 'सन् '४२ में किशोरावस्था में थी और जिसने स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लिया।' यह पीढ़ी 'डिसएल्यूज़ण्ड' और पराजित पीढ़ी है—'डिसएल्यूज़ण्ड' अपनी अग्रज पीढ़ी की धुरीहीनता से, और पराजित इसलिए कि मूल्य-संक्रमण की अनेक स्थितियों में यथार्थ के व्यंग्य को भोगते हुए भी वह किसी निश्चित सत्य और 'दृष्टि' (विज़न) की उपलब्धि तक नहीं पहुँच सकी। उसका विरोध राजनीतिक स्तर पर एक ओर अग्रज-पीढ़ी के नेहरू जैसे अनर्गल स्वप्नद्रष्टा और समझौतावादी नेताओं के प्रति है, जिन्होंने अनेक राष्ट्रीय प्रश्नों के संदर्भ में उनकी युवा भावनाओं और आदर्शों को बरगलाया तो दूसरी ओर उन कम्युनिस्टों से भी है जो 'अराष्ट्रीय' और 'पूर्वनियतिवादी' हैं। इन्हीं दोनों के बीच लेखक की यह युवा पीढ़ी है जो दोनों ही किनारों से बार-बार टकराती हुई और उस टकराव की चेतना को तीव्रता से महसूस करती हुई नए मानव-मूल्यों की खोज के पथ पर अग्रसर होती रही।

इस टकराहट में जिस किस्म का व्यक्तित्व बनता है उसमें द्वन्द्व की चेतना एक स्थायी तत्त्व है। द्वन्द्व की इस चेतना की भूमि से ही 'नए प्रतिमान : पुराने निकष' में विभिन्न साहित्यिक प्रश्नों पर चिन्तन किया गया है। इस मूल द्वन्द्व का संकेत पुस्तक के शीर्षक में ही निहित है। यह द्वन्द्व कभी आक्रोश और व्यंग्य बनकर व्यक्त हुआ है, कभी संशय और भटकाव बनकर तो कभी मोह और मोहभंग बनकर। इसके साथ एक बेचैन प्रश्नशीलता और 'आदिम जिज्ञासा' भी है जो इन सारी स्थितियों के निर्मम विश्लेषण का रूप अख्तियार करती है और ऐसा लगने लगता है जैसे लेखक उस द्वन्द्व-चेतना की सीमाओं—और एक स्तर पर अपने व्यक्तित्व की भी सीमाओं—से उपर किन्हीं तटस्थ निष्कर्षों तक पहुँचना चाहता है। यानी एक पीढ़ी-विशेष के चिन्तन को आज की 'नितान्त समसामयिक' पीढ़ी के चिन्तन तक ले जाना चाहता है। जहाँ तक इस दूसरी बात का संबंध है यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मीकान्त वर्मा को इसमें बड़ी दूर तक सफलता मिली है। इसे उनके व्यक्तित्व की उपलब्धि माना जा सकता है। लेकिन यह याद रखना भी ज़रूरी है कि वे उस द्वन्द्व-चेतना की सीमाओं से ऊपर उठने में ही सफल हुए हैं, उससे मुक्त होने में नहीं। उनके 'अवाँ गार्द' चिन्तन का अनुसरण करते समय भी रह-रहकर ऐसा आभास होता है जैसे उनके कथन और उनके विश्वास के बीच की कोई कड़ी छूट गई है—केवल पाठक के लिए ही नहीं, स्वयं लेखक के लिए भी छूट गई है। पूरी पुस्तक में जगह-जगह विभिन्न प्रसंगों, संदर्भों में जो प्रायः खिझा देने वाला दुराव भरा पड़ा है उसके पीछे मेरे विचार से उनके चिन्तन का यही संकट व्यक्त होता है, उनके लेखन का 'लस्टमपस्टमपन' उतना नहीं। आज की समसामयिक पीढ़ी की अनुभूति, दृष्टि एवं मनःस्थिति को उन्होंने अपनी उदार 'साहित्यिक सहानुभूति' और 'रागात्मक एकात्मकता' से समझने और उसके साथ

१. 'नये प्रतिमान : पुराने निकष', लक्ष्मीकान्त वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पृष्ठ संख्या ३२१, मूल्य ७ रुपए।

तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा की है। इसमें जो चीज़ सबसे अधिक सहायक होती है वह है लेखक का अपनी पूर्व-पीढ़ी से मोहभंग और तज्जनित अनास्था, कटुता, व्यंग्य-विद्रूप एवं 'सिनिसिज़्म' और अनुभूत-संसार की अराजक स्थिति में नए मानवीय मूल्यों की खोज की छटपटाहट। ये दोनों ही स्थितियाँ अपने अमूर्त गुणों के कारण किसी भी काल के संक्रमणजन्य संकटबोध में एक पीढ़ी को दूसरी पीढ़ी से जोड़ देती हैं। आनेवाली हर नई पीढ़ी शायद हमेशा अपनी पूर्व पीढ़ी से यह संकटबोध ही विरासत में पाती है। लक्ष्मीकान्त वर्मा का संकटबोध और आज की पीढ़ी का संकट-बोध इस दृष्टि से एक ही भूमि पर प्रतिष्ठित है, वैसे भी दो पीढ़ियों के अन्तर में विधायक तत्त्व यह व्यापक संकटबोध नहीं हुआ करता, बल्कि मूल्य के प्रति दृष्टिकोण हुआ करता है, और इस दृष्टिकोण का निर्धारण बहुत-कुछ उस परिवेश के हाथ में होता है जिसमें एक पीढ़ी अपने को पाती है। इसी-लिए हो सकता है कि जिन मूल्यों के लिए पूर्व-पीढ़ी सब-कुछ करने को तैयार हो वे अगली पीढ़ी को बिल्कुल असंगत और अर्थहीन मालूम पड़ें। लक्ष्मीकांत की पीढ़ी में ऐंद्रिक संवे-दनों से अनुभूति-सत्यों और मूल्यों की यात्रा चलती है, और मूल्यों का निर्माण अनुभूतियों के भीतर से होता है। मुझे ऐसा लगता है आज की पीढ़ी के सामने मूल्य न होकर मूल्य 'रिफ्लेक्सेज़' हैं, जो उसकी अनुभूतियों को परिचालित करते हैं। मूल्य और मूल्य-'रिफ्लेक्स' में अन्तर यह है कि मूल्य अर्जित किए जाते हैं और उनका एक स्थायी रूप होता है (जो मूल्य 'झूठे' पड़ जाते हैं उनका भी स्थायी रूप 'स्मृति' में होता है), जबकि मूल्य-'रिफ्लेक्सेज़' परिवेश के साथ व्यक्ति के गतिशील सम्बन्ध-बोध में ही अस्तित्व रख सकते हैं, अतः उनका न तो कोई स्थायी रूप होता है न उनके 'झूठे' पड़ जाने से उनके साथ किसी 'स्मृति' के जुड़ने की स्थिति होती है। मूल्य अनुभूतियों के 'आचरण' की चरम परिणति होते हैं, जबकि मूल्य-'रिफ्लेक्स' में अनुभूतियाँ एक खास किस्म की मानसिकता में स्थितियों के प्रति प्रतिक्रियाशील होती हैं। मूल्य-रिफ्लेक्स एक ऐसी खोखल है जिसमें से मूल्य उठ चुका है, लेकिन जो अपने अन्-आकारात्मक अस्तित्व के कारण ही व्यक्ति में प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। मूल्य और मूल्य-'रिफ्लेक्स' एक ही युग-संदर्भ में दो मुहावरे हो सकते हैं, अन्तर इस बात से ही पड़ता है कि कौनसा मुहावरा किसके पास है और मुहावरे का यह अन्तर ही लक्ष्मीकांत की पीढ़ी की चिन्तन-दृष्टि को आज की नई पीढ़ी के मिजाज़ से अलग कर देता है।

सबसे पहले यह अन्तर उन मुद्दों के सम्बन्ध में सहज ही देखा जा सकता है जिन पर बहस की कोई गुंजाइश नहीं है, अर्थात् ऐसे मुद्दे जो लक्ष्मीकांत की पीढ़ी के लिए ही बहस का विषय हो सकते हैं, आज की पीढ़ी के लिए वे मुद्दे बहस की दृष्टि से निरर्थक हो चुके हैं। उदाहरणार्थ रस-सिद्धान्त या प्राचीन शास्त्रीय पद्धति से कला-सृजन का मूल्यांकन करने की बात आज की पीढ़ी के लिए इतनी बेमानी और वाहियात सिद्ध हो चुकी है कि उस पर लक्ष्मीकान्त वर्मा की-सी गम्भीरता से चर्चा या बहस करना हास्यास्पद लगता है। यही बात श्लील और अश्लील के प्रश्न को लेकर है। यह प्रश्न लगता है कि उन प्रश्नों में से एक है जिस पर कभी भी अन्तिम परिणाम तक नहीं पहुँचा जा सका, और इसीलिए दिमागी कसरत के लिए इस पर स्कूली 'डिबेट' तो की जा सकती है, पर अपनी प्रकृति के इस शाश्वतपन के कारण ही यह आज की पीढ़ी की प्रौढ़ मनःस्थिति में ऊब पैदा करता है। इसी प्रकार साहित्य 'स्वान्तः सुखाय' है या 'बहुजन हिताय' वाली बहस भी सिर्फ़ 'एकेडेमिक' दिलचस्पी की चीज़ होकर रह गई है।

इसके बाद उन कुछ शब्दों का अध्ययन किया जा सकता है जो लक्ष्मीकान्त की पीढ़ी के अपने शब्द हैं और जिनका इस्तेमाल प्रस्तुत पुस्तक में लगभग शुरू से आखिर तक किया गया है। ये शब्द अपनी जगह पर अलग-अलग प्रत्यय हैं जो मिलकर उस पीढ़ी की साहित्यिक-सर्जनात्मक मान्यताओं का चित्र पेश करते हैं—वैयक्तिक स्वातंत्र्य, आत्मानुभूति, आन्तरिक व्यवस्था, विशुद्ध मानव-मुक्ति, मानव-मूल्य, सार्थक कला-सृजन, यथार्थ-भोग, दायित्व-बोध, क्षण-भुक्त यथार्थ, व्यक्ति-मर्यादा, व्यक्ति-सत्य, विवेक, संकल्प, पाव-नता आदि आदि। ये शब्द-प्रत्यय जिस आन्दोलन के दौरान उपजे उसकी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की चर्चा 'हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष' में की गई है। यहाँ उस आन्दोलन की सार्थकता-असार्थकता का विवेचन हमारा अभीष्ट नहीं है, पर इतना कहा जा सकता है कि किसी आन्दोलन के दरमियान उपजे शब्द-प्रत्यय-अवधारणाएँ मूल रूप में तब तक ही अपना अर्थ और चमक कायम रख सकते

हैं जब तक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें उस आन्दोलन-चेतना की रोशनी मिलती रहे, खासकर साहित्य में आ जाने के बाद। आन्दोलन का सन्दर्भ बदल जाने से उन शब्दों-प्रत्ययों में आन्तरिक परिवर्तन भी घटित हो सकते हैं और यदि इस परिवर्तन की क्षमता या लोच उनमें हुई तो वे आगे भी चलते रह सकते हैं। केवल जिस आन्दोलन की वे उपज थे उसकी स्मृति क्रमशः धुँधली पड़ जाती है। कोई भी प्रत्यय या अवधारणा अपने भीतर निहित अन्तर्विरोध के कारण ही आगे भी 'जीवित' रह सकती है, क्योंकि अन्तर्विरोध की स्थिति में ही उसमें परिवर्तन और विकास संभव है। अन्तर्विरोध से शून्य प्रत्यय 'ठस' होते हैं, उनके मूल में किसी विकल्प की गुंजाइश नहीं होती, इसी से बदलते समय के साथ वे चल नहीं पाते और सक्रिय चिन्तन में केवल गतिरोध ही पैदा करते हैं। इसे एक तरह से सौभाग्य ही मानना चाहिए कि लक्ष्मीकान्त की पीढ़ी का आन्दोलन अन्तर्विरोधों से शून्य नहीं था। इसीलिए उस आन्दोलन को मूर्त रूप देने वाले शब्द-प्रत्यय भी अपने भीतर निहित अन्तर्विरोध के कारण अपने अर्थ और संदर्भ में बराबर बदलते और विकसित होते चले गए। उनका न सिर्फ अर्थ-स्तर बदला बल्कि उसमें कुछ नितान्त भिन्न अर्थ-स्तर भी भी जुड़े, और उन्हें प्रायः ही अब उनके पुराने नामों से नहीं जाना जाता। इसका एक बहुत मामूली-सा कारण यह है कि आज की पीढ़ी का साहित्यकार अपने चिन्तन एवं मनःस्थिति को इतने भारी-भरकम शब्दोंवाली महिमामंडित भाषा में व्यक्त नहीं कर सकता।

लेकिन यहाँ रुककर उस माहौल पर भी एक नज़र डाल लेना जरूरी है जिसमें इस तरह की भाषा संभव हो सकती थी। उस माहौल में 'एक ओर प्रगतिवाद का खोखला समाजवादी यथार्थ अपना शोर मचा रहा था, और दूसरी ओर 'स्वर्णकलश', 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णजाल' के ताने-बाने में नपुंसक महामानव अवतरित किया जा रहा था।' (पृष्ठ ६३) महामानवों की संस्कृति तो खैर हवाई थी ही और उससे हवाई फायर करके भी जूझा जा सकता था, लेकिन मार्क्सवाद-प्रेरित प्रगतिवाद की कट्टर वस्तुवादी विचारधारा से लड़ने के लिए क्या नितान्त आत्यन्तिक अनुभव स्रोतों से निकली भाषा को सौंदर्यशास्त्र का शास्त्रीय जामा पहनाकर उसे उतना ही रूढ और अर्थहीन बनने देना जरूरी था जैसा कि प्रगतिवाद की भाषा के साथ हुआ ? इसके साथ ही आज जब हम सोचते हैं कि लक्ष्मीकान्त की पीढ़ी ने प्रगतिवाद की इस हाड़-माँस वाली सत्ता को 'अनुभूति', 'दर्द', 'आत्म-सत्य', 'संकल्प', 'भोग', 'मर्म-वेदना'-जैसे 'विशुद्ध मानववादी' भाव-सूक्ष्म हथियारों से लड़कर तोड़ना चाहा था तो कई प्रश्न जाग्रत हो उठते हैं। जिस प्रकार लक्ष्मीकान्त की अग्रज पीढ़ी ने देश से विदेशी शासन-सत्ता के निष्कासन को वास्तविक स्वतंत्रता का पर्याय समझा और स्वतंत्रता को किसी सुनिश्चित कार्यक्रम के परिप्रेक्ष्य में मानव-भविष्य की कोई स्पष्ट परिकल्पना नहीं दी, उसी तरह लक्ष्मीकान्त की पीढ़ी ने एक मूर्ति तोड़ने में किसी विकल्प का प्रारूप नहीं रखा, उस विकल्प के अधिकार की माँग ज़रूर बुलंद की, पर उस माँग-पूर्ति की प्रणाली को अस्पष्ट ही रह जाने दिया। उनकी लड़ाई अनिवार्य थी, पर उसे लड़कर एक तरह से उन्होंने आधी लड़ाई ही लड़ी। फलस्वरूप मूर्ति के हटने के बाद हम एक ऐसा अनिश्चय और संशय पाते हैं जिसमें एक ओर तो अनुभूति-मात्र को सर्जन के लिए पर्याप्त समझा जाता है, व्यक्तिगत सत्य को सब व्यवस्थाओं और सत्यों से ऊपर माना जाता है, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर 'क्षण' का आविष्कार किया जाता है और 'क्षण के यथार्थ' को इतिहास के सत्य से श्रेष्ठ करार दिया जाता है तो दूसरी ओर अनुभूति की सार्थकता, दायित्व-बोध, मानव-मूल्य, विविधता, समग्र भावबोध और व्यापक सत्य से जुड़ने की स्थिति पर भी बल दिया जाता है। एक ओर कलाकार को अराजक होने की हद तक स्वतंत्र होने की छूट देने का औचित्य बताया जाता है, कलाकार के 'ऊलजलूलपन' और 'एब्सर्ड' होने को कला-सृजन की आन्तरिक आवश्यकता घोषित किया जाता है तो दूसरी ओर कलाकार से दृष्टि-('विज़न') सम्पन्न होने की भी अपेक्षा की जाती है। व्यवस्था का अस्वीकार जितनी तीव्रता से किया जाता है उतनी ही आतुरता से संतुलन, तार्किक संगति और सामंजस्य की अनिवार्यता भी प्रतिपादित की जाती है। एक ओर शास्त्रीय चिन्तन-पद्धति को दकियानूसी और आज की संवेदना के सन्दर्भों को समझने-समझाने में नाकाफी करार दिया जाता है और दूसरी ओर शुद्ध और गरिष्ठ शास्त्रीय चिन्तन और भाषा-शैली में सौन्दर्यवादी मान-मूल्यों का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है (द्रष्टव्य है 'सौन्दर्य-तत्त्व : अनुभूति और व्यवस्था', 'अनुभूति: प्रज्ञा और दृष्टि', 'अनुभूति एवं बोधत्रयी' आदि निबन्ध)। यही

अन्तर्विरोध वहाँ भी दिखाई देता है जहाँ आधुनिक संवेदना और यथार्थ को वहन करने में नई कविता की अभिव्यक्ति संकट के सन्दर्भ में 'चार्ज्ड भाषा' का विरोध और 'ताज़ी कविता' की प्रौढ मनःस्थिति के अनुरूप 'रागात्मक अतिरंजना, शब्दों की अतिरंजना, बिम्बों की अतिरंजना' आदि से रहित भाषा की वकालत नितान्त 'चार्ज्ड' भाषा में की गई है और विरोधी पक्ष की जड़ उखाड़ने में शब्दों, बिम्बों का जी खोलकर इस्तेमाल किया गया है। और इस पर मज़ा यह कि आज की जटिल एवं प्रौढ मनःस्थिति की अभिव्यक्ति के जिस आदर्श भाषा के रूप में मैथिलीशरण गुप्त की भाषा का समर्थन किया गया है जिसमें 'इतनी शक्ति तो थी कि वह भावों की सम्प्रेषणीयता में सहायक होती थी' और 'उस भाषा में वह क्षमता थी कि वह भाव को ऊपर और भाषा को नीचे, भाव को आगे और भाषा को पीछे अनुगामिनी बनाकर ले चलती थी।' (पृष्ठ ३०१) यहाँ यह मालूम करना मुश्किल है कि लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'संप्रेषणीयता' का किस अर्थ में प्रयोग किया है। (इसी तरह कई निबन्धों में 'रागात्मक ऐश्वर्य' को हेय बताते हुए आभिजात्य' को किस अर्थ में स्पृहणीय गुण माना गया है यह समझ में नहीं आता)। फिर मैथिलीशरण गुप्त की भाषा यदि किसी वजह से किसी का आदर्श हो सकती है या नहीं हो सकती है तो इसलिए कि उसमें न तो भाव आगे रहते हैं न भाषा पीछे, बल्कि दोनों साथ-साथ रहते हैं, कदम-ब-कदम साथ। उस भाषा से नपा-तुला जितना कहलाया जाता है उतना ही कहती है, उसमें भावों को 'कुदक्काबाज़ी' करने की छूट नहीं है, न भाषा को पीछे छोड़कर सरपट आगे दौड़ जाने की। वह पूर्णतः मर्यादित आचरण करनेवाली भाषा है, उसमें लोच नहीं है, और यही चीज़ उसे आज की जटिल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अनुपयुक्त बना देती है।

इन समस्त अन्तर्विरोधों की एक व्याख्या तो उस जटिल मनःस्थिति के संदर्भ में की जा सकती है जो आज एक आधुनिक मनुष्य की नियति बन चुकी है। एक दूसरी व्याख्या उस 'काम्पलेक्स' के रूप में भी की जा सकती है जो संवेदना के विभिन्न स्तरों पर वस्तुस्थितियों की एक साथ प्रतिक्रिया होने और प्रतिक्रिया के प्रत्येक स्तर को अपनी पूरी ईमानदार दृष्टि सौंपने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। इसीलिए अराजकता और आदिम अव्यवस्था की हिमायत के पीछे यदि यह भय प्रतीत होता है कि कहीं व्यवस्था परम्परावादी शास्त्रीय चिन्तन की रूढ पद्धति और कम्यूनिस्ट विचारधारा की पूर्वनिश्चित आरोपित व्यवस्था न बन जाए, तो संतुलन, तार्किक संगति, समग्रता और सार्थकता पर आग्रह देने के पीछे यह भय काम करता दिखाई देता है कि कहीं 'विशुद्ध मानववादी' मुक्ति, अव्यवस्था और अराजकता का ऊल-जलूलपन एक ओर चमत्कार एवं 'फैन्टेसी' की अनर्गलता और भूखी-बीटनिक पीढ़ी की रोमाण्टिक भावुकता में न बदल जाए और दूसरी ओर कम्यूनिस्टों और अराजकतावादियों की रक्त-क्रान्ति तथा विध्वंसक विचारधारा प्रजातान्त्रिक समाज-व्यवस्था के आधारों एवं बुनियादी मूल्यों को ही न ध्वस्त कर दे। इसीलिए जहाँ कहीं भी इस तरह की घोषणा की गई है कि 'साहित्य को तो केवल अनुभूति-प्रधान होना चाहिए' (पृष्ठ ६६) या 'व्यक्ति-मर्यादा को व्यक्तिगत उपलब्धि और व्यक्ति-सत्य की अर्जित विभिन्नता तक स्वीकार करने में ही सम्पूर्ण मानव (होल मैन) की दृष्टि मिल सकती है' (पृष्ठ ४२) या यह कि 'प्रत्येक रचना अथवा कलाकृति की सार्थकता अनुभूत सत्य होना है न कि शिव होना। मेरा तो व्यक्तिगत मत यह है कि प्रत्येक अनुभूत सत्य की उपलब्धि अपने-आपमें शिव है' (पृष्ठ ७०), वहाँ यह भी चिन्ता व्यक्त की गई है कि 'व्यक्ति की सत्ता भी कायम रहे और सामूहिक चेतना के माध्यम से सामाजिक मूल्यों का अस्तित्व भी सजग रहे' (पृष्ठ १८७) या व्यक्ति की सत्ता को उतने ही सबल रूप में स्वीकार करना होगा जितना कि सामाजिक तत्त्वों को' (पृष्ठ १९७) या यह कि आन्तरिक स्तर की अनुभूति को भी व्यापक चेतन विश्व से कुछ-न-कुछ सापेक्षता स्थापित करनी ही पड़ती है (पृष्ठ २७०)। इस प्रकार ऐसा लगने लगता है कि लक्ष्मीकान्त व्यक्तिवादियों के बीच सबसे अधिक सामाजिकतावादी हैं और सामाजिकतावादियों के बीच सबसे अधिक व्यक्तिवादी। फिर भी कुल मिलाकर ज़ोर उनका अनुभूति पर ही है, और कभी-कभी अपनी इस द्वन्द्व-चेतना से उबरकर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'अनुभूति की प्रक्रिया में व्यक्ति-सत्य और बाह्य-सत्य के कक्ष बाँटे नहीं जा सकते' (पृष्ठ २७१)। इस तरह अनुभूति को ही सही-गलत का अंतिम प्रमाण मानकर वे निश्चित हो जाते हैं। यहाँ सवाल यह नहीं है कि अनुभूति के सिवा भी किसी को प्रमाण बनाया जा सकता है या नहीं, बात सिर्फ

इतनी है कि अनुभूति से पूर्ण अराजकता का रास्ता जितना सीधा है, अनुभूति से मूल्य-सृजन और मूल्य-दृष्टि का उतना नहीं। अनुभूति की प्रक्रिया अपने-आपमें कल्याणकारी है और वह बिना किसी व्यक्ति-निरपेक्ष सत्ता या अनुशासन के मनुष्य को अन्ततः शुभ की ओर ले जाती है, इसे प्रतिपादित करने के लिए लक्ष्मीकान्त के पास या तो सौंदर्यवादी अमूर्त विश्लेषण-पद्धति है जिसमें वे अनुभूति के सारे दोष भावुकता के मत्थे मढ़कर अनुभूति को विशिष्ट और अद्वितीय अनुभूति में बदल देते हैं या फिर 'संकल्प-शक्ति', 'आत्मबल', 'इच्छा-शक्ति', 'वैयक्तिक क्रियाशीलता' (पृष्ठ ५२) आदि के हथियार हैं जिनसे वे अतीत रूढ़ि, क्लासिकी, नैतिकतावादियों और व्यक्ति-निरपेक्ष बाह्य व्यवस्थावादियों से लड़ाई लड़ते हैं। शायद कृति-साहित्य के विवेचन की यह सीमा होती है कि उसमें कुछ इसी प्रकार के हथियार इस्तेमाल करने होते हैं। शायद इस प्रकार की लड़ाई के लिए अधिक उपयुक्त हथियार राजनीति के क्षेत्र के होते हैं। लक्ष्मीकान्त इन हथियारों के वजूद से अपरिचित हों ऐसी बात नहीं, यह बात दूसरी है कि वे एक क्षेत्र के हथियारों का दूसरे क्षेत्र में भी इस्तेमाल करते हैं।

यह एक क्षेत्र के हथियारों से दूसरे क्षेत्र में जाकर लड़ाई लड़ने की प्रवृत्ति लक्ष्मीकान्त की पीढ़ी के माहौल में ही थी जिसमें दोनों ही पक्षों के लोग शामिल थे। इस लड़ाई में साहित्यिक मूल्य सबसे अधिक खेत रहे, और वह भी मार्क्सवादी-प्रगतिवादी लेखकों के हाथों ज्यादा। यह भी सही है कि मार्क्सवादी-प्रगतिवादी लेखकों-आलोचकों ने अवसरवादिता का परिचय भी सबसे अधिक दिया और आत्मालोचन से तो वे लगभग शून्य ही रहे। इसकी साहित्यिक परिणति इस रूप में देखने को मिली कि एक ज़माने में कामू और काफ़्का और सार्त्र 'टैबू' माने जाते थे, वही बाद में चलकर वरेण्य हो गए। साहित्यिक स्तर पर यह शीतयुद्ध गैर-कम्यूनिस्ट तथा तथाकथित स्वतन्त्रचेता पीढ़ी के लेखकों की धारणाओं को भी प्रभावित करता था। मुक्तिबोध-जैसे लेखक केवल इसलिए तिरस्कृत (इस अर्थ में कि उनके लेखन के उचित मूल्यांकन की आवश्यकता नहीं समझी गई) हो उठे क्योंकि वे कम्यूनिस्ट विचारधारा के समर्थक थे। कम्यूनिज़्म के समूहवाद और सम्प्रदायवाद का इतना बड़ा हौवा खड़ा किया गया कि मानव-संवेदना को 'भीड़' की संवेदना और 'व्यक्ति' की संवेदना में बाँट दिया गया और इस वर्गीकरण के आधार पर एक पूरा सौंदर्यशास्त्र रच दिया गया। उस वक्त यह पता नहीं था कि आगे चलकर इस सौंदर्यशास्त्र के जाल में खुद ही फँस जाना पड़ेगा।

'नये प्रतिमान : पुराने निकष' में इन सबकी प्रतिध्वनियाँ हैं। किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि साहित्यिक स्तर पर जिस सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण में उन्होंने तत्परता दिखाई थी जो 'नई कविता और छायावाद के अर्द्धचेतन में समझौते' का कारण बना (पृष्ठ २९२), उसे तोड़कर उसमें रूढ़िबद्ध मानव-संवेदना को मुक्त करने की सजग चेष्टा का भी उन्होंने परिचय दिया। राजनीतिक स्तर पर उनके कुछ पूर्वाग्रह चाहे अब भी हों पर साहित्यिक स्तर पर 'ताज़ी कविता' के विचार-प्रसंग में उन्होंने अपनी 'साहित्यिक सहानुभूति' एवं 'रागात्मक एकात्मकता' का अवश्य विस्तार किया है। आज की पीढ़ी के मिज़ाज को, जिसको 'ताज़ी कविता' के अन्तर्गत उन्होंने प्रतिनिधित्व देना चाहा है, छूने में वे सफल हुए हैं जब वे यह कहते हैं : 'नई कविता···उत्तेजित मनःस्थिति और 'हाईटेम्पो' की कविता है। ताज़ी कविता उससे (चारों ओर की निरर्थकता) टकराने की अपेक्षा उसकी निरर्थकता को पहचानती है, इसीलिए वह उसमें 'रागात्मक ऐश्वर्यवादी' की भाँति सराबोर नहीं होती। वह उसके प्रति उदासीन है।' (पृष्ठ ३०७) इन दो वाक्यों में आज की पीढ़ी की मनःस्थिति को जितने सही ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया है उतनी ही स्पष्टता से अपनी पीढ़ी और आज की पीढ़ी के दृष्टिकोणों के अन्तर को भी। लक्ष्मीकान्त की पीढ़ी अनुभूति और भोगे हुए सत्य के बाद जिस चीज़ पर सबसे अधिक बल देती है वह है 'दृष्टि' (विज़न) और 'मूल्य'। आज की पीढ़ी अनुभूति की बात को विभिन्न संदर्भों में उठाती है पर 'विज़न' और 'मूल्य' की चर्चा उसमें सुनाई नहीं पड़ती। इसका कारण यह है कि मूल्य और विज़न की धारणा में एक दिशा का इंगित होता है जिसकी ओर कृतिकार अपनी संवेदना की समस्त शक्तियाँ केन्द्रित करता है। और ऐसा हो सकने के लिए एक उस तरह का परिवेश आवश्यक होता है जिसमें विकल्प पैदा होने के संकेत मौजूद हों—जैसे कि किसी मूल्य या व्यवस्था के विरोध में ही एक वैकल्पिक मूल्य या मूल्य की धारणा अंकुर रूप में निहित होती है। आज स्थिति बिलकुल बदल गई है। इसे राजनीतिक स्तर पर भी इस

तरह देख सकते हैं : लक्ष्मीकान्त की पीढ़ी के सामने लगभग एकमात्र प्रतिपक्षी दल कम्यूनिस्टों का ही था, अतः वे अपनी विचारधारा को वैकल्पिक रूप में विरोध के स्तर पर ध्रुवाभिमुख कर सकते थे। यह उनके लिए एक ऐसी सहूलियत थी जो आज की पीढ़ी को सुलभ नहीं। सहूलियत इसलिए कि उस विरोध को वैकल्पिक मूल्यों-धारणाओं की लड़ाई का रूप दिया जा सकता था और तदनुसार अपने हथियार सँभाले जा सकते थे। इस विरोध की सहूलियत प्रदान करने वाला राजनीति का वह सीमित रंगमंच आज बिखर गया है, न सिर्फ बिखर गया है बल्कि उसके कई छोटे-छोटे महत्त्वाकांक्षी केन्द्र स्थापित हो गए हैं जो आज की पीढ़ी की विचार-संवेदना को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ऐसे में आज किसी मूल्य का विरोध करते समय किसी दूसरे मूल्य का विकल्प सामने नहीं रहता। और युग इतनी अनिश्चितताओं का है कि स्वयं अपनी भोगी हुई अनुभूतियों के सत्य के प्रति भी लेखक संशयग्रस्त हो उठा है, उससे 'दृष्टि' उपजाने और मानव-मूल्यों की सृष्टि को तो बात ही दूर। इसके अलावा वर्तमान परिवेश और वस्तुस्थितियों में (जिसके निर्माण में राजनीति की चेतना का हाथ दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है) उसके वास्तविक संघर्ष का स्वरूप क्या होगा इसका निर्णय भी वह वस्तुस्थिति को सफेद और काले खानों में बाँटकर नहीं करेगा। ●

विवेक के रंग

मुरली मनोहरप्रसाद सिंह

अक्सर यह पूछा जाता है कि हिन्दी की नई समीक्षा में नया क्या है जो उल्लेख्य, पूर्ववर्ती लेखन से भिन्न और विशिष्ट है। मैं इस प्रश्न का उत्तर देने का दायित्व नहीं ओढ़ता।

पर यह अवश्य ही निवेदन करना चाहूँगा कि नई समीक्षा को उसके व्यवस्थित और समग्र रूप में देखने के लिए एक बुनियादी समझ की आवश्यकता है। वह यह कि हर साहित्यिक आन्दोलन अपने साथ आलोचना के नए प्रतिमान बनाता या विकसित करता है और समीक्षा के क्षेत्र में विश्लेषण से लेकर शब्दावली तक में नएपन की प्रतिष्ठा अनिवार्य कर देता है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि ये नए प्रतिमान आत्यंतिक होते हैं या आन्दोलन-विशेष की अंगीभूत समीक्षा की कसौटियाँ पक्षधर (पार्टिज़न) नहीं होतीं। पर युगीन रचनात्मक स्वभाव (क्रिएटिव टेम्पर) के आधार पर आलोचना के मानदण्डों में परिवर्तन आवश्यक हो उठता है। यह युगीन रचनात्मक स्वभाव समसामयिक जीवन के गहन और विशद यथार्थबोध से जुड़ा हुआ है, अतः इसकी सजग ग्राहकता भी आलोचक का दायित्व हो जाती है। दूसरी तरफ नवलेखन के साथ विधाओं की आन्तरिक प्रकृति और रचना-तत्वों में जो परिवर्तन होता है, उसे भी समीक्षा उपेक्षणीय नहीं समझ सकती। इसीलिए हर पीढ़ी की रचनात्मक मनोभूमि अपने समय में समीक्षा को अनुकूलित (कंडीशंड) करती है (दास नहीं बनाती)। रचना और समीक्षा का यह आन्तरिक सम्बन्ध जो लोग नहीं पहचान पाते, वे पुराने प्रतिमानों को आत्यंतिक मानकर नवलेखन का मूल्यांकन करते हैं और छद्म विषाद के साथ घोषित करते हैं कि नवलेखन बहुत ही निकृष्ट है। यहीं रचना और आलोचना के बीच का संवाद प्रायः असम्भव हो जाता है।

एक मनोरंजक तथ्य यह भी है कि अगर पुराने आलोचनात्मक प्रतिमानों का संरक्षक आलोचक नवलेखन की किसी कृति का सहानुभूतिपूर्ण मूल्यांकन करता है और उस कृति को प्रशंसनीय कहता है तो भी उस कृतिकार को संतोष नहीं होता। यह असन्तोष पुराने समीक्षकों के दृष्टिकोण, विश्लेषण के साधन और मृत आलोचनात्मक विवेक की वाहक मृत शब्दावली के कारण है। इस प्रसंग में रिचर्ड हर्ड का एक कथन याद आता है कि निकृष्ट दर्शन और निकृष्ट आलोचना का एक ही स्रोत है—पदों (टर्म्स) का दुरुपयोग। पदों के दुरुपयोग के कारण कृतिकार का असन्तोष इस हद तक बढ़ जाता है कि वह समीक्षा मात्र को मीडियाकरों की साहित्यक विधा मानने लगता है। इस प्रसंग में यशपाल ने एक बार तो 'नया पथ' के १९५९ के एक अंक में यहाँ तक कह दिया था कि आलोचक साहित्यकार के पीछे-पीछे चलने वाला कुत्ता है। आए दिन इस प्रकार की दुर्घटनाएँ (कहना चाहिए वारदातें) होती ही रहती हैं। पदों के दुरुपयोग और उससे उत्पन्न अराजकता की स्थिति नए आलोचनात्मक विवेक के अनुकूल आलोचना की नई भाषा की माँग करती है। इस दृष्टि से देखने पर हमें हिंदी आलोचना के क्षेत्र में विकसित नई शब्दावली का महत्त्व समझ में आता है। हिन्दी में छायावाद के संरक्षक समीक्षकों के द्वारा प्रवर्तित समीक्षा की शब्दावली आज खोखली, अर्थहीन और घिसे हुए वाग्जालों का सम्पुंजित ढेर मात्र लगती है। नया आलोचनात्मक विवेक अपनी अभिव्यक्ति के नए साधन ढूँढ़ने में और नई रचनात्मक मनःस्थिति की व्याख्या में नए यंत्रों के सहारे किस सीमा तक सफल हुआ है, यह 'विवेक के रंग' में संगृहीत समीक्षाओं से स्पष्ट है।

समीक्षा में धीरे-धीरे प्रतिष्ठित हो रहा नयापन मुख्यतः दो रूपों में सामने आता है—पुस्तक समीक्षा और साहित्यिक विवाद। 'विवेक के रंग' के सम्पादक ने अपनी भूमिका में पुस्तक-समीक्षा के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि इसके अन्तर्गत ही हम **'तमाम विवादों-प्रवादों की अनुगूंज'** विद्यमान

देखते हैं तथा इसमें **'महत्त्वपूर्ण समस्याएँ ही नहीं उठाई जातीं, आलोचना-पद्धति के बदलाव के आरम्भिक लक्षण भी दिखाई पड़ते हैं।'** हिन्दी नवलेखन के साथ 'पुस्तक-समीक्षा' नामक आलोचना की विधा किस प्रकार महत्त्वपूर्ण हो उठी, **प्रतीक, कल्पना, आलोचना** आदि पत्र-पत्रिकाओं में इसके लिए कितना स्थान सुरक्षित रखा जाने लगा, इस प्रश्न का उत्तर देवीशंकर अवस्थी ने अपनी भूमिका में दिया है। प्रश्न यह है कि आलोचना के क्षेत्र में यह लघु विधा अप्रत्याशित रूप से इतनी महत्त्वपूर्ण क्यों हो उठी ? खयाल है कि १९५० के आसपास हिन्दी-प्रकाशन-जगत् में आकस्मिक रूप से अतिरिक्त सक्रियता और जागरूकता के दर्शन होने लगे थे। इसीलिए पुस्तकों के ढेर में से पठनीय-अपठनीय को छांटने में योग देने वाली एकमात्र साहित्यिक विधा यही थी जो अब तक उपेक्षित थी। अतः इसे व्यावसायिक विज्ञापन के पैंतरों से मुक्त कर गम्भीर साहित्यिक मूल्यांकन का माध्यम बनाने का प्रयास १९५० के बाद ही सम्भव हुआ। इस दृष्टि से भी 'विवेक के रंग' में संकलित समीक्षाओं को हम देख सकते हैं।

'विवेक के रंग' कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण संकलन-सम्पादन है। एक तो यही कि इस प्रकार के संकलित ग्रंथों का हिन्दी में नितान्त अभाव है, जबकि अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मनी, रूसी और अमरीकी साहित्य में ऐसी संकलित-सम्पादित पुस्तकें पर्याप्त **पुष्ट** परिमाण में मिल जाती हैं। १९५३ ई० में जॉनवेन द्वारा संकलित-सम्पादित 'कंटेम्परेरी रिव्यूज़ ऑफ़ रोमांटिक पोएट्स' उल्लेखनीय ग्रंथ है। रोमांटिक कवियों पर उनके समसामयिक समीक्षकों ने क्या लिखा था और उससे किन-किन बातों पर विवाद उठ खड़े हुए थे और उन विवादों ने तत्कालीन रचनात्मक साहित्य को किस सीमा तक प्रभावित किया था तथा परवर्ती समीक्षकों ने उन विवादों को किस रूप में ग्रहण किया—इन सभी बौद्धिक जिज्ञासाओं का ऐतिहासिक परिशमन इस ग्रंथ द्वारा संभवतः हो जाता है। इसी तरह अगर छायावाद-काल में प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं से हम पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी, द्विज, रामकुमार वर्मा आदि की कृतियों की समीक्षाएँ ढूंढ़कर निकालें और उन्हें संकलित-सम्पादित कर प्रकाशित कराएँ तो यह पता चल सकता है कि १९१४-१५ से १९४० के आसपास तक हिन्दी में कौन कवि अधिक समर्थ और जीवन्त माना जाता था। मेरा खयाल है कि उस दौर में भी निराला की ख्याति अन्यों के लिए अनुल्लंघ्य थी।

'विवेक के रंग'-जैसी पुस्तक के संकलन-सम्पादन के पीछे सम्भवतः यह दृष्टि अत्यन्त गौण रही है। पर पुस्तकों के चयन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पादक समकालीन कृतिकारों की ख्याति को तुच्छ नहीं मानता रहा है। इसीलिए १९५० के बाद की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षाएँ इसके अन्तर्गत संकलित हैं। नागार्जुन, रांगेय राघव, रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि को सम्भवतः इसीलिए छोड़ दिया गया है कि ये सम्पादक की दृष्टि में नवलेखन के कृतिकार नहीं हैं। अगर ये नहीं हैं तो फिर जैनेन्द्र कुमार और यशपाल की कृतियों की समीक्षाएँ किस आधार पर ली गई हैं ? शायद यह कारण रहा हो कि प्रथमोल्लिखित लेखकों की पुस्तकों की विषद या महत्त्वपूर्ण समीक्षाएँ प्रकाश में नहीं आईं। परन्तु १०० साल बाद यह भ्रामक धारणा बन सकती है कि ये लेखक अपने समकालीनों की तुलना में अत्यन्त गौण माने जाते रहे होंगे।

सम्पादक ने मूलतः दो ही उद्देश्यों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत पुस्तक में चयन और सम्पादन किया है—१. **'समसामयिक लेखन की चर्चा'** का संग्रह करना जो **'अधिकांशतः पुस्तक-समीक्षा के स्तम्भों तक ही सीमित रहती है।'** २. इन समीक्षाओं का संकलन प्रस्तुत कर इनमें **'उठाई गई महत्त्वपूर्ण समस्याओं'** के प्रति ध्यान आकृष्ट करना और **'आलोचना-पद्धति के बदलाव के आरम्भिक लक्षण'** दिखलाना।

प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका आधिकारिक विवेचन का प्रमाण है। हिन्दी की नई समीक्षा के क्षेत्र में जो जीवन्त सक्रियता के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं, उनका लेखक ने बड़ा ही सुसम्बद्ध विश्लेषण किया है। यह भूमिका आलोचना का नया दस्तावेज़ है और इस युग के हर प्रबुद्ध पाठक के लिए पठनीय। सम्पादक ने भूमिका में आलोचना के दो दायित्वों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार आलोचना का पहला दायित्व समसामयिक नवलेखन के प्रति ही होता है और दूसरा दायित्व है—पुनर्मूल्यांकन। इसमें कुल ४१ समीक्षाओं का संकलन किया गया है। सभी समीक्षाएँ कविता,

उपन्यास, कहानी, नाटक और जीवनी—इन पाँच विधाओं में विभाजित कर दी गई हैं। इनमें १८ समीक्षाएँ कविता-पुस्तकों या संकलनों की हैं, १० उपन्यासों की, ६ कहानी-संग्रहों की, ३ नाटकों की और १ जीवनी की। इससे ज़ाहिर है कि सम्पादक का ज़ोर काव्य-समीक्षा वाले खंड पर है। प्रभाकर माचवे, बालकृष्ण राव, कुँवर नारायण, नामवर सिंह, सुरेश अवस्थी, ओमप्रकाश दीपक, मार्कण्डेय और नेमिचन्द्र जैन की दो या दो से अधिक समीक्षाएँ संकलित हैं। समीक्षकों की सूची में नलिनविलोचन शर्मा, चन्द्रबली सिंह, शिवचन्द्र शर्मा, शिवनन्दन प्रसाद ('कल्पना' में एक समय लगातार समीक्षा लिखने वाले जो अलबर्ट कृष्ण अली के नाम से व्यंग्य भी लिखते रहे हैं), वीरेन्द्र नारायण (नाट्य-समीक्षक) आदि नामों का न होना खटकता है। नलिन-विलोचन शर्मा के न होने से हिन्दी की नई समीक्षा का महत्त्वपूर्ण अंश छूट गया है। अत्यन्त तीखे वैशिष्ट्य के साथ नलिनविलोचन शर्मा ने आलोचना के क्षेत्र में अपनी प्रखर मेधा और सामर्थ्य का परिचय दिया था। आलोचना की भाषा को उच्छ्वासी उद्‌गार से मुक्त करने का श्रेय उन्हें भी मिलता रहा है और संगृहीत समीक्षकों में किसी एक से अधिक ही। 'मैला आँचल', 'गिरती दीवरें' और 'जहाज़ का पंछी' पर लिखित उनकी समीक्षाएँ विवाद का विषय बनी रहीं। कम-से-कम 'मैला आँचल' की प्रथम समीक्षा होने के कारण 'आलोचना' में प्रकाशित उस समीक्षा का होना नितान्त अनिवार्य था जिसने आंचलिक उपन्यास की पहचान और 'मैला आँचल' को 'गोदान' से आगे का उपन्यास बत-लाया।

काव्य-समीक्षा के खण्ड का नाम है **'एक प्रामाणिक अनुभूति और बृहत्तर माध्यम की खोज'**। इस नामकरण के पीछे सम्पादक की दो बातें स्पष्ट हैं। पहली यह कि सम-सामयिक समीक्षा ने ही सबसे पहले कविता में अनुभूति की प्रामाणिकता पर अपेक्षित बल दिया और दूसरी यह कि कविता नामक विधा के कगारे और चौहद्दियाँ तोड़कर नए कवि इस विधा के द्वारा बृहत्तर माध्यम की खोज कर रहे हैं। इस खण्ड में अज्ञेय के कविता-संग्रह और अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'दूसरा सप्तक' की समीक्षाएँ प्रभाकर माचवे द्वारा लिखित हैं। ये दोनों समीक्षाएँ अत्यन्त साधारण हैं और इनसे समसामयिक समीक्षा का कोई निजत्व भी प्रकट नहीं होता।

प्रभाकर माचवे द्वारा लिखित पुस्तक-समीक्षाओं से नई समीक्षा के आरम्भ की जागरूकता का कोई भी प्रमाण उप-लब्ध नहीं होता। जिन पुस्तक-समीक्षाओं ने काव्यालोचन के बदलते हुए प्रतिमानों और कवि की रचनात्मक अन्त: प्रकृति में अपनी पैठ का संकेत दिया है, उनमें से अधिकांश समसामयिक कवियों द्वारा ही लिखी गई हैं। वस्तुजगत् के भीतर निहित नियमों के जटिल संग्रथन से कृति के रूप-विधान, स्रष्टा की संवेदना का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव-सम्बन्ध ढूँढ़ने का प्रयत्न कुछ समीक्षाओं में मिलता है। इस दृष्टि से 'उर्वशी', 'कुछ कविताएँ', 'अभी, बिलकुल अभी' और 'आँगन पार द्वार' की समीक्षाएँ उल्लेखनीय हैं। समसाम-यिक पुस्तक-समीक्षाओं का यह दोष या गुण जो भी कहें, परन्तु यह है कि अधिकांश समीक्षक अपनी किसी एक बात को कृति के सन्दर्भ में प्रामाणिक बना देने का प्रयत्न करते रहे हैं और इसी क्रम में कृति के उसी पक्ष तक अपने को सीमित करते रहे हैं जो उस बात के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। किसी एक विचार-बिन्दु पर बलाघात की इस प्रवृत्ति के कारण जहाँ अज्ञेय की समीक्षा में **'समकालीन जीवन की विसंगति'** की बात प्रमुखता प्राप्त कर लेती है, वहीं कुँवर-नारायण की समीक्षा में लय, छन्द और 'बृहत्तर माध्यम की खोज' को मूल्यांकन का आधार बनाने का प्रयत्न मिलता है। भिन्न-भिन्न समीक्षाओं में ऐसे भिन्न-भिन्न आधार मिलते हैं। इससे पता चलता है कि नई समीक्षा ने किस प्रकार मृत प्रतिमानों को यथावत् ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया है और रचना के उस गुण को पकड़ने का अन्वेषण भी प्रारम्भ कर दिया है जो प्रबुद्ध पाठक पर छाया रहता है। ऐसे अन्वेषणों और प्रयत्नों का ही परिणाम है—**बिम्ब, अर्थ की लय, बृहत्तर माध्यम की खोज, अनुभव की प्रामा-णिकता, अमित जीने का साक्ष्य (इविडेन्स ऑफ़ इम्मेन्स लिविङ्), नाटकीय प्रतीक-व्यवस्था, भाषा में एक विशिष्ट तात्कालिकता, निजी लय-विधान, मानव की सम्पूर्णता और समग्रता का आग्रह, जीवन की सहज मानवीयता, यथार्थ संवेद्य बनाना, परिकल्पना का साहस, नया सन्दर्भ देना, आधुनिक संकट को गहराई का नया आयाम देना, राग-सम्बन्धों को वैचारिक पृष्ठभूमि देना, समकालीन विसंगति को विराट् रूप में देखने का प्रयत्न, यथार्थ के सामाजिक विश्लेषण ड्रामायी असर के साथ, टटकापन, एक**

निश्चित भावकोण का बोध कराना, बोध को विशेष अर्थ प्रदान करना, मद्धिम संवेग, रचनात्मक आकांक्षा आदि। इस प्रसंग में यह कहना सम्भवतः अनावश्यक नहीं है कि मूल्यांकन के नए विवेक के अनुरूप उपर्युक्त शब्द, पद और वाक्यांशों में हिन्दी-आलोचना के परिवर्तित रूप और तमाम विवादों-प्रवादों का स्पष्ट परिचय मिलता है। नई समीक्षा की मौलिक तर्कपद्धति की अभिज्ञता इस प्रकार के शब्द, पद और वाक्यांशों की पहचान पर निर्भर करती है।

यह आश्चर्य की बात है कि आलोच्य ग्रंथ में संगृहीत काव्य-समीक्षाओं को हम समसामयिक कविता-सम्बन्धी पुस्तक-समीक्षा का प्रतिनिधि नहीं कह सकते। यह सामान्य धारणा है कि समीक्षा में नएपन की पूर्ण प्रतिष्ठा काव्यालोचन के क्षेत्र से ही प्रारम्भ हुई। १९५० से १९५५-५६ तक काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में विकास और परिपक्वता के चिह्न प्रकट होने लगे थे और यही मुख्य क्षेत्र था जिसमें तीव्र आलोचनात्मक जागरूकता परिलक्षित हो रही थी। पर जो समीक्षाएँ संगृहीत हैं, उनसे इस धारणा को बल नहीं मिलता। कुछ समीक्षाएँ अत्यन्त साधारण हैं। उन्हें हम खाद के रूप में उपयोगी समझ यदि टाल भी दें तो उन समीक्षाओं को देखकर भी कम चिन्ता नहीं होती जिनमें प्रभाववादी व्याख्या की पद्धति अपनाई गई है (जैसे अभी, बिल्कुल अभी की समीक्षा) या वे समीक्षाएँ जिनमें संस्मरण और मूल्यांकन का भेद अगोचर हो उठा है (ओ अप्रस्तुत मन की समीक्षा) या वे जिनमें अलंकृत तर्कों का जगह-ब-जगह उपयोग हुआ है (कनुप्रिया की समीक्षा)। चिन्ता से मुक्ति दिलाने वाला एक सामान्य वैशिष्ट्य सभी पुस्तक-समीक्षाओं में अनिवार्यतः मिलता है, वह यह कि कवि के अनुभव और रचना के प्रभाव-पक्ष का प्रायः सभी समीक्षकों ने गहराई में पैठकर वर्णन किया है—इस वर्णन-विधान ने हिन्दी की आधुनिक समीक्षा में शास्त्रीयता को समाप्त कर दिया और नए मूल्यों की परख की दृष्टि प्रतिष्ठित कर दी, इसमें सम्भवतः किसी को भी सन्देह नहीं होगा।

उपन्यास-समीक्षा खण्ड का नामकरण उपयुक्त है—यथार्थ की पहचान। इस खण्ड के अन्तर्गत लगभग सभी समीक्षाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी में अब तक उपन्यासालोचन अविकसित है और इस दृष्टि से ऐसी पुस्तक-समीक्षाओं में ही थोड़ी-बहुत गम्भीर शुरुआत के लक्षण दीख पड़ते हैं। इस खंड में **जहाज़ का पंछी, गिरती दीवारें** और **मैला आँचल** पर लिखी **नलिन विलोचन शर्मा** की समीक्षाओं का अभाव अपूर्ण संकलन के प्रमाण देता है। पुस्तकों के अन्तर्गत **'बलचनमा', 'कब तक पुकारूँ'** और **'ब्रह्मपुत्र'** आदि पर समीक्षाओं का न होना भी खटकता है। आलोचनात्मक दृष्टि की साहसिकता का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए अगर सम्पादक 'घेरे के बाहर' की समीक्षा दे पाता तो यह खण्ड उपन्यासालोचन की दृष्टि से अधिक परिपूर्णता का आभास दे पाता। 'नदी के द्वीप' की समीक्षा में आलोचनात्मक दृष्टिकोण की यह कसौटी भ्रामक है—" **सिद्धान्त के पक्ष में—मेरे सामाजिक दृष्टिकोण से—अज्ञेय में ह्रास हुआ है, कला के पक्ष में उत्तरोत्तर विकास।"** (पृ० १८२) इसका सामान्य निष्कर्ष हुआ कि सिद्धान्त के पक्ष में जितना ह्रास होगा, कला के पक्ष में उतना ही उत्तरोत्तर विकास। अगर उपाध्यायजी का **'सामाजिक दृष्टिकोण'** यही कला-सम्बन्धी मूल्य-विवेक जगाता है तो हिन्दी का इससे बढ़कर और कुछ वे अहित नहीं कर सकते। तभी तो वे नदी के द्वीप की भाषा के सम्बन्ध में उच्छ्वसित होकर बकने लगते हैं—"उसकी शब्द-सम्पदा इतनी व्यापक, इतनी सम्पन्न है कि अपनी कंगाल भाषा भी निहाल हो उठती है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अभिव्यंजना शब्द-वैभव से मूर्तिमान हो उठती है, भाव सनाथ, साकार।" ऐसी समीक्षाओं से हिन्दी की नई समीक्षा का ग़लत स्वरूप उभरता है। उपन्यास-खण्ड की महत्त्वपूर्ण समीक्षाओं में यथार्थ के ग्रहण और उसके कथावस्तु में आयोजित पुनर्निर्माण के प्रश्न के अलावा उपन्यास की विधा में हो रहे परिवर्तनों पर विचार काफी गम्भीरता से किया गया है। विधा के ढाँचे में परिवर्तन की प्रक्रिया से लेकर उसके औचित्य पर ज़ोर देने के क्रम में उपन्यासालोचन की नई पद्धति विकसित हो गई है।

'मैला आँचल' की समीक्षा काफ़ी व्याख्यापूर्ण और उपन्यास-लेखन के पूरे परिदृश्य के अंतर्गत इस कृति के मूल्यांकन का विशद प्रयास है। कुछ समीक्षक मैला आँचल में प्रस्तुत भिन्न-भिन्न दृश्यखण्डों को जहाँ रिपोर्ताज कहते हैं, वहीं नेमिचन्द्र जैन रेखाचित्र या स्केच कहते हैं—**"लगता है मानो समूचा उपन्यास अनगिनती रेखाचित्रों का पुंज हो, जो एक के बाद एक आते हैं और चले जाते हैं।"** इससे स्पष्ट है कि समीक्षक उपन्यास के पात्रों के समुदाय से आकृष्ट है—दृश्यांकन की विविधता से संग्रथित होने वाली ग्रामीण जीवन

की आत्मा से मुग्ध नहीं है। मेरे विचार से इस समीक्षा का यह दोष है। गतिमान जीवन के विविध चित्र देने के लिए रेणु ने भाषा में आंचलिकता को अक्षुण्ण रखा है। 'मैला आँचल' में चूँकि यह नवीन प्रयोग था, अतः लेखक के 'कलात्मक बोध' पर समीक्षक ने इसे छोड़ दिया। पर आगे चलकर अन्य कृतियों में रेणु की भाषा पात्रों के कैरिकेचर ही उपस्थित करती है। अतः इस प्रवृत्ति पर भी समीक्षक का ध्यान निर्मम होना चाहिए था।

साफ, दोटूक और खरा निर्णय समसामयिक समीक्षा का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिसे सृजनात्मक लेखकों ने अपने समानधर्मा की कृतियों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के प्रसंग में विकसित किया है। आलोचना का यह सबसे विवादास्पद रूप रहा है जिसे लेकर पुरानी पीढ़ी के स्रष्टा और आलोचक काफी हद तक नाराज़ और भौंचक्के रहे हैं। इस दृष्टि से श्रीकांत वर्मा द्वारा लिखित 'अँधेरे बंद कमरे' की समीक्षा से एक उद्धरण पठनीय है—"जिस तरह हर ड्राइंग-रूम का अपना सौंदर्य ही नहीं, अपनी घुटन भी होती है, उसी तरह ही प्रेम का भी अपना सौंदर्य ही नहीं, अपनी घुटन भी होती है। जहाँ तक इस सौंदर्य का प्रश्न है, मोहन राकेश के उपन्यास के 'नरेटर' को इस पर दृष्टिपात का शायद अवकाश ही नहीं मिला है, लेकिन जहाँ तक इसकी घुटन, ऊब और एकरसता का सम्बन्ध है, शायद यह पहला उपन्यास है जिसने इतनी तीव्रता के साथ इसे प्रतिष्ठित किया है।" समीक्षक इसी वैशिष्ट्य के कारण 'अँधेरे बन्द कमरे' को महत्त्वपूर्ण कृति मानता है। आज से १५ वर्ष पहले 'घुटन' के चित्रण के लिए किसी भी कृति को महत्त्वपूर्ण मानना समीक्षक के लिए ख़तरे से खाली न था। समीक्षा में ऐसे साहस को प्रतिष्ठित करने का श्रेय नई पीढ़ी को है। जब यह साहस अतिरेक पर पहुँच जाता है तो फिर बुद्धिजीवी 'निजी संसार के घुटन' में रहने के लिए 'अभिशप्त' हो जाता है।

ऐसी सनसनीखेज साहसिकता से मुक्त होने के कारण निर्मल वर्मा ने नए समीक्षक का पूरा दायित्व निभाया है। 'परती परिकथा' के सम्बन्ध में उठाये गए भिन्न-भिन्न प्रश्नों और विवादों का उत्तर इस समीक्षा में बड़े ही संयत ढंग से मिल जाता है। प्रस्तुत कृति परम्परागत पद्धति से किस प्रकार भिन्न है और यह भिन्नता उसे किस तरह विशिष्ट कथाकृति के रूप में प्रतिष्ठित करती है, इसका बड़ा अच्छा विश्लेषण समीक्षक ने किया है—"समूचा उपन्यास पढ़ जाने के बाद लगता है जैसे हम किसी गाँव का अद्भुत विचित्र 'कार्नीवाल' देख आए हैं। अनेकानेक रँगों, गंधों, सुरों की हहराती धारा हमारे बीच बहकर आगे बढ़ गई है, अनेक व्यक्तियों की असंगतियों, सुख-दुःख, हास-विलास से हमने अपने को संपृक्त किया है; किन्तु ये चेहरे, रंग और सुर अपने में महत्त्वपूर्ण नहीं हैं—महत्त्वपूर्ण है इस 'कार्नीवाल' की गतिमयता, अविरल प्रवाह की कलकल, हवा में उड़ते रँगों की आभा, एक मायावी लय जो समस्त व्यक्तियों और घटनाओं के बीच गुज़रती हुई हमारे मस्तिष्क और हृदय को आलोड़ित कर देती है।" (पृ० २६२) यह समीक्षा काफी सन्तुलित है। समीक्षक ने चिंतन के प्रति कथाकार की सहानुभूति से उत्पन्न दोषों और नारी-पात्रों के प्रति शरत्-जैसी भावुकता का भी उल्लेख किया है। कथा के बिखराव आदि के सम्बन्ध में भी समीक्षक का दृष्टिकोण नया है।

उपन्यास-खण्ड की सबसे महत्त्वपूर्ण समीक्षा सम्भवतः देवीशंकर अवस्थी द्वारा लिखित 'चारु चन्द्रलेख' पर है। समीक्षक ने ऐतिहासिक उपन्यास की समीक्षा का जो निकष प्रस्तुत किया है, वह हिन्दी में सर्वथा आधुनिक और वैज्ञानिक विश्लेषण का आलेख माना जाएगा। समीक्षक का आरोप और प्रकारान्तर से मान्यता है—**"वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि की कमज़ोरी पूरे कलानुभव की कमज़ोरी है, और कलानुभव की कमज़ोरी पूरे शिल्प की कमज़ोरी है।"** (पृ० ३१६) संदिग्ध अनुभवगत प्रामाणिकता, अरूपीकरण तथा ऐतिहासिक चरित्रों के बौद्धिक सामान्यीकरण के कारण प्रस्तुत उपन्यास 'पाण्डित्य का विलास' मात्र बनकर रह गया है—यह समीक्षक का निष्कर्ष है। इस निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए समीक्षक ने तर्कपुष्ट विवेचन का आधार प्रस्तुत किया है—"इस विवेचन से स्पष्ट है कि हजारीप्रसादजी की कथा-कल्पना की सारी कठिनाई उस द्विधा-विभक्ति की है जिनमें वे अतीत के प्रति प्रामाणिक बने रहते हुए भी पूरे-के-पूरे वर्तमान समाज का रूपान्तरण भी करना चाहते हैं। अपने सामयिक बोध के आधार पर अतीत को देखना एक बात है और अतीत की ऐसी व्याख्या की चेष्टा कि जिसमें पूरा-का-पूरा वर्तमान वहीं प्रतिष्ठित हो जाए—गुणात्मक रूप से भिन्न, दूसरी बात है।" (पृ० ३१८) ऐतिहासिक उपन्यास के ढाँचे में वर्तमान का प्रक्षेपण किस प्रकार कला को अक्षुण्ण

बनाए रख सकता है, इस सम्बन्ध में भी समीक्षक का दृष्टिकोण वैज्ञानिक और सुलझा हुआ है––"इस पहचान की प्रशंसा की जानी चाहिए कि लेखक ने अपनी कथा के लिए जिस दिक्काल को चुना, वह वर्तमान के प्रक्षेपण के लिए बहुत-कुछ उपयुक्त प्रतीत होता है। यह हमारे इतिहास का ऐसा अंध-युग है जिसमें नाना प्रकार की अपरिभाषित परिस्थितियों की भरमार है। इन अपरिभाषित परिस्थितियों में एक बड़ी सीमा तक इतिहास के वातावरण की प्रामाणिकता को खण्डित न करते हुए भी काल्पनिक कथा की तरलता को अधिक मनमाने ढंग से टालने की सम्भावनाएँ अधिक थीं। पर यह रूपान्तरण जीवंत तभी हो सकता था जबकि कथा की अन्तर्योजना और बनावट के अन्तर्गत ठोस मानवीय स्थितियों को सिरजा जाता और ये स्थितियाँ इतिहास की कोटियों के भीतर बनी भी रहतीं।" (पृ० ३१९)

उपन्यासालोचन खण्ड में यशपाल द्वारा लिखित समीक्षा को सम्मिलित करने का कोई पुष्ट आधार मुझे नहीं दीखता। हाँ नए लेखकों द्वारा लिखित समीक्षा और पुराने लेखकों द्वारा लिखित समीक्षा का तीखा अंतर अगर प्रत्यक्ष कराना सम्पादक का अभीष्ट हो तो इस दृष्टि से उपाध्यायजी और यशपाल––दोनों का समावेश उपयुक्त ही है।

कहानी-समीक्षा के खण्ड में अधिकतर नए कथाकारों और कवियों द्वारा लिखी गई समीक्षाएँ ही संकलित हैं। हिन्दी की कहानी-समीक्षा को समृद्ध करने का श्रेय इन कथाकारों को प्राप्त है। किस प्रकार हिन्दी आलोचना कहानी के मूल्यांकन से आँख चुराती रही और एक समय ऐसा भी आया जब स्वयं कथाकारों को परस्पर की राग-संवेदना और यथार्थ के साक्षात्कार से उत्पन्न आलोचनात्मक विवेक को आधार बनाकर हिन्दी कहानी-समीक्षा को विकसित करने का भार उठाना पड़ा––यह प्रस्तुत खण्ड से स्पष्ट है। इस खण्ड में संकलित डॉ० नामवरसिंह की समीक्षा स्पृहणीय विश्लेषण और साहित्य में अन्वेषित हो रहे नए कलात्मक मूल्यों की स्वीकृति से परिपुष्ट है।

कहानी-समीक्षा को ठोस, सुसंगत और वैज्ञानिक आधार प्रदान करने के लिए यह आवश्यक था कि कहानी की विधा के आंतरिक रचना-तत्त्वों का पुनः विश्लेषण किया जाए और उस पक्ष पर बल दिया जाए जो पाठक की बोध-वृत्ति और ग्रहण-चेतना को उद्बुद्ध करता है। इस दृष्टि से डॉ० नामवरसिंह ने 'कहानी' पत्रिका के माध्यम से 'हाशिये पर' लिखकर कहानी-समीक्षा की समर्थ शुरुआत की थी। निर्मल वर्मा के **'परिन्दे'** नामक संग्रह की समीक्षा के प्रारम्भ में वह कहानी की मूल प्रकृति पर डाले गए भिन्न-भिन्न आवरणों को हटाकर देखने का प्रथम प्रयास करते हैं—"अचम्भा तो इस बात का है कि जीवन-विविधता की इस दौड़-धूप में कहानीकारों के हाथ से यह परम्परागत बुनियादी सिद्धांत भी छूटता जा रहा है कि कहानी का लक्ष्य **'प्रभावान्विति'** है; चरित्र-कथानक आदि तो उसके साधन हैं।" (पृ० ३५४) 'परिन्दे' की समीक्षा के अन्तर्गत **कलात्मक रचाव, कला-संयम, कला के सघन रचाव, तमाम चीजों को रागात्मक सम्बन्ध में जोड़ना, अनुभूतिपूर्ण क्षणों का आलेख आदि** वाक्यांशों और पदों की व्याख्या करके समीक्षक ने कहानी-समीक्षा की नई पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण किया है। सम्भवतः कहानीकारों की एक पीढ़ी के वह समर्थ व्याख्याता रहे हैं। '६० के बाद की पीढ़ी उनके हाथ से बुनियादी तौर पर छूटती जा रही है।

पर नामवरसिंह जिस प्रभावान्विति के प्रवक्ता हैं और उसके लिए तमाम चीजों को रागात्मक सम्बन्ध में जोड़ना आवश्यक मानते हैं, धर्मवीर भारती वहीं मार्कण्डेय के **'पान-फूल'** नामक संग्रह की समीक्षा में विपरीत विधि की दुहाई देते हैं—"······और मानवीय रागात्मक सम्बन्धों के सूक्ष्मतम और कोमलतम तन्तुओं को पकड़ने और उनकी रसमयता में डूबकर कथा कहने की दिशा अपनाई है, वहाँ उसे मार्मिक सफलता मिली है।" (पृ० ३३३-३४) अर्थात् रागात्मक सम्बन्धों की विश्लिष्ट इकाइयों की पकड़ पर ज़ोर दिया गया है। (हाँ, यह मार्मिक सफलता क्या होती है ?)

धर्मवीर भारती की समीक्षा में भाषा का बड़ा मनमाना अर्थ-व्यापार चलता है। उदाहरण के लिए––"इन कहानियों में शिल्प के सभी तत्त्व, स्थानीय रंगत से लेकर बोली तक, लेखक की जानी-पहचानी है और उसे बड़ी सफलतापूर्वक उसने शब्दों में उतारा है।" (पृ० ३३४) शिल्प के सभी तत्त्व जाने-पहचाने हैं––होना चाहिए, न कि जानी-पहचानी है। फिर क्या शिल्प के तत्त्वों को कथाकार ने शब्दों में उतारा है ? शिल्प के तत्त्वों को शब्दों में उतारना—इसका मतलब आज तक समझ में नहीं आया।

कहानी-समीक्षा वाले खण्ड में संकलित अन्य समीक्षाएँ

प्रतिमान के बदलाव का अन्वेषण-मात्र हैं। 'पलंग' की मार्कण्डेय-लिखित खतनुमा समीक्षा विश्लेषण की बारीकियों से पूर्ण है। उषा प्रियम्वदा के कहानी-संग्रह पर कुँवरनारायण की समीक्षा एक समझदार पाठक की प्रतिक्रिया से कुछ अधिक नहीं है। मोहन राकेश के सम्बन्ध में दूधनाथ सिंह के विचार कहानी-समीक्षा के ठोस रूप प्रारम्भ-मात्र कहे जा सकते हैं। कुल मिलाकर कहानी-समीक्षा वाला खण्ड मेरी दृष्टि से कमज़ोर-सा प्रतीत होता है।

नाट्य-समीक्षा वाले खण्ड में सुरेश अवस्थी की दोनों समीक्षाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और नाट्य-समीक्षा के नए प्रारम्भ की सूचना देती हैं। इस प्रसंग में यह उल्लेख अनावश्यक नहीं होगा कि मुद्राराक्षस द्वारा लिखित 'अंधा युग' की समीक्षा ('युग चेतना' में प्रकाशित) अगर इसमें संगृहीत होती तो शायद अधिक उपयुक्त होता। नाट्य-समीक्षा के साथ सब लोग यह स्वीकार करते हैं कि जब आलोच्य ही नहीं है तो आलोचना कहाँ से समृद्ध होगी ? हिन्दी में रचनात्मक जागरूकता की दृष्टि से कविता और कहानी की विधाएँ ही मुख्यतया लेखकों की प्रिय रही हैं। नाटक को केन्द्रित कर अभी कोई रचनात्मक लेखन का आन्दोलन प्रारम्भ नहीं हुआ। जब होगा तब नाट्यालोचन भी समृद्ध हो उठेगा।

जिन समीक्षाओं के विवादास्पद प्रसंगों का उल्लेख किया गया है, उनसे भी हिन्दी आलोचना में गम्भीर विश्लेषण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन और बल मिला है। समीक्षाओं का यह संकलन हिन्दी की नई आलोचना को एक समग्र और व्यवस्थित रूप देने का प्रयास करता है, इसमें सन्देह नहीं।

इन पुस्तक-समीक्षाओं ने ही आलोचक और स्रष्टा को आमने-सामने लाकर गम्भीर विचारात्मक संवाद का प्रारंभ किया है। अतः समीक्षा का प्रारम्भिक रूप इनके माध्यम से प्रकट होता है।

●

अधूरे साक्षात्कार

कुंवर नारायण

स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी उपन्यास का यह सर्वेक्षण 'उपन्यासों' और 'उपन्यासकारों' का परिचय-मात्र न होकर 'उपन्यास की विधा में हुए परिवर्तनों और विकास का अध्ययन है। इस माने में यह (लेखक के कथन के बावजूद) किसी हद तक ऐतिहासिक भी है और सम्पूर्ण भी। विवेचन के लिए उपन्यासों के चुनाव में ही लेखक उस परिष्कृत साहित्यिक रुचि का परिचय देता है जिसका निखरा रूप हम उपन्यासों के विवेचन में पाते हैं। लेखक इस दोहरे लक्ष्य को लेकर चलता है कि उपन्यास-कला के विभिन्न तत्त्वों के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण उपन्यासों पर भी विचार होता चले। इस प्रकार पुस्तक में समीक्षा के दो पक्ष सामने आते हैं: सिद्धान्त-पक्ष तथा व्यावहारिक समीक्षा।

पहले आलोचना का सिद्धान्त-पक्ष लेना ज़रूरी है क्योंकि लेखक आरम्भ में ही कुछ मूल स्थापनाओं द्वारा अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की कोशिश करता है, और बाद के लेखों में उन्हें कुछ सैद्धान्तिक निष्कर्षों से जोड़ता है। भूमिका में उसका कहना है कि "अपनी समस्त विविधता और क्षमता तथा उपलब्धि के बावजूद, समग्र रूप से हिन्दी उपन्यास यही प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है कि हमारे लेखक जीवन का सामना पूरा और अन्त तक नहीं करते। इसीलिए इतनी सारी कृतियों में प्रस्तुत सत्य के साथ विभिन्न साक्षात्कार अन्ततः अपर्याप्त और अधूरे रह गए हैं—अनुभूति की गहराई की दृष्टि से भी और कलात्मक और सौन्दर्यमूलक सम्पूर्णता की दृष्टि से भी।" आगे चलकर 'सन्दर्भ की खोज' निबन्ध में 'ज़िन्दगी के बाह्य यथार्थ से साक्षात्कार' की बात उठाई गई है जो "एक प्रकार से लेखक के आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया का ही एक रूप है···जीवन के यथार्थ के इस अन्वेषण की एक अन्य अनिवार्य परिणति हुई व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध-सूत्रों की खोज और परख···" लेकिन "अधिकांश उपन्यास अनेक चित्रों के, जीवन-खंडों के पुंज-मात्र हैं। वे जीवन की निरन्तरता का, प्रवहमानता का, काल में अखंडता का आभास मात्र दे पाते हैं, समग्र अनुभूति के रूप में उसे संप्रेषित नहीं करते।" इन धारणाओं से लगता है कि लेखक के अपने आलोचनात्मक दृष्टिकोण के निर्माण में प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक लूकाच के विचारों का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव रहा है। पुस्तक के अन्त के लेखों में जो निष्कर्ष निकाले गए हैं उन पर भी मूल आग्रह लूकाच के ही विचारों का जान पड़ता है—"हिन्दी उपन्यास में प्रायः सर्वत्र जीवन की समग्रता नहीं खंडमयता ही अधिक दीख पड़ती है··· जीवन की गतिशीलता या निरन्तरता का बोध भी बड़ा अपर्याप्त है या सतही है। 'झूठा-सच' या 'भूले बिसरे चित्र' जैसे उपन्यास भी बाह्य औपचारिक काल में उलझे रह जाते हैं, काल के किसी गहरे आन्तरिक आयाम को या वास्तविक गति के किसी भाव को नहीं संप्रेषित कर पाते।"

'सम्पूर्णता', 'जीवन का यथार्थ', 'काल के आयाम और निरन्तरता' आदि अनेक ऐसे कथन हैं जिनका निश्चित आशय स्पष्ट नहीं हो पाता— न तो विशुद्ध सैद्धान्तिक स्तर पर ही, न कृतियों की आलोचना के ही दौरान में। यह कहना कि "हमारे लेखक जीवन का सामना पूरा और अन्त तक नहीं करते" स्थिति को दूर तक साफ़ नहीं करता। संसार के बड़े-से-बड़े लेखक के लिए भी शायद यह नहीं कहा जा सकता कि 'वह जीवन का सामना पूरा और अन्त तक करता है।' जीवन के किसी भी अनुभव को—चाहे वह अनुभव खंड ही क्यों न हो—कलात्मक महत्त्व दे सकने की क्षमता का ताल्लुक अनुभव से अधिक अनुभव ग्रहण करने वाले से है। इसी

अधूरे साक्षात्कार, लेखक: नेमिचन्द्र जैन, प्रकाशक: अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या १६१, मूल्य आठ रुपए।

प्रकार यथार्थ की चर्चा भी लेखक इस प्रकार करता है मानो वह कोई निश्चित चीज़ है—और उपन्यासकार के बाहर की चीज़ है जिसका पूर्ण साक्षात्कार करने में ही उपन्यास तथा उपन्यासकार दोनों की सार्थकता है। मैं नहीं समझता कि यथार्थ की अब तक कोई ऐसी परिभाषा दी जा सकी है जो तथाकथित सभी मान्य यथार्थवादी उपन्यासों के लिए काफ़ी हो। अपनी पुस्तक 'कांसेप्ट्स ऑव क्रिटिसिज़्म' में रेने वलेक यथार्थवाद की पूरी ऐतिहासिक विवेचना के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि—''यथार्थवाद का निकृष्ट रूप वह है जहाँ वह मात्र पत्रकारिता, प्रबन्ध-रचना, वैज्ञानिक वर्णन यानी अ-कला होकर रह जाता है : लेकिन अपनी महानता में यथार्थवाद हर सिद्धान्त के दायरे से परे वह सब है जो बालज़क, डिकेन्स, दोस्तव्स्की, तालस्ताय, इब्सेन और ज़ोला तक की रचनाओं को, उनकी रची सृष्टियों को, समेटता है। यथार्थवाद का सिद्धान्त, सच पूछा जाए तो, गलत सौन्दर्यशास्त्र है क्योंकि हर कला सबसे पहले एक 'रचना' है—प्रतीकात्मक रूपों का एक अपना मायालोक।'' इसीलिए शायद अब उपन्यास के विवेचन में यथार्थ से अधिक उस टेकनीक के विश्लेषण पर ज़ोर दिया जाता है जिसके द्वारा लेखक अपने आन्तरिक और बाह्य निरीक्षण को कलात्मक रूप देता है।

टेकनीक की बात उठाते समय पुस्तक के एक दूसरे लेख 'रूप, शिल्प और भाषा' पर ध्यान जाता है। काफ़ी निराशा हुई इस लेख से। रूप, शिल्प और भाषा आज उपन्यास के क्षेत्र में काफ़ी महत्त्व रखते हैं, लेकिन पुस्तक में इन पर अलग से लेख होते हुए भी अलग से कोई खास विचार नहीं किया गया है। शायद यह कहना गलत न होगा कि उन विचारों तक को ठीक से संगठित नहीं किया गया है जो अन्य लेखों में उपन्यासों के विश्लेषण से निकलते हैं। अगर यह मान लिया जाए कि लेखक रूप, शिल्प और भाषा को प्राथमिक महत्त्व नहीं देता तो इस लेख का इस रूप में पुस्तक में होना और भी कम मानी रखता है। इस प्रकार के स्थूल वर्गीकरण और सरलीकरण देखकर—'अज्ञेय में काव्यात्मकता और भाव-तीव्रता', 'रेणु में लोकगीतों की कड़ियों का उपयोग', 'नागार्जुन और अमृतलाल नागर में बोलियों के शब्दों का प्रयोग' आदि—लगता है कि यह नेमिचन्द्र जैसे कुशल आलोचक का अपव्यय है।

सच पूछा जाए तो पुस्तक के सशक्त लेख वे हैं जिनमें किसी निश्चित कृति को लेकर विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किए गए हैं, यानी सैद्धान्तिक समीक्षा की अपेक्षा व्यावहारिक समीक्षा वाले लेख अधिक सफल हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं : एक तो सैद्धान्तिक मान्यताएँ इतनी कमज़ोर हैं कि व्यावहारिक आलोचना उनके बावजूद अग्रसर होती है; दूसरे यह कि उन मान्यताओं को लागू करने के मामले में लेखक स्वयं बहुत कट्टर नहीं। लेखक की मान्यताओं से केवल एक दिशा-निर्देश-भर होता है, लेकिन कृतियों के विश्लेषण के समय वह उन मान्यताओं से आक्रान्त न होकर अपनी उस साहित्यिक रुचि पर अधिक भरोसा रखता है जो श्रेष्ठ रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य के विवेकपूर्ण अध्ययन से बनी है। इसीलिए लेखक के सैद्धान्तिक आग्रह कहीं भी दुराग्रह की सीमा तक नहीं पहुँचते और बराबर यह सुखद आभास बना रहता है कि हम एक रुचि-सम्पन्न और सन्तुलित आलोचक की बात सुन रहे हैं।

उपरोक्त बातों को पुष्ट करने के लिए यशपाल के 'झूठा-सच' तथा रेणु के 'मैला-आँचल' की समीक्षा से दो उदाहरण देना चाहूँगा। दोनों ही उपन्यास 'यथार्थवादी' उपन्यास माने जाएँगे। लेकिन, यशपाल की कला की सीमा केवल यही नहीं है कि वह जीवन का एक छोटा, सतही टुकड़ा ही देख पाते हैं; बल्कि उससे भी अधिक इस बात में है कि वह जो कुछ देख पाते हैं वह मानवीय अनुभूति का सार्थकतम अंश नहीं होता।...उनकी रचनाओं में...जीवन को संस्कार देने वाली गहन मानवीय संवेदना का अभाव रहता है, मन को संस्कार देने वाली अथवा अधिक संवेदनशील और सजग बनाने वाली, विवेक को सतर्क बनाने वाली सहानुभूति, करुणा और सौन्दर्य-दृष्टि नहीं मिलती। इसी प्रकार 'मैला आँचल' के मूल्यांकन में समीक्षक इस नतीजे पर पहुँचता है कि ''उसके लेखक ने देहाती जीवन को अत्यंत ही आत्मीय और कवित्वपूर्ण दृष्टि से देखा है। मैं जान-बूझकर इस दृष्टि को 'कवित्वपूर्ण' कहता हूँ। क्योंकि विशेषकर यथार्थवाद के नाम पर राजनीतिक दुराग्रह के फलस्वरूप बहुत दिनों तक साहित्यकार सबसे अधिक वंचित होता रहा, इसी कवित्वपूर्ण दृष्टि से, यद्यपि मूलतः यही साहित्यकार की अपनी दृष्टि है। जीवन के सत्य को पकड़ने में, उसकी और मनोवैज्ञानिक तथा इतिहासकार की भिन्नता इसी दृष्टि की

ही भिन्नता के कारण है। वह मानव-आत्मा का शिल्पी इसीलिए होता है कि वह जीवन के काव्य का, उसकी सरसता और सौन्दर्य का, विकृति और विसंगति के पंक के बीच से झाँकते-मुस्कराते कमल का द्रष्टा होता है। जीवन के इस सौरभ की पहचान ही कवित्वपूर्ण दृष्टि है।''

तत्त्वत: 'अधूरे साक्षात्कार' हिन्दी आलोचना के उन इने-गिने प्रयासों में से है जिसमें समीक्षा की शुद्ध साहित्यिक ज़रूरतों को सर्वोपरि रखा गया है। लेखक इस ज़िम्मेदारी के प्रति पूरी तरह सचेत है कि अच्छी समीक्षा का काम पूर्व-निर्धारित मान्यता या मान्यताओं को रचनात्मक साहित्य पर ज़बरदस्ती थोपना नहीं बल्कि उन नियमों की खोज और छानबीन है जो श्रेष्ठ साहित्य के मूल में होते हैं। कुछ पूर्वग्रहों के बावजूद लेखक का स्वाभाविक झुकाव स्वस्थ वैज्ञानिक चिन्तन-शैली की ओर ही है। ●

प्रगतिवाद और प्रगतिवाद

रामदरश मिश्र

अमृतराय प्रगतिशील आलोचना के स्तम्भों में से एक हैं। अपनी तेज़-तर्रार लेखनी, साफ़गोई, चिन्तन की प्रखरता और स्पष्टता तथा समाजवादी दृष्टि की अनाविलता के कारण अमृत का अपना स्थान रहा है। इधर काफी दिनों से उनका चिन्तन मौन रहा है। इतने दिनों की ख़ामोशी को तोड़कर जब उनका चिन्तन सामने आया तो स्वाभाविक था उनसे आशा करना कि उन्होंने ऐसा कुछ देना चाहा होगा जो इधर के सर्जन और विवेचन के संदर्भ में उनके भीतर उमड़ता-घुमड़ता रहा होगा और वह कुछ निश्चय ही उनकी या प्रगतिशील आलोचना की पुनरावृत्ति न होकर युग-संदर्भ में अपनी सार्थकता प्रमाणित कर रहा होगा। 'सहचिन्तन' हाथ में आते ही मैं उसके निबन्धों के शीर्षकों को देख गया और यह जानकर खुशी हुई कि अमृत ने उन अनेक प्रश्नों को उठाया है जो इधर के रचनाकारों और समीक्षकों में चर्चा के विषय रहे हैं।

हुआ यह है कि नवलेखन के सर्जकों और विचारकों ने किसी निर्णय पर पहुँचे बिना इन्हें अपने-अपने ढंग से समझने का प्रयास किया है। निर्णय पर पहुँचा भी नहीं जा सकता, क्योंकि ये प्रश्न बहुत ही संश्लिष्ट और रचना-सापेक्ष होते हैं। अमृत ने 'सहचिंतन' में इन प्रश्नों को समझने का प्रयत्न किया है, किन्तु उनकी प्रखर प्रगतिशील दृष्टि ने प्रश्नों के आर-पार जाकर उन पर स्पष्ट निर्णय भी लेना चाहा है। इन निबन्धों के शीर्षकों को देखकर जो संभावना बनी थी वह निबन्धों को पढ़ते समय धीरे-धीरे प्रगतिवाद बनती गई। साहित्यकार की आस्था, परम्परा और प्रयोग, वस्तु और रूप, सृजन के रूप, यथार्थवाद की समस्याएँ, आधुनिकता महारोग आदि—निबन्धों के भीतर से गुज़रने का अहसास प्रगतिवाद की जानी-पहचानी दुनिया से गुज़रने का अहसास बनता गया। तब लगा कि 'सहचिंतन' का अर्थ औरों (प्रगतिवादियों) के चिन्तन के साथ हो लेना है। यदि सहचिन्तन का अर्थ औरों के साथ चिन्तन करना हो तो आज के चिन्तन के संदर्भ में 'सहचिन्तन' अकेले कंठ की पुकार से अधिक कुछ नहीं ठहरेगा। 'साहित्यकार की आस्था' में मार्क्सवादी ढंग से मानव-समाज के विकास का इतिहास दोहराया गया है और पशुता से विकसित मानवता, भेद-भाव से उबरती एकता, पूँजीवाद से लड़ती समाजवादी व्यवस्था की विजय को पहचानना ही आस्था है। पूरे निबन्ध के स्वर में कहीं भी साहित्यकार का संश्लिष्ट चिन्तन नहीं उभरता। 'आधुनिकता महारोग है', इस बात को सिद्ध करने के लिए लेखक ने काफ़ी देर तक अपने को सतही आधुनिकता—कपड़े-लत्ते रेस्त्राँ की आधुनिकता—में भटकाया है (इसे व्यक्तिव्यंजक निबन्ध-शैली की छूट दी जा सकती है), किन्तु बाद में वह आधुनिकता की गहराई में उतरता है। यह सच है कि लेखक ने आधुनिकता के अनेक जटिल स्तरों को नहीं छुआ है, किन्तु उसने आधुनिकता की विसंगतियों, उसके विकृत व्यक्तिवादी मृत्यु-पूजक चिंतन को बहुत स्पष्ट ढंग से अनावृत किया है। यह सच है कि इस समूचे प्रयास में लेखक की जानी-पहचानी प्रगतिशील धारणा काम करती रही है, किन्तु वह इधर के विकृत चिन्तन-संदर्भों से जुड़कर अपनी सार्थकता प्रमाणित कर देती है। यह नहीं कि मैं प्रगतिवादी दृष्टि का विरोध कर रहा हूँ, सच तो यह है कि सुन्दर सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का स्वप्न प्रगतिवादी दृष्टि के बिना पूरा ही नहीं हो सकता और साहित्य भी समाजवादी विश्वास को छोड़कर कहाँ जी सकता है, किन्तु साहित्य में समाजवादी विश्वास ही सब-कुछ नहीं होता, दूसरे यह कि समाजवादी विश्वास को

सहचिन्तन : लेखक अमृत राय, प्रकाशक सर्जना प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या २२९, मूल्य आठ रुपए।

नूतन चिन्तन-संदर्भों से संश्लिष्ट होते चलना होता है। जब अमृत की प्रगतिवादी दृष्टि आज के फ़ेक' और विकृत चिन्तन के ऊहापोह को चीरती हुई रास्ता बनाती है तब अपनी प्रखरता और साफ़गोई में बड़ी विश्वसनीय और सार्थक लगती है और तब वह बड़े विश्वास से यह घोषित करती है कि आधुनिकता एक मूल्य है। मूल्य वह तभी हो सकती है जब पूरी मानवता के बीच फैले जातीय, राष्ट्रीय, सामाजिक और आर्थिक भेद-भाव को अस्वीकार कर एकता और समता की स्थापना में सक्रिय विश्वास रखती हो। यह सच है कि इस विश्वास के अभाव में आधुनिकता अपनी नाना भंगिमाओं के बावजूद महारोग और पुरानी भावधारा के सिवा कुछ भी नहीं। लेखक दृढ़ स्वर में घोषित करता है कि आधुनिकता का अर्थ केवल इतना ही है कि व्यक्ति अपने परिपार्श्व के संश्लिष्ट आधुनिक जीवन को नवीनतम ज्ञान-विज्ञान के आलोक में देखे। 'परम्परा और प्रयोग' में चिन्तन के कुछ बिन्दुओं को अपने ढंग से उभारा गया है—परम्परा का सृजन होता है, वह अपने-आप नहीं बनती, सृजन होने से बदलती रहती है। जिसे हम आज परम्परा कहते हैं वह हमारी धमनियों में रक्त की तरह प्रवाहित रहती है और हमें उसकी चेतना भी नहीं होती। वस्तु और रूप पर लेखक ने नवलेखन और विषयवादियों के विचारों का मिला-जुला रूप प्रस्तुत किया है। सृजन की प्रक्रिया आज का बहुचर्चित प्रश्न रहा है। प्रस्तुत लेखक ने भी 'सृजन के क्षण' पर विचार किया है। वह उन लोगों के विचार से सहमत नहीं है जो यह मानते हैं कि कविता का सृजन संपूर्णत: उसी क्षण में समाहित है जबकि वह कलम या कूची की नोक से कागज़ पर उतरती है। लेखक की दृष्टि में कला का सृजन किसी क्षण की उपलब्धि नहीं दीर्घ साधना की, तप की उपलब्धि होती है। साधना कला का रूप निखारने मात्र की नहीं संपूर्ण जीवन की साधना। लेखक ने अपनी बात बहुत सफाई से तर्कसंगत ढंग से रखी है, किन्तु लगता है कि वह 'सृजन के रूप' सृजन-प्रक्रिया-सम्बन्धी मूल प्रश्न से कतराकर निकल गया है या उसका सरलीकरण कर दिया है।

अमृतराय सुपरिचित ललित निबन्धकार भी हैं। इनके विचारपूर्ण निबन्धों में भी ललित निबन्ध-शैली का थोड़ा-बहुत स्पर्श है, किन्तु इस संग्रह में कुछ निबन्ध ऐसे हैं जो आद्योपान्त ललित निबन्ध-शैली में लिखे गए हैं—हाँ 'शैली' में लिखे गए हैं। वे अपनी प्रकृति में ललित निबन्धों की गरिमा प्राप्त नहीं कर सके हैं। इन निबन्धों में भी कुछ प्रश्न उभारे गए हैं। ये निबन्ध इनके विचारपूर्ण निबन्धों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हैं, क्योंकि यहाँ मौलिक चिन्तन की विरलता और पिष्टपेषित चिन्तन की स्फूर्ति निबन्ध की व्यंगात्मकता और आत्मीयता में डूब जाती है। 'सबसे भले हैं मूढ़', 'जितने पंडे उतने झंडे', 'गोबर गनेस का जागरण', 'कृपाचार्य की कूटनीति' निबन्ध इसी प्रकार के हैं।

कुछ निबन्ध ऐसे हैं जो व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्धित हैं। 'नदी के द्वीप, डॉ० ज़िवागो, लोलीटा, फूल नहीं रंग बोलते हैं' कृतियों को लेखक ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक यथार्थ की कसौटी पर परखा है। सामाजिक यथार्थ अपने-आपमें कोई स्थूल वस्तु नहीं है जिसे किसी कृति में झोंक दिया जाए या समीक्षा करते समय उसका कान पकड़कर निकाल लिया जाए। किन्तु कट्टर समाजवादी कृतिकार और समीक्षक यथार्थवाद के साथ यही व्यवहार करते रहे हैं। अमृत सामाजिक यथार्थ के प्रखर पक्षपाती होते हुए भी उसकी संश्लिष्टता, गतिमयता तथा सौन्दर्य और अनुभूति की विविध सूक्ष्म छायाओं वाली कला के संदर्भ में उसकी परिणतियों को समझते हैं। इसलिए वे एक ओर कृति के सौन्दर्य और अनुभव, शिल्प और प्रयोग के आस्वाद और परीक्षण में उतरते हैं, दूसरी ओर विचार और विश्वास के स्तर पर इनके पीछे काम करने वाली सामाजिक या असामाजिक शक्तियों का भी आकलन करते हैं। 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में लेखक ने बार-बार केदार के विविध सौन्दर्य-चित्रों का आनन्द लिया है, किन्तु उसकी दृष्टि साफ तौर पर यह देखती रही है कि केदार के सौन्दर्य-चित्रों की सजीवता, प्रत्यक्षता और प्रगाढ़ता का कारण है कवि का सामाजिक यथार्थ से गाढ़ रूप से संपृक्त होना। 'नदी के द्वीप' का गहन-सा दीखने वाला प्रेम परम्परित और रुग्ण है क्योंकि वह सामाजिक यथार्थ से विच्छिन्न है। 'नदी के द्वीप' अपनी समस्त कलात्मक उपलब्धि के बावजूद भीतर से अशक्त और रुग्ण है। 'डॉ० ज़िवागो' की सामाजिक क्रांति-विरोधी-दृष्टि उसे साम्राज्यवादी देशों के बीच गौरवान्वित करती है, लेखक इस धारणा के साथ 'डॉ० ज़िवागो' का मूल्यांकन करता है। वास्तव में 'डॉ० ज़िवागो' की क्रांति-विरोधी परिणति की शिकायत की जा सकती है, किन्तु उसके भीतर

जो मानवीय यातना और अनुभव के स्वर उभारे गए हैं उनकी गहनता की उपेक्षा भी कैसे की जा सकती है? लेखक ने प्रकारान्तर से इसकी कलात्मक उपलब्धि का स्पर्श किया है। 'लोलीटा' की समीक्षा में 'लोलीटा' की कथा-संघटना और मनोवैज्ञानिकता के संदर्भ में इसके यथार्थ की रुग्णता और छद्म को अनावृत किया गया है।

'सहचिंतन' में कुछ और भी निबन्ध हैं जो या तो साहित्यकारों के संस्मरण हैं या समाज और राजनीति की कुछ समस्याओं से सम्बद्ध हैं। इन सबमें लेखक की बेलाग समाजवादी दृष्टि काम कर रही है।

अमृत के ये निबन्ध मौलिक चिन्तन का द्वार नहीं खोलते, साहित्य के संश्लिष्ट प्रश्नों को भी उनकी दृष्टि पूर्व-स्वीकृत स्पष्ट समाजवादी सिद्धांतों के आलोक में दोटूक देखती है, किन्तु क्या यह नहीं कहा जा सकता कि अपने विश्वास पर अडिग और स्पष्ट समाजवादी दृष्टि वाले अमृतराय अपनी साहित्यिक मान्यताओं में उन आधुनिकों से अधिक आधुनिक और अधिक ईमानदार हैं जो अंधे हैं और आधुनिक कहाने के चक्कर में जटिल आधुनिकता का छल ओढ़ते हैं या जो प्रगतिशील दृष्टि वाले हैं, किन्तु गतिशील कहलाने के चक्कर में समाजवाद से व्यक्तिवाद और व्यक्तिवाद से समाजवाद का चक्कर लगाया करते हैं और संश्लिष्ट यथार्थवाद के नाम पर दोनों का यश लूटते हैं। ●

पुनर्मूल्यांकन

तारसप्तक : ऐतिहासिकता और प्रासंगिकता

केदारनाथ सिंह

'तारसप्तक' का पुनर्मुद्रण कोई घटना नहीं है—हालाँकि इस बीच उस पर जो चर्चाएं हुई हैं, उनमें जाने-अनजाने उसे एक घटना का-सा रूप दे दिया गया है। आज से लगभग चौबीस वर्ष पूर्व जब उसका पहली बार प्रकाशन हुआ था तो कदाचित् उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि वह बिल्कुल चुपचाप, इतिहास की एक सहज परिणति के रूप में सामने आया था—अपनी सारी नई घोषणाओं के बावजूद तत्कालीन नारों से अलग और एक बदले हुए साहित्यिक तेवर के साथ। उसकी सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि वह अपने अभीष्ट पाठक-समुदाय के आगमन से पहले ही छपकर सामने आ गया था। एक हल्के आघात और कुछ विस्मय के साथ जिन लोगों ने उसके प्रकाशन की ओर पहली बार निगाह उठाई थी उनकी संख्या बहुत सीमित थी। इस तरह 'तारसप्तक' स्वयं एक काव्यात्मक आन्दोलन का पुरस्कर्ता चाहे बन गया हो, परन्तु शुरू-शुरू में वह बिना किसी क्रान्ति या आन्दोलन के, हिन्दी-प्रकाशन के इतिहास में शायद पहली बार लेखकों के एक सहकारी प्रयास के रूप में सामने आया था। यह 'सहकारी' या 'सामूहिक' दृष्टि उसके ऐतिहासिक स्वरूप की एक ऐसी विशेषता थी जो स्वच्छन्दतावादी युग की समाप्ति के बाद सोचने-समझने और अनुभव करने के एक सर्वथा नए आयाम की ओर संकेत कर रही थी। बाद के सप्तकों के साथ यह बात नहीं रही। वे एक सुनियोजित साहित्यिक आन्दोलन के वाहक बनकर एक नाटकीय घटना की तरह प्रकाश में आये। परिणामतः उनके प्रकाशन के साथ पाठकों को एक सर्वथा अप्रत्याशित साक्षात्कार का वह 'ऐतिहासिक' अनुभव नहीं हुआ, जोकि 'तारसप्तक' के घटना-शून्य प्रकाशन के साथ हुआ था।

सन् १९४३ के आसपास एक रचनाकार के सम्मुख बिल्कुल दूसरे प्रकार के प्रश्न थे, जिनका रुख साहित्य की ओर कम और साहित्येतर वास्तविकता की ओर अधिक था। 'तारसप्तक' ने उनका रुख फिर से साहित्य की ओर मोड़ दिया। 'अज्ञेय' ने अपने वक्तव्य में स्पष्ट शब्दों में कहा—"**यथार्थ-दर्शन केवल कुण्ठा उत्पन्न करता है।**" मैं इसमें निहित काव्यात्मक सत्य के बावजूद इस कथन को आधुनिक कविता के विकास के संदर्भ में थोड़ा दुर्भाग्यपूर्ण मानता हूँ। एक ऐसे समय में जबकि साहित्य को रोमाण्टिक भावुकता से छुटकारा दिलाने के लिए बिल्कुल दूसरे प्रकार के नारों की आवश्यकता थी, 'तारसप्तक' के कुछ वक्तव्यों और विशेषतः सम्पादक के वक्तव्य ने उन प्रश्नों को रेखांकित करने का प्रयास किया जो जाने-अनजाने रोमाण्टिक संशयों को ही प्रतिध्वनित करते थे। परिणामतः 'रोमाण्टिक' और 'आधुनिक' के बीच जो स्पष्ट विभाजन अब तक हो जाना चाहिए था वह अगली पीढ़ी तक के लिए स्थगित कर दिया गया। इस प्रकार 'तारसप्तक' अपने समय के 'अग्रिम दस्ते' का घोषणा-पत्र न होकर एक नए प्रकार के सौन्दर्य-शास्त्र का उद्घोषक बन गया। इसका एक कारण यह था कि 'अन्वेषण' और 'प्रयोग' की जिस धारणा को लेकर ये कवि चले थे, उसके ऐतिहासिक कारणों और दिशा का उन्हें ठीक-ठीक पता नहीं था। कलाकार सेजाँ ने कहीं कहा है कि प्रयोग की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि हम अपने मौलिक 'विश्वासों' को किसी अन्य प्रकार से सिद्ध कर ही नहीं सकते। ज़ाहिर है कि ये विश्वास यदि किसी अभौतिक प्रतीति या चमत्कार से सम्बन्ध न रखते हों तो उनकी उत्पत्ति का स्रोत तत्कालीन ऐतिहासिक वास्तविकता से परे कहीं हो ही नहीं सकता। प्रयोगवाद का 'अन्वेषण' निश्चित रूप से आध्यात्मिक नहीं था। कोशिश की गई होती तो उसके वस्तुगत स्रोत का भी पता लगा लिया गया होता और उस बाह्य दबाव का भी, जिसके चलते 'प्रयोग' एक अनिवार्यता बन

गया था। परन्तु यथार्थ-दर्शन से उत्पन्न होनेवाली कुण्ठा के मूल में जाने की किसी ने ज़रूरत ही नहीं समझी। दो-एक कवियों में यह चेतना जाग्रत ज़रूर थी, पर 'तारसप्तक' का जो सामूहिक व्यक्तित्व बना उसमें वह दब-सी गई। अब चाहे कुछ भी कहा जाए, पर हिन्दी कविता के विकास में 'तारसप्तक' एक ठोस ऐतिहासिक वास्तविकता बन चुका है और अब कोई भी स्पष्टीकरण उसकी तत्कालीन स्थिति में ज़्यादा फेर-बदल नहीं कर सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि उसका अध्ययन उसकी इसी विलक्षण स्थिति के संदर्भ में ही किया जाए।

पिछले दशक में आधुनिक कविता के विकास पर जो कुछ लिखा-पढ़ा गया है, उसमें प्रायः 'तारसप्तक' को एक अलगाव का बिन्दु माना गया है—एक ऐसा मोड़ जहाँ से हिन्दी कविता की दिशा एकबारगी बदल जाती है। मेरा खयाल है कि तत्कालीन साहित्यिक तथ्यों की जाँच-पड़ताल की जाए तो ज्ञात होगा कि यह परिवर्तन न तो एकबारगी आया था, न ही अप्रत्याशित रूप में। 'रूपाभ' (१९३८ ई०) के प्रकाशन के आसपास ही उसके लिए भूमि तैयार हो गई थी। निराला, नरेन्द्र शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल की कुछ कविताओं में अनुभूतियों के 'स्थानीकरण' के साथ-साथ एक सर्वथा नए प्रकार का शिल्प भी विकसित होने लगा था, जिसमें पूर्ववर्ती कविता के छन्दानुशासित शिल्प से कहीं अधिक लचीलापन था। 'तारसप्तक' की कम-से-कम दो प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध निश्चित रूप से कुछ सप्तक-पूर्व प्रवृत्तियों के साथ जोड़ा जा सकता है। (१) व्यंग्य और विद्रूप की प्रवृत्ति जिसका उदाहरण भारतभूषण, माचवे और रामविलास शर्मा की कुछ कविताओं में मिलता है; और (२) अनुभूतियों के 'स्थानीकरण' की प्रवृत्ति जिसका आग्रह खास-तौर पर रामविलास शर्मा और गिरिजाकुमार माथुर की स्थिर चित्रण वाली कविताओं में दिखाई पड़ता है। इनके अतिरिक्त एक खास किस्म की नवरोमाण्टिक प्रवृत्ति भी धीरे-धीरे विकसित हो रही थी, जिसकी चरम परिणति एक हल्की मध्यवर्गीय उदासी के साथ गिरिजाकुमार की कविताओं में हुई। इसलिए इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'तारसप्तक' एक नई काव्यात्मक क्रान्ति का अग्रधावक नहीं, बल्कि उसकी कुछ आरम्भिक प्रवृत्तियों की सामूहिक अभिव्यक्ति-मात्र है। और यह तो एक आकस्मिक संयोग से अधिक कुछ नहीं है कि वह सन् १९४३ ई० में ही प्रकाशित हुआ था। जैसा कि सम्पादकीय वक्तव्य से स्पष्ट है यदि सब-कुछ योजना के अनुसार ही होता है तो वह शायद और कुछ पहले ही प्रकाशित हो गया होता। इसलिए हिन्दी कविता के विकास में सन् १९४३ महज़ एक काम-चलाऊ काल-विभाजन की रेखा है। यदि उसे एक स्थिर बिंदु मानकर बाद में विकसित होने वाली काव्यात्मक प्रवृत्तियों का विवेचन किया जाएगा तो इससे गलत नतीजों तक पहुँचने का खतरा हमेशा बना रहेगा।

फिर सवाल उठता है कि 'तारसप्तक' की ऐतिहासिकता किस बात में है? इसका उत्तर किसी एक कवि की कृतियों या वक्तव्य के आधार पर नहीं दिया जा सकता। सम्पादकीय वक्तव्य को कवियों का संयुक्त वक्तव्य मानने का कोई कारण नहीं है। फिर 'तारसप्तक' के सामूहिक व्यक्तित्व और एक ठोस ऐतिहासिक शक्ति के रूप में उसकी अर्थवत्ता की व्याख्या कैसे की जा सकती है? मेरा खयाल है कि साहित्य का इतिहास केवल रचनाओं से नहीं, बल्कि उन रचनाओं को एक तात्कालिक और प्रवृत्तिमूलक अर्थ देने वाले उन आन्दोलनात्मक प्रयासों से अधिक सम्बन्ध रखता है, जो बिखरे प्रयत्नों को जाने-अनजाने एक सामूहिक प्रयास का रूप दे देते हैं। आवश्यक नहीं कि उसमें भाग लेने वाला प्रत्येक रचनाकार अनिवार्यतः उस तात्कालिक अर्थवत्ता या प्रवृत्ति का पोषक हो ही। परन्तु एक सीमा के बाद इतिहास की शक्तियाँ उसकी कल्पनात्मक शक्ति पर इस प्रकार हावी हो जाती हैं कि वह उस वृहत्तर सामूहिक प्रयास का अंग बनने के लिए अभिशप्त होता है। निस्सन्देह एक श्रेष्ठ मौलिक कवि की शक्ति की पहचान आगे चलकर इसी बात से की जाएगी कि वह अपने समय की रचना के सामूहिक व्यक्तित्व से किस हद तक अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने में समर्थ हो सका है। पर सचाई यह है कि यह विरोधपूर्ण स्थिति एक आधुनिक रचनाकार के आत्म-विकास की एक अनिवार्य प्रक्रिया बन गई है और यदि वह अपनी चेतना को इस विरोध के दबाव से खण्डित होने से बचा ले जाए तो 'सामूहिक व्यक्तित्व' और रचनात्मक स्वतन्त्रता के बीच का यह द्वन्द्व उसके कृतित्व को एक शक्ति ही प्रदान करता है। मुक्तिबोध का काव्य इस द्वन्द्व की तीव्रता का सबसे ज्वलन्त प्रमाण है।

आज इतने लम्बे अन्तराल के बाद 'तारसप्तक' की

कविताओं को पढ़ने पर कई तरह की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। कवियों के नए वक्तव्य और बाद की कुछ रचनाओं को 'पुनश्च' के अन्तर्गत देकर समय के इस अन्तराल को भरने की कोशिश ज़रूर की गई है। पर इससे केवल कवियों के व्यक्तिगत विकास पर ही थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ता है। 'तारसप्तक' के सामूहिक व्यक्तित्व का विकास तो पूरी नई हिन्दी कविता के विकास के सन्दर्भ में ही देखा जा सकता है। इस दृष्टि से देखें तो उसका प्रभाव परवर्ती हिन्दी कविता पर निश्चित रूप से पड़ा है। पर विडम्बना यह है कि उसमें प्रकाशित रचनाओं की अपेक्षा उसकी भूमिका और उसके वक्तव्यों का प्रभाव शायद ज़्यादा निर्णायक सिद्ध हुआ है। इसका एक कारण तो यह है कि कविताओं की अपेक्षा वक्तव्यों की भाषा अधिक साफ़ रही है और उनमें नई वास्तविकताओं के प्रति कवियों की तात्कालिक प्रतिक्रिया का अधिक स्पष्ट और निश्चित प्रमाण मिलता है। यहाँ तक कि कुछ कवियों ने अपने राजनीतिक आग्रहों को भी साहसपूर्वक सामने रखा है। दृष्टि का यह खुलापन 'तारसप्तक' के स्वरूप की एक बहुत बड़ी विशेषता है। अन्य दो सप्तकों में यह 'खुलापन' कम होता गया है। पर बाद में जो कुछ हुआ, उसके बीज निस्संदेह 'तारसप्तक' में मौजूद थे। उसने शुरू में ही 'प्रयोग' के क्षेत्र को साहित्य अथवा कला के क्षेत्र तक सीमित कर दिया था। अतः यह हिन्दी कविता का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि उसे आधुनिकता के आरम्भिक बिन्दु पर 'सुर्रियलिज़्म' या 'दादावाद' जैसा कोई क्रांतिकारी आन्दोलन नहीं, बल्कि 'तारसप्तक' के रूप में, नवीन परिवर्तनों से विक्षुब्ध संवेदना और नई सौंदर्य-दृष्टि का एक ऐसा प्रवक्ता मिला, जिसके भीतर नए सन्दर्भों से सम्पृक्त होने की रागात्मक क्षमता तो थी, पर उसके भीतर से उभरने वाले प्रश्नों का साक्षात्कार करने का 'ऐतिहासिक' साहस नहीं। यह आकस्मिक नहीं कि आज की एकदम नई पीढ़ी सन् '६० से पहले की कविता का विरोध करते हुए इस 'साहस' नामक मूल्य पर सबसे अधिक बल देती है।

जहाँ तक 'तारसप्तक' की कविताओं का प्रश्न है, उनमें आज की कुछ स्थितियों का पूर्वाभास या पूर्वछाया चाहे मिल जाती है, परन्तु अनुभव और सम्प्रेषण की वह ताज़गी नहीं, मिलती जो आज के पाठक के भीतर संवेदना के नए स्तरों को खोल सके। वस्तुतः 'तारसप्तक' से इस बात की माँग करना भी एक प्रकार की ज़्यादती होगी। उसका पहला प्रयास हिन्दी काव्य-भाषा की नई सम्भावनाओं की खोज की दिशा में था और इसमें सन्देह नहीं कि उसने तुलना-मूलक अलंकारों के स्थान पर बृहत्तर अर्थों को प्रतिध्वनित करने वाले स्वतःस्फूर्त प्रतीकों और आधुनिक जीवन के संकेतों के प्रयोग द्वारा पहली बार भाषा को आज के वस्तुगत संदर्भ से जोड़ने की कोशिश की। इस दिशा में मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर और 'अज्ञेय' की भाषा का अध्ययन अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। मुक्तिबोध की भाषा की आधुनिकता पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। पर आगे चलकर 'अकेलेपन' की भयानकता की जो अनुभूति सन् '६० के आसपास या उसके बाद की कविता में प्रमुख रूप से व्यक्त हुई, उसे मुक्तिबोध ने बहुत पहले 'एकाकीपन का लौहवस्त्र' के रूप में अनुभव किया था। उनकी बाद की कविताओं में जो एक नाटक का-सा गुम्फित परिवेश मिलता है, उसकी पूर्वछाया भी 'तारसप्तक' की कुछ कविताओं में देखी जा सकती है। अपने नए वक्तव्य में उन्होंने 'व्यक्ति के व्यवसायीकरण' की जो बात कही है, उसके आन्तरिक दबाव का प्रभाव शायद सबसे अधिक उन्हीं की कविता पर पड़ा है। अपने अन्य समकालीन कवियों की परिधि से मुक्तिबोध का काव्य यदि कुछ अलग या कटा हुआ-सा दिखाई पड़ता है तो इसलिए कि उन्होंने सृजन के स्तर पर कला के संघर्ष को अस्तित्व के संघर्ष से एकाकार कर लिया था। आज का नया रचनाकार उनके काव्य के इस पक्ष को नई काव्यात्मक मान्यताओं के अधिक अनुकूल पाता है। नए कवियों के बीच मुक्तिबोध की बढ़ती हुई लोकप्रियता का कारण भी शायद यही है।

माथुर और 'अज्ञेय' के वक्तव्यों के आलोक में यदि उनकी नई-पुरानी कविताओं का अध्ययन किया जाए तो कुछ रोचक तथ्य सामने आ सकते हैं। दोनों ही कवियों की कविताएँ शिल्प की दृष्टि से ज़्यादा साफ़ और एक हद तक, अपने आसपास के जीवन के प्रति 'सतर्क' दिखाई पड़ती हैं। निश्चित रूप से उनकी काव्यात्मक प्रतिक्रियाएँ आज उतनी ताज़ा नहीं लगतीं—माथुर की रूमानी कविताओं के सन्दर्भ में यह बात कुछ ज़्यादा ही सच साबित होती है। इसके बहुत-से कारण हो सकते हैं, पर एक सीधा और शायद महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि ये कविताएँ अधिकतर 'आत्मग्रस्त' (यह शब्द मुक्तिबोध का है) हैं और इनकी 'आत्मग्रस्तता' अपनी

तात्कालिकता का अतिक्रमण नहीं कर पाती। एक विचित्र बात यह है कि जहाँ इस संग्रह के ज़्यादातर कवियों ने अपनी मान्यताओं के पुन परीक्षण में अपने को आज की अपेक्षाकृत अधिक आसन्न समस्याओं तक ही सीमित रखा है वहाँ माथुर और 'अज्ञेय' ने परम्परा और आधुनिकता-जैसे बुनियादी प्रश्नों को भी नए सिरे से उठाने का प्रयास किया है। इससे भी विलक्षण बात यह है कि इन दोनों ही कवियों ने कहीं-न-कहीं 'आधुनिकता' को 'भारतीय संस्कृति' अथवा 'भारत की परम्परा' से जोड़ने की अनिवार्यता भी अनुभव की है। माथुर ने अपनी बाद की कविताओं में विकसित होने वाली एक विशेष प्रकार की 'कास्मिक चेतना' की बात कही है और यह निष्कर्ष निकाला है कि यह "भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि के साथ आधुनिक वैज्ञानिकता के सम्बद्ध होने का उदाहरण है।" आज के पाठक को यह बात छायावादियों की उस चक्करदार कोशिश की तरह लग सकती है, जिसके चलते उन्होंने अपनी सीधी और सच्ची आत्म-प्रसार की भावना को उपनिषदों के सर्वात्मवाद के साथ सम्बद्ध कर लिया था। इतिहास का पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ना अच्छी बात है और यह प्रक्रिया स्वयं इतिहास की द्वन्द्वमूलक प्रकृति के विरुद्ध भी नहीं पड़ती। परन्तु इस प्रकार के सम्बन्ध-सूत्रों की खोज ठोस ऐतिहासिक आधार पर ही होनी चाहिए। 'पुनश्च' के अन्तर्गत माथुर के 'पृथ्वीकल्प' नामक काव्य का एक अंश भी है जो सूक्ष्म कास्मिक तरंगों की लय, गति और वर्ण की व्याख्या करने वाली टिप्पणियों के साथ प्रकाशित हुआ है। यदि ऐन्द्रिय प्रत्यक्षीकरण एक सच्ची और सफल कविता का अनिवार्य गुण है तो अमूर्त कास्मिक तरंगों की व्याख्या करने वाली इस कविता के सम्बन्ध में कुछ बुनियादी प्रश्न पाठक के मन में उठ खड़े होते हैं और फिर वह सारा कास्मिक ढाँचा ही अग्राह्य और अकल्पनीय हो उठता है। वस्तुतः उनकी आरम्भिक कविताओं में जो रूमानियत मिलती है,'पृथ्वीकल्प' ने उसकी इतिहास-निरपेक्ष अमूर्तता को अपनी तार्किक परिणतियों तक पहुँचा दिया है।

'अज्ञेय' की पुरानी कविताएँ आज भी, अपनी अभिव्यक्ति-सम्बन्धी विशिष्टता के कारण, एक हल्की 'नास्टेल्जिया' की-सी भावना के साथ पढ़ी जा सकती हैं—हालाँकि उनमें ऐसे तत्त्वों का अभाव है जो आज के वृहत्तर यथार्थ को समझने में एक नए रचनाकार की सहायता कर सकें। 'तारसप्तक' की जब भी आलोचना की गई है तो आलोचक का ध्यान अन्य संगृहीत कवियों के विचारों और कृतियों की अपेक्षा 'अज्ञेय' के वक्तव्य और कविताओं पर अधिक केन्द्रित रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि अन्य सभी कवियों की अपेक्षा 'अज्ञेय' के काव्य और चिन्तन की भाषा आधुनिक मुहावरे के सबसे अधिक निकट पड़ती है और एक समर्थ गद्यकार होने के नाते उन्होंने तत्कालीन काव्य की समस्याओं को अधिक निश्चित और प्रौढ़ अभिव्यक्ति भी दी है। इसी के चलते उनका वक्तव्य काफी समय तक नई हिन्दी कविता का घोषणा-पत्र-सा माना जाता रहा है। पर नए संस्करण की भूमिका में उन्होंने एक हल्के आत्मतोष के साथ यह स्वीकार किया है कि 'बीस वर्ष पहले तार सप्तक में अपने वक्तव्य के रूप में जो कुछ मैंने लिखा था, उसमें से कुछ भी वापस लेना आवश्यक नहीं है।' उनके इधर के काव्य-विकास को देखकर लगता है कि यह रचनात्मक आत्मतोष का भाव धीरे-धीरे उनकी स्थायी मनोदशा का सूचक बनता जा रहा है। 'आँगन के पार द्वार' की रचनाओं में जो एक निर्वेद की-सी गहन स्थिति पाई जाती है, उसके समानान्तर यदि 'तारसप्तक' की कविताओं को रखकर देखा जाए तो लगेगा कि यह विकास आकस्मिक नहीं है। बदलते हुए मानवीय इतिहास के भीतर किसी 'शान्त' और 'स्थिर' बिन्दु को खोजने और उस तक पहुँचने की कोशिश उनकी आरम्भिक कविताओं में भी दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि उन्हें काव्य अथवा जीवन के प्रश्न शाश्वत लगते हैं। इस प्रकार वे मानवीय शान्ति और स्थिरता की खोज करते-करते 'शाश्वत' की सीमा छूने लगते हैं। उनकी कविता पर इस स्थिति का प्रभाव यह पड़ा है कि वह धीरे-धीरे अपने समकालीन परिवेश से कटकर अमूर्तता की ओर बढ़ती गई है। उनकी शुरू की कविताओं में यह अमूर्त्तता संवेदना की प्रखरता और तीव्र ऐन्द्रियबोध के कारण उतनी स्पष्ट नहीं थी। 'तारसप्तक' की पुरानी कविताओं में यह तीव्रता खासतौर पर पाई जाती है। इधर नई पीढ़ी के कवियों ने 'अज्ञेय' के विरुद्ध जो तीव्र प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं, उनका लक्ष्य 'तारसप्तक-कालीन कविताएँ नहीं, बल्कि उनकी वे बाद वाली कविताएँ हैं जिनसे समकालीन परिवेश धीरे-धीरे गायब होता गया है। अब शायद 'तारसप्तक' का मूल्यांकन करना ज़्यादा आसान हो गया है, क्योंकि इस

संस्करण तक आते-आते कवि-अज्ञेय और सम्पादक-अज्ञेय का अलगाव बहुत साफ हो गया है।

नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल और प्रभाकर माचवे तो 'तारसप्तक' की मुख्यधारा के अन्तर्गत रहे हैं, पर रामविलास शर्मा का इस संकलन में सम्मिलित होना कुछ लोगों को विचित्र और एक हद तक विरोधाभासपूर्ण लगता रहा है। लेकिन मुझे वे अपनी जगह अनिवार्य-से लगते हैं। हर विकसित भाषा के काव्य में आधुनिकता के साथ-साथ कभी उसकी प्रतिक्रिया और अक्सर उसके पूरक के रूप में एक ऐसी प्रवृत्ति का भी विकास देखा गया है, जिसका रुख नागरिक परिवेश से हटकर, जन-जीवन की स्थानिक विशेषताओं की ओर अधिक केन्द्रित रहा है। आधुनिक अमरीकी कविता में कार्ल सैण्ड बर्ग, एडगर ली मास्टर्स और रावर्ट-फ्रास्ट की कविताओं में यह प्रवृत्ति अपनी चरम परिणति तक पहुँच चुकी है। आधुनिक हिन्दी-कविता के विकास में रामविलासजी की ये कविताएँ मुझे उसी ऐतिहासिक 'रिक्तता' को भरती-सी लगती हैं और इस दृष्टि से उनमें से अधिकांश मुझे आज भी 'तारसप्तक' की दूसरी बहुत-सी कविताओं से ज्यादा ताजा और अर्थपूर्ण जान पड़ती हैं।

नेमिचन्द्र जैन और भारतभूषण अग्रवाल की कविताएँ आज के पाठक को शायद उतनी नई न लगें। परन्तु ये दोनों ही कवि काव्य तथा जीवन-सम्बन्धी अपनी मान्यताओं में औरों की अपेक्षा अधिक खुले दिखाई देते हैं। नेमिजी का नया वक्तव्य कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को उठाता है और सप्तक-परम्परा में आने वाले अनेक कवियों की दबी हुई भावनाओं और आक्रोश को व्यक्त करता है। आश्चर्य तो यह है कि उनका संयत आक्रोश नई पीढ़ी के क्षोभ और उत्तेजना का पूर्वाभास-सा लगता है। यह आकस्मिक नहीं है कि इस संस्करण के नए वक्तव्यों में सबसे अधिक प्रतिक्रिया उन्हीं के निबन्ध की हुई है। भारतभूषण ने अपने पूर्ववर्तियों को चुनने में अधिक सतर्कता से काम लिया है। इसी के चलते वे अपनी काव्य-दृष्टि को छायावादियों की अपेक्षा पुनरुत्थानकालीन कवियों के अधिक निकट पाते हैं। आधुनिक इतिहास की क्षिप्र दानवीय शक्ति के साथ अपने को उखड़ते और पुनः जोड़ते चलने की पीड़ा को वे अच्छी तरह जानते हैं और इसलिए जब वे कहते हैं कि "नई परिस्थिति से संवेदना का सूत्र मिलाते-न-मिलाते परिस्थिति बदल जाती है" तो इसे एक आधुनिक वयस्क कवि के उस ईमानदारी-भरे सृजनात्मक संघर्ष का ही सूचक मानना चाहिए, जो उसे अपने-आपको निरन्तर 'आधुनिक' बनाए रखने के लिए करना पड़ता है। इस दृष्टि से उनकी बाद की कुछ कविताओं का अध्ययन रोचक हो सकता है।

मुझे नई कविता और विशेषतः नई पीढ़ी के कवियों के बीच माचवे की स्थिति बहुत-कुछ वैसी ही लगती रही है, जैसी अंग्रेज़ी की नई पीढ़ी के 'मूवमेंटी' कवियों के बीच विलियम एम्पसन की। ये दोनों ही मूलधारा से कुछ अलग पड़ने वाले और व्यंग्य, विडम्बना तथा शाब्दिक विरोधों का भरपूर उपयोग करने वाले कवि हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि कुछ दिनों पूर्व नई पीढ़ी के कुछ कवियों ने माचवे की कविता के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया था। उनके काव्य में जो एक स्थितियों का हलका-फुलकापन और काव्य के बुनियादी ढाँचे के साथ रचनात्मक खिलवाड़ का-सा भाव है, वह नई पीढ़ी की काव्यात्मक मनोदशा के अधिक निकट पड़ता है। माचवे की कविताएँ (तारसप्तक और उसके बाद की भी) यदि आज भी पढ़ी जा सकती हैं तो इसी संदर्भ में। वे शायद इस संकलन के अकेले ऐसे कवि हैं, जिसने अपने नए वक्तव्य में भी "ताजी प्रज्ञा के साथ नित्य-नूतन नव-नवीन प्रयोगशीलता" को आज भी महत्त्वपूर्ण और आवश्यक माना है।

कुल मिलाकर 'तारसप्तक' का नया परिवर्द्धित संस्करण आज से दो दशक पूर्व लिखी गई कविताओं की ऐतिहासिकता के पुनर्मूल्यांकन का अवसर ही नहीं प्रदान करता, बल्कि अपने आलोक में बीच के सम्पूर्ण विकास को फिर से देखने और समझने की चुनौती भी देता है। इस दृष्टि से वह निश्चित रूप से एक 'ऐतिहासिक दस्तावेज को उपलभ्य' बनाने से ज़्यादा महत्त्व रखता है और इन चौबीस वर्षों के बाद यदि सम्पादक एक गहरे आत्मतोष के साथ यह घोषित करता है कि "तारसप्तक ने अपने प्रकाशन का औचित्य प्रमाणित कर लिया" तो उस पर चकित होने या संदेह व्यक्त करने का कोई कारण नहीं।

●

मूल्यांकन

फूल नहीं रंग बोलते हैं

शमशेरबहादुर सिंह

पौने दो साल हो गए केदार के प्रतिनिधि संकलन 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' को निकले और सुनता हूँ अभी तक उसकी कोई रिव्यू कहीं नहीं निकली, न कोई चर्चा कहीं हुई। केदार के पहले दो संग्रह—'नींद के बादल' और 'युग की गंगा' सन् '४५-'४६ में प्रकाशित हुए थे, और तीसरा 'लोक औरआलोक' सन् '५६ में। केदार सन् '३० से भी पहले से लिखरहे हैं।

नाम गिनाने के लिए आज तक प्रगतिशील धारा के जिन दो प्रमुख कवियों का उल्लेख सबसे पहले किया जाता रहा है वह यही हैं केदार और नागार्जुन। कभी-कभी त्रिलोचन का भी तीसरा नाम इनके साथ जोड़ दिया जाता रहा है। चौथा नाम पिछले दो-तीन वर्षों से मुक्तिबोध का शामिल हो गया है। मगर मुझे वास्तव में नहीं मालूम कि इन चारों में से किसी पर भी कोई अच्छा गम्भीर लेख आज तक लिखा गया। छिट-पुट तौर से निबन्धों में एकाध पैरा में ज़िक्र कभी-कभार ज़रूर हुआ है; उसके आगे कुछ नहीं। सन् '४३, या सन् '५० या सन् '६० के बाद से लिखने वाले अनेक छोटे-बड़े कवियों पर बार-बार कुछ-न-कुछ लिखा जाता रहा, उन पर बहसें भी उठाई जाती रहीं, और यह बहुत अच्छा हुआ; मगर उपरोक्त चारों कवियों को प्रमुख प्रगतिशील कवि मान लेने के आगे उन पर कभी कोई गम्भीर विचार नहीं किया गया आज तक !

इस स्थिति की तह में क्या कारण हो सकते हैं ? थोड़ा-सा इस पर विचार कर लेना क्या समीचीन न होगा ?

प्रगतिशील साहित्य आंदोलन का विरोध अँग्रेज़ी और उसके उत्तराधिकारी पूँजीवादी शासक वर्ग के लिए स्वाभाविक ही था – और है। अतः उस वर्ग के लिए भी यह विरोध स्वभावतः अनिवार्य हुआ जिसके स्वार्थ शासक-वर्ग से चिपके हुए थे और हैं यानी नौकरीपेशा मध्य वर्ग, और साहूकारी सभ्यता का दास मध्यवर्ग। कांग्रेस संस्था से प्रगतिशील तत्त्वों के अलग होने के बाद (सन् '४५ से यह क्रम आरम्भ हुआ), दक्षिणपंथी कांग्रेस जनों के प्रभाव-क्षेत्र में भी प्रगतिशील विचारों के प्रति शंकाएँ उठना-उठाना स्वाभाविक हो चला। इसके अलावा, पाँचवें दशक के अंत में कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीतिक ग़लतियों और कमज़ोरियों के कारण, वे प्रगतिशील तत्त्व भी जो उससे प्रेरणा प्राप्त करते थे तेज़ी से बिखरने लगे। इस बिखराव और आंतरिक ह्रास के कारण समाजवादी विचारधारा का विरोध प्रतिक्रियावादी शक्तियों के लिए और भी आसान हो गया।

हिन्दी-भाषा भाषी क्षेत्र के अनेक भागों में साम्प्रदायिक मध्ययुगीन मूल्य और नवोत्थानवादी विचार नौकरीपेशा भीरु-नागर बाबू-संस्कृति को और भी संकुचित करते जा रहे थे। इस स्थिति की अनुकूलता में रूस और कम्युनिज़्म का हौवा खड़ा करके और अमरीका को व्यक्ति की स्वतंत्रता का मसीहा और 'आज़ाद' देशों का नेता और त्राता मानकर पुरानी-नई पूँजीवादी पत्र-पत्रिकाएँ धीरे-धीरे मध्यवर्ग (विशेषकर निम्न-मध्य वर्ग) की प्रायः अर्धशिक्षित जनता का सामूहिक मनोबल खोखला कर रही थीं। राष्ट्रीय आदर्शों के मान गिर रहे थे। भ्रष्टाचार बढ़ रहा था। ऐसे वातावरण में—'मेरा व्यक्ति ही सब-कुछ है, समाज कुछ नहीं' अथवा 'मेरे एकाकी व्यक्ति के बाहर सब-कुछ विसंगत है' की 'आउट साइडर'-वाली भावना, अथवा 'क्षण की उत्तेजना में ही जीवन और कला की चरम सफलता है'···जैसे दृष्टिकोणों ने व्यक्तित्वहीन साहित्यकारों के लिए बहुत तेज़ अफ़ीम या ठर्रे का काम किया। संप्रति हम इसी दौर से गुज़र रहे हैं।

बंगला, उर्दू, मराठी, मलयालम, पंजाबी और कश्मीरी

'फूल नहीं, रंग बोलते हैं', लेखक केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या २००, मूल्य : ६.५०

भाषाओं में समाजवादी विचारधारा ने प्रगतिशील साहित्य की रीढ़ बहुत हद तक मज़बूत की थी। मगर हिन्दी का प्रगतिशील साहित्य आंदोलन सन् '३७-३८ से लेकर लगभग '५२ तक अपना जैसा-तैसा रोल पूरा करके खासा निःशक्त हो गया। इस आंदोलन में पंत, निराला, नरेन्द्र, सुमन और कुछ लोक-कवियों के बाद जो चार कवि दृढ़ता से बराबर जनता के मनोबल में विश्वास रखते हुए अपना नाता उसकी आंतरिक रचनाशील शक्तियों से जोड़े रहे, वे मात्र केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, मुक्तिबोध और नागार्जुन थे। शेष सभी कवि व्यक्तिगत साधनाओं की ओर उन्मुख होकर साहित्य की प्रगतिशील धारा के लिए खो गए।

ऐसे माहौल में किन कवियों को मान्यता मिल सकती थी, सहज ही अनुमान किया जा सकता है। क्या ऐसे माहौल में केदार की चर्चा होती या त्रिलोचन की? इससे लाभ किसका था! एक अन्य कारण, जो बुनियादी नहीं है, इन कवियों का गहरा स्वाभिमान भी है। इन्होंने बड़े-बड़े आलोचकों, संपादकों, प्रकाशकों और रेडियो आदि सरकारी संस्थाओं की उसी प्रकार उपेक्षा की जिस प्रकार बड़े-बड़े आलोचकों, संपादकों, प्रकाशकों और सरकारी संस्थाओं ने इनकी की।

इनके साहित्य का उद्देश्य था : वर्ग-संघर्ष के सामाजिक मर्म को उघारते जाना। बस इसी को पूरा करने में, एक अजब खामोश आन के साथ, इन्होंने अपने-आपको पूरी तरह खपा दिया।

एक छोटा-सा सवाल यहाँ उठता है। पाठकों के साथ सीधे संपर्क-माध्यमों की अपनी ओर से उपेक्षा—क्या इसमें एक प्रकार के रोमानी अहंवाद का लेश नहीं मिलता? बात यह है कि हिन्दी प्रगतिशील कवियों ने मुख्यतया अपने को निरालाजी की परम्पराओं से जोड़ा। इसी स्रोत से रोमानी आदर्शवाद हमारे कवियों के मार्क्सवादी दृष्टिकोण में चुपके-चुपके आ मिला। अतः मेरी दृष्टि में दृष्टिकोण की वैज्ञानिक आधुनिकता संदिग्ध हो जाती है। यह माना कि कविता विज्ञान नहीं है। मगर उसे आधुनिक युग का तो फिर भी होना ही है। कठिनाई आलोचक की नहीं, कवि की है। इस समस्या को भी आलोचक नहीं, कवि ही सुलझाएगा। इन कवियों को अच्छी तरह ज्ञात है और वे आश्वस्त हैं कि इनके भी अपने पाठक सभी हिन्दी प्रदेशों में मौजूद हैं। पत्रिकाओं में इनकी चर्चा हो न हो। मौन और गम्भीर, सजग पाठक; उन्हें इनकी भावनाओं और विचारों तथा इनकी आन और टेक में वह कुछ मिलता है जो उनके अन्य समकालीनों और बाद के कवियों में नहीं मिलता।

दरअसल हमारी खड़ी बोली का पूरा साहित्य बाबू-संस्कृति की देन है और हमारी आज़ादी भी। यद्यपि यह आज़ादी हमें कभी प्राप्त न होती अगर देश का किसान और मज़दूर मध्यवर्गी नेताओं का साथ न देता। उसके घोषित आदर्शों में विश्वास करके संघर्ष में उसके साथ न जूझता। मगर आज़ादी के बाद अब बाबू-संस्कृति की असली हकीकत, उसके आदर्शों की ढोल की पोल साफ़ खुल गई है। पिछले 'एक्लेशन' के बाद तो और भी।

इस नागर बाबू-संस्कृति के हम सहज ही दो भेद कर सकते हैं। एक वह जो अपेक्षाकृत 'स्वाधीन' जीवन-यापन करते हैं, जैसे, वकील-डॉक्टर, बड़े-छोटे व्यापारी, भूमिधर, प्रकाशक, कोई इक्का-दुक्का लेखक-कलाकार। दूसरे, वह जो संस्थाओं या संस्थानों (सरकारी या प्राइवेट) के अधीन जीवन-यापन करते हैं; सरकारी नौकर, अध्यापक वर्ग, संपादक, पत्रकार; अधिकांश लेखक-मैनेजर, एजेंट, मुनीम-गुमाश्ता, दलाल, क्लर्क आदि।

जनता इन सबको 'साहब', 'बाबू साहब', 'बाबूजी' या केवल 'बाबू' कहकर सम्बोधन करती है। कितना स्वाभाविक है और उपयुक्त भी। हमारे सांस्कृतिक समारोहों के प्रतिनिधि किसान या मज़दूर तब कैसे नहीं आते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में भी देखिए, किनके फोटो बिखरे हुए हैं। आज किसान-पुत्र भी 'बाबू' ही होने की 'महत्वाकांक्षा' रखता है।

लेखकों में बहुत थोड़े निकलेंगे जो अपनी बाबू संस्कृति की दयनीय सीमाओं की वास्तविक चेतना रखते हों। केदारनाथ अग्रवाल निश्चय ही उन थोड़े-से लेखकों में हैं। वह वकील हैं, यानी 'बाबू साहब' हैं मगर 'बाबू साहब' और 'बाबूजी' की यथार्थ स्थितियों से बखूबी परिचित हैं।

दयालु हो गया है दीन
　　　　दान देते-देते
दीन हो गया है क्षीण
　　　　दान लेते-लेते
असह्य है यह व्यवस्था
　　　　दयालु और दीन की मर्म-कथा!

वेतन उड़ जाता है।
जैसे गंध कपूर।

वह औद्योगिक नगर की बुनियाद, गाँव के महाजन की हक़ीक़त, बिके हुए बुद्धवादी की हार, ऊब और विघटन, भूखे किसान के बेटे की पैतृक सम्पत्ति और बुंदेलखण्ड के दैनंदिन जीवन का नक़्शा अच्छी तरह पहचानते हैं। मसलन्—

धोबी गया घाट पर,
राही गया बाट पर,
मैं न गया घाट और बाट पर,
बैठा रहा हाट पर,
दोनों हाथ काट कर,
जीता रहा ओस चाट-चाटकर।

पैतृक सम्पत्ति

जब बाप मरा तब यह पाया
भूखे किसान के बेटे ने;
घर का मलबा, टूटी खटिया,
कुछ हाथ भूमि—वह भी परती।
चमरौधे जूते का तल्ला,
छोटी, टूटी बुढ़िया औंगी,
दर की गोरस, बहता हुक्का,
लोहे की पत्ती का चिमटा।
कंचन सुमेर का प्रतियोगी
द्वारे का पर्वत घूरे का
बस यही नहीं, जो भूख मिली
सौगुनी बाप से अधिक मिली।
अब पेट खलाए फिरता है,
चौड़ा मुँह बाये फिरता है।
सबसे आगे
हम हैं
पाँव दुखाने में;
सबसे पीछे
हम हैं
पाँव पुजाने में;
सबसे ऊपर
हम हैं
व्योम झुकाने में;
सबसे नीचे
हम हैं
नींव उठाने में।

केदार मध्यवर्ग की जाति-पाँति, धर्म-गोत्र और वर्ग-विभाजित संस्कृति की दारुण दशा से परिचित हैं। आज नागर मध्यवर्ग का बहुत बड़ा हिस्सा अंधी गलियों में ही अपनी अर्द्ध-चेतना में किलबिला रहा है। उससे बाहर आने की उसमें वैज्ञानिक प्रेरणा नहीं है, न साहस। आज वह अपने खोखलेपन, ऊब और आत्मप्रताड़ना आदि के ही मुक्तछन्द सुनाने को विवश है। आज के साहित्य की नकारात्मक नैराश्य-पूर्ण फ़िज़ा में केदार का स्वर एक ऐसे सजग मध्यवर्गी बुद्धि-जीवी का है जिसे श्रम से, कर्मठता से, किसान और श्रमिक की अंततोगत्वा एकजूट जीवंतता से—जो प्रकृत्या कभी हार मानना नहीं जानती; और साथ ही शक्तिगर्भा प्रकृति के सौंदर्य, नैकट्य और बन्धुत्व से—और इन सबसे उपलब्ध अपने दुर्दमनीय आशावाद से मर्दानावार जीने की प्रेरणा ले रहा है, और दूसरों को दे रहा है। इसी जिंस की आज हमें कितनी आवश्यकता है, और वह कितनी कम उपलब्ध है।

: २ :

केदार बुनियादी तौर पर एक 'नार्मल' रोमानी कवि हैं, छायावादी–रोमानी नहीं। शायद इसीलिए छायावादोत्तर काल में वह शीघ्र ही प्रगतिशील, और फिर मार्क्सवादी विचारधारा के कवि हो गए। अल्पकाल के लिए नहीं, बल्कि स्थायी रूप से। उनकी कवि-भावनाओं की रेख छायावादी इलाहाबाद में नहीं फूटी।

छायावाद के चौराहे पर आने से पहले वह द्विवेदी-कालीन उस आखिरी लीक पर कुछ थोड़ी-सी दूर चल आए थे, जिस पर श्रीधर पाठक के सैलानी प्रकृति-प्रेम के स्वर और कानपुर की यथार्थ-प्रिय अल्हड़ मस्ती के रंग अभी बहुत हल्के नहीं पड़े थे—सन् '३० के आसपास। उनके बांदा के ही कवि-कहानीकार मित्र ठा० वीरेश्वरसिंह का उनका साथ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में उन्हीं दिनों तीन-चार साल रहा; वह प्रेमचन्द के भक्त थे और कविता में सीधी-सजीव शैली पसन्द करते थे। ठा० वीरेश्वरसिंह की मौसी सुभद्राकुमारी चौहान 'मुकुल' लेकर तब कवि-रूप में सामने आई-आई थीं, और काफी सुथरा और सजीव उनका नया-नया काव्य था। और उनकी भी पृष्ठभूमि बुंदेलखण्ड की ही थी, जिसके

प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण केदार ने भी नवीन कुशलता से बार-बार किया है।

सन् '३०-३१ से पहले ही लखनऊ की माधुरी में उनके छोटे-छोटे गीत (जैसे : धीरे उठाओ मेरी पालकी) बराबर छप रहे थे। इण्टर-बी० ए० के विद्यार्थी के लिए यह कुछ कम गौरव की बात न थी। केदार की प्रतिभा की एक विशेषता रही है सहज सजगता। अपने लिए सही रास्ता चुनने में वह कभी नहीं गड़बड़ाए। स्वस्थ रोमान की जवान रंगीनी : मुझे याद है होस्टल के दिनों में अपनी पत्नी पर एक लम्बी कविता उन्होंने लिखी थी। इसके कुछ ही साल बाद की उनकी कविताएँ ('चन्द्र गहना से लौटती बेर' और बसन्ती हवा' जो उनके प्रतिनिधि संकलन के आरम्भ में ही हैं) आज भी वही मस्ती और ताजगी लिये हुए हैं; प्रकृति—और समाज के भी—आईने में जब वह सौन्दर्य के दर्शन करते हैं (नैसर्गिक या श्रमसंपुष्ट), तो वह उसमें उसी तरह मगन हो जाते हैं जैसे तैराक नदी में कूदकर या परिन्दे हवा में नाचकर। केदार के इस उत्साह और आनन्द में हम सदैव एक सहज अनारोपित मर्यादा का अनुभव करते हैं। यह केदार का बहुत प्रसिद्ध प्रकृति-चित्रण है :—

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना,
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का,
सजकर खड़ा है।
पास ही मिलकर उगी है
बीच में अलसी हठीली
देह की पतली, कमर की है लचीली,
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ाकर
कह रही है, जो छुए यह
दूँ हृदय का दान उसको।
और सरसों की न पूछो—
हो गई सबसे सयानी,
हाथ पीले कर लिए हैं,
ब्याह-मण्डप में पधारी;
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे।
देखता हूँ मैं : स्वयंवर हो रहा है,
प्रकृति का अनुराग अंचल हिल रहा है
इस विजन में
दूर व्यापारिक नगर से
प्रेम की प्रिय भूमि उपजाऊ अधिक है।...

(चन्द्र गहना से लौटती बेर)

इसी तरह की ताज़गी लिए हुए पंक्तियाँ ये भी हैं, जो बीस-बाईस साल बाद की अनुभूति :

धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने
मैके में आई बेटी की तरह मगन है
फूली सरसों की छाती से लिपट गई है
जैसे दो हमजोली सखियाँ गले मिली हैं
भैया की बाँहों से छूटी भौजाई-सी
लहँगे को लहराती लचती हवा चली है
सारंगी बजती है खेतों की गोदी में
दल के दल पक्षी उड़ते हैं मीठे स्वर के... (धूप)

मैं नहीं जानता कि डॉ० रामविलास शर्मा से केदार का सम्पर्क पहले-पहले कब हुआ। मगर सन् '३८ के आसपास नरोत्तम नागर ने जब जैनेन्द्र-विरोधी, गांधीवाद-विरोधी और छायावाद विरोधी (मगर-निराला-समर्थक) 'उच्छृङ्खल' निकाला, तो उसके सहयोगी लेखकों में ये दोनों भी थे। पंतजी ने तभी प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन के आरम्भ के साथ-साथ करवट ली थी। उसका असर और कवियों पर भी पड़ रहा था जिनमें नरेन्द्र मुख्य थे। सन् '३९ में पंतजी ने नरेन्द्र शर्मा के साथ मिलकर 'रूपाभ' मासिक निकाला था। ग्राम्या की यथार्थवादी कविताएँ जब 'रूपाभ' में निकलीं, तो केदार की भी 'वसन्ती हवा' उसमें प्रकाशित हुई। आज भी वह वैसी ही ताज़ी, उत्फुल्ल, चुहल-भरी और मस्त लगती है।

काव्योचित दीक्षा ग्रहण करने के लिए आरम्भ से ही यह युवक कवि नए पत्ते के निराला की ओर गया; और सीधे उन अँग्रेज़ी रोमानी कवियों की ओर जिनसे स्वयं पंतजी ने अपने शिल्प के कुछ गुर सीखे थे : कीट्स और वर्ड्सवर्थ। बाद में डॉ० रामविलास ने अपने कवि-मित्र के लिए कीट्स को रेखांकित करते हुए भी, कालिदास और विशेष रूप से बाल्मीकि की ओर उसे उन्मुख किया। इनके प्रभाव केदार की सन् पचपन के बाद की कविताओं में यत्र तत्र विशेष रूप से अनुभव किए जा सकते हैं।

विशेष रूप से प्रकृति-चित्रण में पश्चिम के कुछ आधुनिक

कवियों से भी उन्होंने अपना कुछ-न-कुछ सम्बन्ध रखा है। सन् '५२ में नेरूदा की लम्बी कविता 'Let the Rail Splitters Awake' का अनुवाद किया था। दो अनुवाद उनके प्रतिनिधि संकलन में भी हैं, और भी होने चाहिए थे। विशेषकर कीट्स के 'हाइपीरियन' के आरम्भिक अंश का अनुवाद।

केदार ने वकालत बाँदा में ही शुरू की। घर में थी एक मध्यवर्ग की सुखी-सी कार्यव्यस्त गृहस्थी और बाहर एक ईमानदार वकील की कड़ी मेहनत। ऊपर से सफल-प्रसिद्ध वकील चचा का अनुशासन और मर्यादाओं का परम्परा-सम्मत बन्धन। केदार का चुपके-चुपके बाँदा के इस व्यस्त एकांत में अपना अध्ययन और काव्य-प्रेम जारी रहा और बढ़ता गया। कविताएँ वह रात को ही लिख पाते।

केदार के चारों ओर था रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से जकड़ा, निरन्तर ठगा जाता शोषित-दलित किसान, मुकदमों के चक्करों में तबाह। दूसरी ओर अर्द्धसामन्ती ज़मींदारी सभ्यता थी, उसका खोखला आडम्बर और पाखण्ड और क्रूर दाँव-पेच। साथ था साम्राजी शासन का, उसके सहयोग से, नवीन विचारों और आंदोलनों का निरन्तर दमन। इसी दौर में केदार का अपना खास व्यक्तित्व पुष्ट हुआ और निखरा। एक ओर वर्ग-सम्बन्धों की क्रूर-कटु पृष्ठभूमि को समझने के लिए अध्ययन और मनन चलता था, तो दूसरी ओर उनके मन और मस्तिष्क के श्रम को दूर करने वाली रम्या प्रकृति थी: आँख-मिचौनी खेलते उसके ऋतु-परिवर्तन, उसके मस्त झूमते पेड़-पौधे, उसकी रंग-बिरंगी फूल-पत्तियाँ और उनके बीच में उनकी सबसे प्रिय सखी-सी केन-नदी। यही दो क्षेत्र रहे हैं कवि केदार की मुख्य भावनाओं के। अपने गार्हस्थ्य जीवन की भी सहज भाव-प्रवण झाँकी कवि ने यदा-कदा दी है।

: ३ :

केदार आँखों से पान किये हुए सौन्दर्य के कवि और कलाकार हैं। ध्वनियों को भी जब किसी विशेष प्रभाव के लिए इन्होंने बाँधा है तो अच्छा बाँधा है। मगर उनके लिए वास्तव में रंग ही बोलते हैं।

जल रहा है
जवान होकर गुलाब!
खोलकर होंठ
जैसे आग
गा रही है फाग।

×

खिला है अग्निम प्रकाश
सन्ध्या प्रकाश में···

×

न यह याद रहता है मुझे
न वह;
बस याद रहता है मुझे
रंग रोर···
फैलता फूलता फलता: अछोर;
डूबता हूँ जिसमें मैं
और डूबती हो तुम:
एक दूसरे को अंक में समोये
भाव से विभोर।

रंग नहीं, रथ दौड़ते हैं।
रंगीन फूलों के:
सांध्य गगन में!
ध्वज फहरते हैं।
रंगीन स्वप्नों के।
···नट नाचते हैं रंगीन छंदों के।
सांध्य गगन में!

प्रायः ही पाया जाएगा कि रंगों के साथ सदैव कोई-न-कोई क्रियात्मकता सम्बद्ध है।

ऐन्द्रिय अनुभूतियों को पैना धारदार करना; रूप को चटक रेखांकित करना; रोमानी भावना के विशेष नाटकीय क्षण को स्पष्ट आकारों में मूर्त करने का आग्रह होना—यह ढंग और अन्दाज़ केदार में बार-बार मिलता है। इसमें 'र्‌हेटरिक' को अक्सर दखल होता है; और अक्सर बेजा दखल भी नहीं। पर यह 'र्‌हेटरिक' बाद की—प्रायः सन् '५७-५८ के बाद की कविताओं की प्रभावकारिता में पूर्णतया छिप गया है। छठे दशक से केदार के यहाँ भाव-स्तरों में अधिक गुंफन, भावनाओं में एक गूढ़ता-सी मिलने लगती है, जो पहले उनके मिज़ाज और शैली की विशेषता कोई अधिक न थी। इस प्रकार की पंक्तियाँ उनके यहाँ नई चीज़ हैं:

अंधकार में खड़े हैं

आकाश के स्तंभ
एक नहीं, हजार
इस पार—उस पार
कुएँ के मौन में डूबे स्तब्ध;
भूल में डूबी नदी
हंस की चोंच में दबी
आकाश में चली जा रही है उड़ी
न जाने कहाँ—न जाने कहाँ;
रूई ओटती है दुनिया,
स्वप्न देखती है झुनिया।

यह कोमल अन्तरमानसी चित्रण केदार की इधर की कविता की विशेषता है :

वह
सुबह की चाँदनी है
ओस से भीगी हुई
धूप का दर्पण लिए
ओट में गूँगी खड़ी।
वह
नदी के नील जल की वासना है
जो कगारों को
डिगाए जा रही है।

मगर जब कवि कहता है :

मेरे मन की नदी
सदी के वृहत् सूर्य से चमक रही है।

तो हम पाते हैं कि स्पष्टोक्ति और जीवन में यथार्थ के नैतिक पक्षों के प्रति आग्रह आज भी केदार की कविता के विशेष गुण हैं। उसकी नई कला-चेतना के इस दौर में भी उनका वह अपना विशेष गुण कम नहीं हुआ है। (मगर कवि के मिज़ाज में एक घुलावट, एक तरलता पहले से कुछ अधिक ज़रूर आ गई है।) इधर की कविताओं में भी कवि का विशिष्ट रंग देखिए—

न टूटो तुम
वरन झुको यों
कि चूम लो मिट्टी
श्रौर फिर उठो।
कोई है कि देखे
मेरा मनुष्य पत्थर हो गया है
बहार के दिनों में।

×

फिर उपजेगा उन्नत-मस्तक सिंह-अयाली नाज।
फिर गरजेगी कष्ट-विदारक धरती की आवाज।

सीधे संक्षिप्त उपादानों से एक भरपूर चित्रण पेश करना—यह भी केदार के यहाँ देखते बनता है :

चोली फटी सरस सरसों की।
लहँगा गिरा फागुनी नीचे।
चूनर उड़ी अकासी नीली।
नंगी हुई पहाड़ी देखो।

उत्प्रेक्षा में पूरा प्रतीक सांगोपांग खड़ा कर दिया गया है। कम-से-कम शब्द—और एकदम यथास्थान।

'इमेज' के लिए 'बिंब' शब्द लाना यहाँ मुझे उपयुक्त नहीं जान पड़ता। मैं यह कहना चाहता हूँ कि केदार की कुछ बहुत अच्छी कविताओं में 'इमेजिस्ट' शिल्प की प्रधानता है। (इस शिल्प में कोई खतरा है तो यही कि कभी-कभी कविता चित्र-मात्र होकर रह जाती है। चित्र बराय चित्र।) एक सफल रचना का प्रधान आकर्षण इस बात में होता है कि चित्रों की मूर्त्त प्रखरता काव्यात्मक अनुभूति की इकाई को एक अतिरिक्त सी आभा या 'हाइ-लाइट' प्रदान करती जाए। सभी प्रकार की काव्यात्मक स्थितियों के लिए यह शिल्प आवश्यक हो—ऐसा नहीं है। पर निश्चय ही केदार की यथार्थपरकता के बहुत अनुकूल पड़ता है इस प्रकार का शिल्प। 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में से दो सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

रात

दिन हिरण-सा चौकड़ी भरता चला।
धूप की चादर सिमिटकर खो गई।
खेत, घर, वन, गाँव का
दर्पण किसी ने तोड़ डाला।
शाम की सोना-चिरैया
नीड़ में जा सो गई।
पेड़-पौधे बुत गए जैसे दिये।
केन ने भी जाँघ अपनी ढाँक ली।
रात है यह, रात, अंधी रात।
और कोई कुछ नहीं है बात।

एक दूसरी छोटी-सी कविता :

झाड़ी के एक खिले फूल ने
नीली पंखड़ियों के
एक खिले फूल ने
आज मुझे काट लिया
ओठ से,
और मैं अचेत रहा
धूप में।

या यह चित्र और उसका भाव देखिए :

आज नदी बिलकुल उदास थी,
सोई थी अपने पानी में।
उसके दर्पण पर
बादल का वस्त्र पड़ा था।
मैंने उसको नहीं जगाया,
दबे पाँव घर वापस आया।

यहाँ 'इमेज' का शिल्प कविता के प्रभाव में कैसा घुल-मिल गया है। प्रकृति कवि के लिए एक आत्मीया-जैसी है। केदार की ऐसी कविताओं में भावनाओं की एक अजब सुसंस्कृत कोमलता का अनुभव होता है :

चली गई है कोई श्यामा,
आँख बचाकर, नदी नहाकर,
काँप रहा है अब तक व्याकुल
विकल नील जल।

इधर ज़रूर केदार के यहाँ एक 'नौस्टैलिजया' सा आता जा रहा है, और प्राकृतिक या मानवीय सौन्दर्य की एक करुण शांत-सी परख विशिष्ट होती जा रही है। कभी-कभी ऊब और उदासी का चित्रण तक :

लिपट गई जो धूल पाँव से
वह गोरी है इसी गाँव की
उसे उठाया नहीं किसी ने
इस कुठाँव से। ('५८)

या

दिन है कि
हंस हलाहल पर
मन्द-मधुर तिर रहा है ('६१)

या

यह उदास दिन
पेंसन पाए चपरासी-सा,
और जुए में हारे जन-सा,
आपे में खोए गदहे-सा,
मौन खड़ा है।... ('५६)

मगर केदार उन्मुक्त आनन्द और उल्लास के कवि और श्रम-शक्ति के सौन्दर्य के गायक पहले रहे हैं; और कुछ बाद में। भरे-पूरे ऐन्द्रिय अनुभूतियों के कवि। मसलन् 'खेत का दृश्य', गीत में देखिए। ऋतु के राग-रंग में विभोर कवि कह उठता है :

'मैंने ऐसा दृश्य निहारा, मेरी रही न मुझे खबरिया'—
आसमान की ओढ़नी ओढ़े
धानी पहने फसल घघरिया
राधा बनकर धरती नाची
नाचा हँसमुख
कृषक सँवरिया।
माती थाप हवा की पड़ती
पेड़ों की बज
रही ढुलकिया,
जी-भर फाग पखेरू गाते,
ढरकी रस की
राग-गगरिया।

जहाँ हसने 'दिन' का एक मूड ऊपर देखा, वहाँ यह सहज-उष्ण अनुभूति भी देखिए :

भूल सकता मैं नहीं
ये कुच-खुले दिन,
ओठ से चूमे गये,
उजले, धुले दिन,
जो तुम्हारे साथ बीते
रस-भरे दिन,
बावरे दिन,
दीप की लौ-से
गरम दिन।

सहज स्नेह-बन्धन का एक विह्वल चित्र जो आत्मीय पत्र-शैली के साथ पूर्ण होता है :

हे मेरी तुम !
आज धूप जैसे ही आई
और दुपट्टा
उसने मेरी छत पर रखा,
मैंने समझा तुम आई हो।

दौड़ा मैं तुमसे मिलने को।
लेकिन मैंने तुम्हें न देखा।
बार-बार आँखों से खोजा
वही दुपट्टा मैंने देखा
अपनी छत के ऊपर रखा।
मैं हताश हूँ,
पत्र भेजता हूँ, तुम उत्तर जल्दी देना।
बतलाओ क्यों तुम आई थीं
मुझसे मिलने
आज सबेरे
और दुपट्टा रखकर अपना
चली गई हो बिना मिले ही ?
क्यों ?
आखिर इसका क्या कारण ?

: ४ :

ऐसा जान पड़ता है, हिन्दी के कुछ प्रौढ़ आधुनिक आलोचक और साहित्यिक, केदारनाथ अग्रवाल को 'फ़ार्मलिस्ट' कवि मानते हैं। अर्थात् रूपप्रकारनिष्ठ। मेरे खयाल में बहुत ऊपरी अर्थ में इनको 'फार्मलिस्ट' कह सकते हैं, वास्तविक अर्थ में नहीं। मैं समझता हूँ कि इस धारणा को सुलझाना जरूरी है। (मैं 'फ़ार्मलिज़्म' के लिए 'रूपप्रकारवाद' शब्द का प्रयोग करूँगा।)

रूपप्रकारवाद के कई अर्थ है, जिनमें कई एक-दूसरे के विरोधी भी पड़ते हैं। ऊपरी, रूपप्रकार की, स्थूल योजना पर अतिरिक्त ध्यान देना — बल्कि उसमें उलझ जाना, या उसीके फेर में ज्यादा रहना: यह एक तरह का रूपप्रकारवाद है। एक-न-एक स्टेज पर इस तरह का रुझान सब नहीं तो अधिकांश कवियों में पाया जाएगा; मगर आरम्भिक दौर में यह ज्यादा मिलेगा, जो कि अभ्यास और प्रभावों का दौर होता है। दूसरे तरह का रूपप्रकारवाद है—कला (कृति) की आन्तरिक रूप-योजना पर 'रूपयोजना के लिए' बल देना। इसमें भी कवि अपनी भावनाओं को किसी विशिष्ट 'क्लासिक' या रायज समसामयिक पैटर्न पर बाँधता है। जबकि उसकी अपनी भावनाओं का अपना वैशिष्ट्य, प्रखर और स्वतन्त्र रूप से, पिछले या समसामयिक अन्य कलाकारों के वैशिष्ट्य से काफ़ी अलग नहीं हो चुका होता —तब इस प्रकार का रूपप्रकारवाद प्रस्तुत होता है। अगर उद्देश्य अपनी भावनाओं को 'कल्चर' करने—अधिक अर्थपूर्ण और गहरा करने—अर्थात् अपनी ही जमीन पर उठाने और अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों से ही समृद्ध करने का है, तो कालान्तर में यह दूसरे प्रकार का रूपप्रकारवाद कवि के व्यक्तित्व में अन्तर्हित हो जाएगा, बिलीन हो जाएगा, जैसा कि सभी महाकवियों के यहाँ देखा जा सकता है। मेरा खयाल है कि संसार के महान् कवियों को रूपप्रकारवादी कहना एक तरह का अतिशयोक्ति अलंकार हो जाएगा।

त्रिलोचन या केदार के यहाँ अभ्यास के रूप में, या कहीं-कहीं केदार में 'क्लासिक' के अनुसरण में—मसलन् कालिदास या वालमीकि के—यह दृष्टिगत होगा; मगर उनका लक्ष्य, खासकर केदार का, कभी भी किसी विशिष्ट रूपप्रकार को अपने में एक उद्देश्य बनाना नहीं है: बल्कि, रूपप्रकार की बुनियाद में जो प्राथमिक अनुभूति का तथ्य होता है, उसके सहारे अपनी ही विशिष्ट अनुभूति को जोड़ना है। इस बात को ध्यान में रखकर अगर हम केदार की कविता परखें तो वह उन अर्थों में रूपप्रकारवादी नज़र न आएँगे जिन अर्थों में आम तौर से रूपप्रकारवादी को लिया जाता है। त्रिलोचन के यहाँ अलबत्ता रूप-प्रकार के, और 'क्लासिक' शिल्प के, प्रति आकर्षण है: यद्यपि उस रूप और शिल्प को साधने के बाद वह उससे कलात्मक मुक्ति उपलब्ध करना चाहते हैं, ताकि अनुभूति अपनी स्वतंत्र प्रखर स्थिति की शक्ति प्राप्त कर सके। [छंद और मुक्त छंद—'नई कविता' और 'गीत'—को लेकर जो भ्रांतियाँ आज पत्र-पत्रिकाओं में व्याप्त हैं, उनके कारण एक अनावश्यक विरोध दोनों में ढूँढा और घोषित किया जाता है। अपनी आंतरिक योजना में दोनों के अन्दर किंचित्मात्र कोई महत्त्वपूर्ण या बेसिक विरोध नहीं है।]

अगर कुछ आलोचक केदार और त्रिलोचन को रूपप्रकारवादी कवि समझते हैं, तो फिर तो उनकी दृष्टि से केदारनाथ अग्रवाल और केदारनाथसिंह में कोई बुनियादी अन्तर नहीं रह जाता। त्रिलोचन के मामले में शायद सॉनेट पर उनके विलक्षण अधिकार से धोखा हुआ हो। केवल रूपप्रकार (फॉर्म) पर भरपूर अधिकार होना कवि को 'सच्चा फॉर्मलिस्ट' नहीं बना देता। एकाएक किसी कवि के संदर्भ में 'रूपप्रकार' शब्द को लेकर 'रूपप्रकारवाद' की ओर दौड़

पड़ना कभी-कभी भ्रामक परिणामों तक पहुँचा सकता है।

रूपप्रकारवादी कलाकार कला के रूप (रूपप्रकार) के लिए जीता है। रूप की उपलब्धि में ही अपने व्यक्तित्व की उपलब्धि करता है। अगर एक हद तक 'रूप' की नोक-पलक के बिगड़ने-सँवरने में कवि के प्राण डूबते-उतराते हैं, तो दूसरी हद पर रूप या रूपों (रूपप्रकारों) के सहज उद्‌भव और उनकी गतियाँ 'ऑटोमेटिक राइटिंग' और स्वप्न-अंकन को भी साहित्य में जगह देती हैं। एक ओर अज्ञेय की गम्भीर सुघरता और गिरिजाकुमार माथुर की नाज़ुकमिज़ाजी और भाँति-भाँति के प्रयोग हैं, तो दूसरी ओर 'फार्मलिस्ट' प्रभाकर माचवे के रूपप्रकारों का बगटुट सैलाब है और उस सैलाब में उनकी तैराकी की कला; या रघुवीरसहाय के निहायत 'सेंसेटिव' व्यक्तित्व के निहायत 'सेंसेटिव' रूपप्रकारवादी 'बैरोमीटर चार्ट' हैं या 'ऑटोरिपोर्ट'।

केदार और त्रिलोचन निःसंदेह 'रूपप्रकार' को भली प्रकार समझते हैं। मगर वे इसलिए रूपप्रकारवादी नहीं हैं, क्योंकि वे रूपप्रकार के अन्दर के **रूप का अन्वेषण** नहीं करते हैं, यानी उस 'रूप' का जिसमें वे अपने को उपलब्ध करें : यह उद्देश्य उनका नहीं है। उनके कवि की आत्मोपलब्धि जहाँ हो चुकती हैं वहाँ वह सहज ही उस अधिकृत 'रूपप्रकार' को लाते हैं, ताकि उसमें उसे ढाल सकें। रूपप्रकार बराय रूपप्रकार नगण्य। हाँ, रूपप्रकार के अन्दर जिस 'रूप' में वह अपने-आपको कसते हैं वह रूप उनके सृजन-क्षण में तेज़ी से 'बदलते हुए' आगे आते नव-उपलब्ध व्यक्तित्व का ही होता है। जो कुछ वह खोजते हैं वह और चीज है : वह है **अपने व्यक्तित्व का सामाजिक व्यक्तित्व से** (जैसाकि वे उसे अपने जीवन के सचेत अनुभवों में प्रत्यक्ष जानते हैं) **सार्थक रचनात्मक सामंजस्य और उस सामंजस्य का अपने कवि-मानस के लिए कलात्मक-रचनात्मक मूल्यांकन**। और फिर उनका यह व्यक्तित्व उस अन्दर के 'रूप' को भी तोड़ता हुआ-सा लगता है, उसमें बँध न पाता, समा न पाता हुआ। (सृजन का एक संघर्ष यहीं प्रत्यक्ष होता है। कलात्मक उद्देश्य भिन्न रखते हुए रूपप्रकारवादी कलाकार भी अपनी भिन्न सीमा में इस 'संघर्ष' के क्षण से गुज़रता है।)

रूपप्रकारवादी कवि के व्यक्तित्व से उसकी उपलब्धियों का उद्दिष्ट कलात्मक रूपप्रकार हमेशा दूर और बड़ा ही होगा, जिसको प्राप्त करने के लिए वह बढ़ रहा होता, उठ रहा होता है।

> **मुझे शब्द न दो, न दो।**
> **फिर भी मैं कहूँगा!**

अनिर्वच् का जो 'शब्द' है—उसकी तलाश।

केदार या त्रिलोचन या मुक्तिबोध किसी एक रूप प्रकार या फॉर्म को अपना लेते हैं : और उसी के माध्यम में, जो कुछ कवि के नाते देखते और अनुभव करते हैं, व्यक्त करते हैं। इस अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में, निश्चय ही, रूपप्रकार को वे अपने व्यक्तित्व से प्रभावित करते हैं—कभी-कभी अत्यधिक प्रभावित करते हैं, जैसे मुक्तिबोध। उस रूपप्रकार पर उनका अपना ठप्पा लगता है। मगर उस 'फ़ॉर्म' का आधारभूत वैशिष्ट्य पूरी तरह सुरक्षित रहता है। मैं एक पुरानी मिसाल दूँ। मसलन्, केशव रूपप्रकारवादी हैं, तुलसी नहीं; यद्यपि चौपाई और दोहे पर तुलसी को अतुलनीय, असाधारण अधिकार है, जितना कि केशव सपने में भी प्राप्त नहीं कर सकते। रूपप्रकार पर यह अधिकार तुलसी को रूपप्रकार से मुक्त कर देता है। तुलसी 'प्रयोग' करते हैं, मगर रूपप्रकारवादी नहीं हैं। रूप प्रकार के प्रति केशव का मोह—रूपप्रकार का ही केशव के लिए कला की सीमा होना—उन्हें उसी के 'चमत्कार' में सीमित कर देता है।

(आधुनिक हिन्दी कविता का चौथे-पाँचवें दशक का 'प्रयोगवाद' वस्तुतः रूपप्रकारवादी दृष्टिकोण ही प्रस्तुत करता है। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत रूपप्रकार की रचनात्मक (प्रैक्टिकल) उद्‌भावना मूलतः पश्चिम की है। साहित्य की प्रगतिशील धारा—आधुनिक रूप में वह भी मूलतः पश्चिम की है—रूपप्रकारवाद की मुख्य दिशा पर उसका तोड़ थी। कुछ कवियों में एक अर्से तक दोनों 'दिशाओं' या प्रवृत्तियों के प्रति आकर्षण एक आंतरिक संघर्ष पैदा करता रहा। इस संघर्ष ने—जो अनिवार्य नहीं था—उनकी मौलिक शक्तियों को काफी क्षीण किया। प्रयोगवादी काव्य की मुख्य विशेषता या तत्कालीन आकर्षण अगर रूपप्रकारवाद न होता, तो निश्चय ही 'प्रयोगवाद' प्रगतिशील काव्यधारा को कई गुना और अधिक प्रभावित करता, कई गुना अधिक पुष्ट करता। मगर परस्पर-विरोधी बहुत गहरे रंगों की सांस्कृतिक-राजनीतिक ऐनकों से काम लिया जा रहा था। अपनी खुली आँखों से कुछ भी देखने का अभ्यास किसी को नहीं था। ख़ैर!)

शब्द समाज के दैनंदिन भरपूर जीवन-संघर्ष से उद्‌भूत

होते और वहीं अपने अर्थ-वैभव को प्राप्त करते हैं। उन्हीं के विद्वन्समाज-सम्मत आकलन की परम्परा—साहित्यिक रूप—कवियों की पूँजी होती है। लेकिन अगर केवल उसी को वह अपनी पूँजी समझकर, समाज में व्यवहृत, जीवंत, अहर्निश आंदोलित, परिवर्तनशील अर्थसमूहों की ओर से उदासीन रहते हैं, तो वह रूपप्रकारवादी—फ़ॉर्मलिस्ट—कवि हो जाते हैं। (सामान्य बहुव्यवहृत और अपने पूरे गहरे अर्थ में।)—दूसरा रास्ता उनके लिए असम्भव है। एक और दिलचस्प मिसाल महाकवि बिहारी की है। बिहारी दोहे के रूपप्रकार पर मिटा हुआ है। यह सही है कि बिहारी ने दोहे के आंतरिक रूपप्रकार की भी बहुत गहरी उपलब्धि की है। दूसरी ओर रहीम हैं और कबीर, या तुलसी। गहरे संस्कारी व्यक्तित्व—जीवन का हर ऊँच-नीच झेले हुए। जिनके दोहे रूपप्रकारवाद से मुक्त हैं। उनके दोहों में एक ऐसा सहज-स्पंदन है जिसने रूपप्रकार को मोम कर दिया है, उनमें कलात्मक रस की उपलब्धि से कुछ अधिक हमें प्राप्त होता है।

यह बात हज़ार बार दोहराने की नहीं है कि प्रत्येक सफल कलाकृति में रूप और कथ्य अंतिम 'स्टेज' पर एक ही होते हैं। मगर सफलतम रूपप्रकारवादी कला में अंतिम को छोड़कर सभी 'स्टेजों' पर रूप ही कथ्य होता है। रूप प्रकार-वादी कला से अन्य प्रकार में आरम्भिक 'स्टेजों' के बाद ही रूप कथ्य के अन्दर विलीन होने लगता है। देखने में सहज-सामान्य-सा लगने वाला कला का रूप वस्तुतः अतिशय असाधारण और गुंफित भी हो सकता है। जैसे, तुलसी की चौपाई का रूप-शिल्प। यानी उसका वह रूपप्रकार जो कथ्य की गरिमा के अन्दर, और उसी के कारण, इतना अलोप-सा हो गया है कि महसूस नहीं होता।

कला में अंततोगत्वा रूप या रूपप्रकार सफल कला का —कला के अन्दर सफल कलाकार का—व्यक्तित्व ही है। कैसा व्यक्तित्व, सवाल यही है: कैसा रूप?—रूप, जो बाह्य स्थूल रूप के अन्दर से उपलब्ध किया जा रहा है, वह—कैसा!

केदार अपनी किसी सफल कविता में रूप प्रकारवादी नहीं हैं।

: ५ :

केदार, नागार्जुन और त्रिलोचन को 'दूसरे सप्तक' में सहयोगी कवि बनने के लिए आमन्त्रित किया गया था। केदार और नागार्जुन ने तो दो-टूक शब्दों में सहयोग देने से इन्कार कर दिया था; त्रिलोचन को शामिल न होने के लिए पर्याप्त कारण निकल आए थे। ज़रा देर के लिए हिन्दी-आलोचना-जगत् कल्पना करे कि ये तीनों कवि 'दूसरे सप्तक' में शामिल हैं। फौरन प्रयोगवादी कविता के विवाद-हाल में तीन खिड़कियाँ और खुल जाती हैं और झाँककर ग़ौर से देखते हैं तो—'व्यक्तित्व की खोज' के तीन रास्ते और हाँ, ये रास्ते और रास्तों से अलग हैं ज़रूर—मगर प्रयोगवादी दौर के रास्ते हैं ये भी। इनको छोड़ देने से प्रयोगवादी युग का नक्शा अधूरा रह जाता है, बल्कि बहुत भ्रामक हो जाता है। इतनी बात तो आईने की तरह स्पष्ट है।

इस भ्रम की पोषक यह व्यापक-सी धारणा है कि प्रयोग और प्रगतिशीलता विरोधी चीज़ें हैं। पिछले दशकों की साहित्यिक धाराओं की चर्चा प्रायः इसी धारणा की पृष्ठभूमि में हुई है। 'प्रगतिशीलता' का सम्बन्ध विचारों से है—प्रायः समाजवादी या मार्क्सी: जिनमें मुख्य तत्त्व साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का विरोध और मज़दूर-किसान के अपने स्वत्वाधिकार के आन्दोलनों के लिए समर्थन है। 'प्रयोग' का सम्बन्ध शिल्प और कथ्य में भावनाओं के नव-युगीन सन्दर्भों की खोज से है, और इस 'खोज' का उद्देश्य कलाकार के सृजनात्मक व्यक्तित्व का परिष्कार और विशेष स्पष्टीकरण है। मार्क्सवादी कवि प्रयोग के क्षेत्र में उतनी ही दिलचस्पी ले सकता है, और लेता है, जितना कि मार्क्सवाद-विरोधी कवि। केदार की एक छोटी-सी प्रसिद्ध कविता है:

मैंने उसको
जब-जब देखा
लोहा देखा,
लोहा जैसा—
तपते देखा,
गलते देखा,
ढलते देखा,
मैंने उसको
गोली जैसा
चलते देखा!

यह 'फॉर्मलिस्ट' कविता नहीं है। यह प्रगतिशील कविता है, और प्रयोगवादी कविता है। अन्तिम दो पंक्तियों में एक

विस्फोट जैसा है। स्थिति जो क्रम से परिवर्तित होती आगे बढ़ रही है सहसा अपने निशाने पर आकर बिजली की तरह स्पष्ट हो उठती है। यह किसी क्रान्तिकारी का संक्षिप्त जीवन-चरित है। भगतसिंह ? आज़ाद ? पाठक जिसको चाहे इस चित्र में रखकर देखे। प्रखर बौद्धिक विकास के सार्थकतम जीवन का भी प्रतीक यह चित्र हो सकता है, या अनवरत उद्योगशीलता का यह चित्र लें :

तेज़ धार का कर्मठ पानी,
चट्टानों के ऊपर चढ़कर,
मार रहा है
घूंसे कसकर
तोड़ रहा है तट चट्टानी !

या अन्धड़ का यह चित्रण, जो प्रथम पाठ में रूपप्रकार वादी लगता है—एक सशक्त चित्रण, चित्रण के लिए; आँधी की अपनी आवाज़ में :

मैं घोड़ों की दौड़
बनों के सिर पर तड़-तड़ दौड़ा,
पेड़ बड़े से बड़ा
चिरौंटे-सा चिल्लाया चौंका,
पत्तों के पर फड़-फड़ फड़के—
उल्टे, उखड़े, टूटे,
मौन अँधेरे की ढालों पर
साँड़ पठारी छूटे !

यह प्रकृति की एक दुर्दम्य शक्ति का चित्रण है। उसकी अहंता का एक रूप। पर, जब हम फिर ग़ौर से देखते हैं तो यह प्रथम पत्रिका 'मैं' का स्वयं मनुष्य की ही अहंता, अपनी शक्तिमत्ता का एक उल्लासमय प्रदर्शन नहीं ? 'ओलिम्पिक' खेलों के पदक प्राप्त करने वाले और उनके प्रेमी (दर्शक या समाचार-पाठक) इस भाव का सर्वाधिक आनन्द ले सकेंगे।

जब केदार एक अन्य प्रकार का, चिन्ताकुल मौन भाव का चित्र पेश करते हैं, जो प्रायः वह नहीं करते, तो हम उसमें भी एक स्वस्थ ज़िम्मेदार नागरिक को ही चिन्तारत देखते हैं। उसके 'मूड' ने प्रकृति को रंग दिया है। 'इमेज' अपनी मार्मिकता में इस 'मूड' को और गहरा करते जाते हैं, जो एक व्यक्ति का ही नहीं, शायद पूरे परिवेश का है :

गींज गए कपड़ों-सा उतारा हुआ अम्बर है,
मैली हुई मौन शाम फैली है
अनकही बातों को,
और हवा डूब गई नावों को,
पाल लिए चलती है।
नाटकीय रंगों का रंगमंच सूना है
न ही कोई नर्तक है,
न ही कोई वादक है,
न ही कोई गायक है;
हर्ष की हिलोरों को
पाँव से दबाए खड़ा सैनिक है।
कोई मढ़े पानी में सोई कहीं शोभा है,
चंचला अचंचल है—चारों ओर—
केश खोले चिन्ता है।
धुएँ की अवस्था में देश-काल धुंधला है।
मेरा मन ऐसी शाम देखकर सिहरता है,
रात जाने कैसी हो, मेरा मन डरता है।

कुछ चीज़ें कविता का भाव होती हैं, कविता नहीं। कभी-कभी इन दोनों में अन्तर बहुत थोड़ा होता है, मगर उतना ही दोनों को दो खानों में रखने के लिए काफ़ी हो जाता है। सचेत रूप से एक उद्देश्य रखकर कवि-कर्म में प्रवृत्त होने में कोई हानि नहीं,—कई बड़े कवियों ने ऐसा किया है—मगर (पंतजी के शब्दों में) 'तार सधे हुए होने चाहिएँ'; इतने, कि हर चीज़ 'कसी हुई' निकले। जिसका निर्माण सचेत रूप से उद्देश्यपरक हुआ हो—ऐसे साहित्य के बारे में मतभेद अवश्यंभावी है। मुझे तो उद्देश्यपरक साहित्य प्रायः पसन्द है; मैं जान-बूझकर उसकी कलात्मक ख़ामियों को नज़रअन्दाज़ कर जाता हूँ—अगर उसमें मानववादी आस्था और विश्वास के स्वर सचमुच विशेष दृढ़ और सच्चे हैं, और शैली में व्यक्तित्व का ओज है। फिर अगर कभी-कभी 'र्‌हेटरिक' प्रत्यक्ष है, शिल्प प्रभाववादी है, मुहावरा टकसाली नहीं है, तो भी मैं विरस बहुत नहीं होता। यद्यपि कुछ तो मज़ा किर-किरा ज़रूर होता है। निरालाजी का 'कुकुरमुत्ता' मुझे इसी लिए पसन्द नहीं। और भी कई कविताएँ। दरअसल प्रत्येक अच्छे और बड़े कवि में ऐसी अनेक कविताएँ निकल आएँगी जिन्हें शिथिल और असफल कहा जाएगा।

हिन्दी खड़ी बोली साहित्य की भाषा पूरी तरह अभी तक स्थिर नहीं हुई है। कारण एक यह भी है कि उसने संप्रति उर्दू से कुछ भी लाभ उठाने की कसम खा ली है। अतः अब

उसके अपने मुहावरे ढल रहे हैं—लिखित साहित्य में जो छपकर सामने आता है, उसमें जनता की बोलचाल उससे अलग है। केदार के यहाँ मुझे इस दृष्टि से कई चीज़ें खटकती हैं। मसलन् इसमें :

समुद्र वह है
जिसका मौन टूट गया है
चोट पर चोटें सहे-सहे !......

'चोट पर चोट सहते-सहते' अधिक शुद्ध होता। कभी-कभी शब्दों का जोड़ (कम-से-कम मुझे) अनमिल-सा लगता है। जैसे 'गायक पखेरू' (पृष्ठ ११०), या 'रात-दिवस' (पृष्ठ ३९) इस तरह के दोष बाद की और इधर की कविताओं में नहीं हैं। गद्यात्मकता की शिकायत भी की जा सकती है, किसी-किसी रचना में। (पृष्ठ ११२, ११३, ११४)।

'तुम साथ थे, मैं चल रहा था, मैदान में, नंगे पाँव, पिता के साथ, पुत्र की तरह', इत्यादि (पृष्ठ ११३)

'हमारी आँखें जहाँ जिस किसी फूल को देखती हैं' (पृष्ठ ११२) में किंचित् अतिरिक्त-सी भावुकता है, भावना का विज्ञापन-सा; एक 'स्टेटमेंट' है; इसीलिए रचना ललित काव्यमय गद्य-मात्र होकर रह गई है।

केदार की अभिव्यक्ति में एक भोलापन (naivite) कभी-कभी उनके कथ्य को सपाट और प्रभावहीन कर देता है; जैसे 'लेखक की स्वतन्त्रता' (पृष्ठ ७९) में। पूरी कविता मात्र 'स्टेटमेंट' है। स्वतन्त्रता संघर्ष से अर्जित की जाती है; माँगकर नहीं मिलती। बहरहाल इस तरह की चीज़ें सहज ही पत्रकारिता की शैली में ढल जाने का खतरा मोल लेती हैं। यह प्रायः वहाँ अधिक होता है जहाँ प्रति-परिचित प्रतीकों और उपमाओं को ही मुख्य रूप से बाँधा गया हो। मसलन् 'अन्धकार' और 'प्रकाश' के विरोधी प्रतीक किसी भी प्रकार की सार्थक नवीनता पैदा करने के लिए बहुत कठिन पड़ेंगे। (पृष्ठ ११६)

कभी-कभी किंचित् लापरवाही भी दृष्टिगत होती है— 'हथौड़े का गीत' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ मुझे अच्छी लगती हैं—

मार हथौड़ा
कर कर चोट
लाल हुए काले लोहे को
जैसा चाहे वैसा मोड़।

मगर

जब कहते हैं—

थोड़े नहीं—अनेकों गढ़ ले
फौलादी नरसिंह करोड़।

तो मैं 'अनेकों' और 'करोड़' को रेखांकित करता हूँ— और देखता हूं कि 'करोड़' 'अनेकों' की परिभाषा में आया है। बात नहीं जमती। ऐसी ही लापरवाही का सबूत अन्तिम पंक्ति है—

जल्दी छवि से नाता जोड़ !

फ़ौलादी नरसिंह से कहा जा रहा है—जल्दी कर, छवि से नाता जोड़ ! स्पष्ट है कि 'छवि' का आशय यहाँ मात्र छायावादी होकर रह गया है। और भी कुछ उदाहरण शिथिल मुहावरों, अशक्त शब्द-योजनाओं आदि के दिये जा सकते हैं। पर वे सब कवि के स्वस्थ शक्तिशाली व्यक्तित्व के मुख्य प्रभाव को इस प्रतिनिधि संकलन में विशेष कम नहीं करते।

कोई आठ साल हुए 'कृति' के कविता-विशेषांक में मैंने नागार्जुन के संबंध में लिखा था—

'भावनाओं का सामाजिक परिवेश में विश्लेषण, हृदय को छूने वाला स्वर, उसके स्वर की निर्भीकता, उसका दो-टूकपन, और पूरे नाटकीय 'फ़ोर्स' के साथ अनेक चरित्रों के संग-संदर्भ चित्रण......यही कुछ है जो नागार्जुन की तगड़ी चीज़ों को मेरे लिए अत्यन्त प्रिय और महत्त्वपूर्ण बना देती है।'

और फिर—

'केदारनाथ अग्रवाल भी शायद मुझे इसलिए प्रिय है।...मैं उसकी कविताओं में उसका दिल जैसे आर-पार देखता हूँ और वह दिल कितना हर तरह के 'हम्बग' और 'स्नॉबरी' से पाक है ! वह सहज ही किसी जादूगरी में फँसता नहीं...जो बात या उक्ति समझ में नहीं आती, वह उसे ख़ामख़ाह ही गूढ़ नहीं लगती। एक होता है कविता का अपना मर्म, शब्द जिसका माध्यम मात्र होता है : वह मर्म जैसे चमकती हुई आँखें रखता हो—स्पष्ट, गम्भीर और सहज-तरल ! केदार उसीको खोजता है।

'उसके छन्द में एक ठेठपन मिलेगा, जो ठोस अनुभवों का तेवर लिए हुए होता है। उसकी वाणी में एक कस-बल है जो बुंदेलखंड का ही नहीं; उसका तो है ही; हर

स्वस्थ मेहनतकश नौजवान का भी है। उसके शिल्प में 'बारीकियाँ' न होते हुए भी, उसके अंदाज़ में जोर और असर है, और एक अजीब-सी ताज़गी। इधर की उसकी कविताएँ, प्रेम और प्रकृति से सम्बन्धित, अपने ढले हुए सौंदर्य में हज़ार शिल्पगत बारीकियों को शर्माती हैं।

'केदार जिस खोज की तरफ बढ़ा है वह है, समाज का सत्य और प्रकृति का खुला नैसर्गिक सौंदर्य। अन्याय के खिलाफ और मेहनत के पक्ष में वह बेझिझक बोलता है। उसके व्यंग्य में दोहरी-तिहरी धार नहीं, सीधी एक धार। मगर वही बहुत काफी होती है। ऐसा खुले हृदय का उन्मुक्त साहसी कवि सौंदर्य और प्रेम की सुषमा और सौष्ठव पर दृष्टि डालता है तो सहज ही अपनी अनुभूतियों से हमें मोह लेता है। इतना खुला प्यारापन जिसमें दिखावट और बनावटीपन का नाम नहीं; साथ ही इतना गंभीर और मर्यादित जितना कि गहरा प्रेम वास्तव में होता है; एक ऐसा उघरापन भी, जैसा कि प्रकृति के खुले-फैले प्रांगण में सब ओर मिलेगा।...नदी, पेड़, पत्ती, फूल, टहनी, चट्टान, हवा, वातावरण-विशेष—सब हमारी आँखों में खुब-सा जाता है। किसान और मजदूर के हाथ और रग-पुट्ठे कहीं हमारे हाथों और रग-पुट्ठों को रगड़ते हुए से लगते हैं और अपना वेग और सहज शक्ति बरबस ही हमें महसूस कराते हैं। उनके यथार्थ वातावरण की गृहिणी, उनके किसान, युवक और युवती, और खेतों की सजीव हरियाली और भोली-भाली रंगीनी अपना परिचय हमेशा के लिए हमसे दृढ़ कर लेती हैं। क्यों न फिर यह कवि मुझे विशेष प्रिय हो—सादगी की कुछ लगजिशों और कहीं-कहीं (कुछ पहले तक की कविताओं में) सपाटपन के भी बावजूद।'

—'मेरे कुछ प्रिय आधुनिक हिन्दी कवि' (एक बिलकुल परसनल एसे), कविता विशेषांक, कृति, १९६०।

•

सौ राहों के यात्री

प्रयाग शुक्ल

सोचता हूँ कहाँ से शुरू करूँ! 'एक पैर रखता हूँ कि सौ राहें फूटतीं' के कवि मुक्तिबोध की कहानियों में भी पंक्ति-पंक्ति पर सौ राहें फूटती हैं। कविता, डायरी, कहानी—मुक्तिबोध किसी भी विधा में लिख रहे हों, अनुभव और संवेदन-क्षेत्र में से कुछ छूट जाए, यह उन्हें गवारा नहीं होता। कुछ छूटा तो नहीं जा रहा की 'आशंका' में वह जैसे दुगुनी बेचैनी के साथ सब-कुछ को पकड़ने की कोशिश करते हैं—जीवन को भरसक जानने और जीने की इच्छा ही ऐसा कराती है। इसीलिए दूरियाँ, विसंगतियाँ, निकटताएँ—उनकी रचनाओं में सभी उभरती हैं। पंक्ति-पंक्ति में सौ राहें फूटती हैं, सौ राहों का जीवन फूटता है—आकांक्षा का जीवन, खण्डों में बँटा जीवन, खण्ड-खण्ड होता जीवन! पिछले दस-पन्द्रह वर्षों के हिन्दुस्तानी जीवन की विसंगतियाँ, दूरियाँ, इन कहानियों में इस तरह उभरी हैं कि पढ़ते वक्त मन में समानान्तर बल्कि समान 'वाक्य-चित्र', दृश्य और प्रसंग उभरते हैं: "'मैं मस्जिद के मदरसे में पढ़ाता हूँ। जी हाँ, गुजर करने के लिए काफी हो जाता है।' उसकी आँखें सहसा म्लान हो गईं और वह चुप होकर, गर्दन झुकाकर, नीचे देखने लगा। फिर कहा, 'जी हाँ, दस साल पहले शादी हो चुकी थी। मालूम नहीं था कि वह गहने समेटकर चम्पत हो जाएगी।...तब से इस मस्जिद में हूँ।'

युवक ने देखा कि बूढ़ा एक ऐसी बात कह गया है जो एक अपरिचित से कहना नहीं चाहिए। बूढ़े ने कुछ ज्यादा नहीं कहा। परन्तु इतने नैकट्य की बात सुनकर युवक की सहानुभूति के द्वार खुल गए। "उसने बूढ़े की सूरत से कई

१. काठ का सपना, लेखक: गजानन माधव मुक्तिबोध, प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, पृ० संख्या १७०, मूल्य ३ रुपये ५० पैसे।

बातें जान लीं, वही दुःख जो किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक कुचले मध्य-वर्गीय के जीवन में मुँह फाड़े खड़ा हुआ है।" ('अँधेरे में', पृष्ठ ९०) मुक्तिबोध की कहानियों की 'सूरत' से हम भी कई बातें जान लेते हैं।

मुक्तिबोध की कहानियां समकालीन ज़िन्दगी की जड़ों तक जाती हैं। यह अलग बात है कि जड़ें बिखरी या सूखी हुई हैं, इसलिए कहानियाँ भी 'बिखरी' और 'सूखी' हैं : 'तुम्हारी जन्मभूमि ज़मीन, धूल और पत्थर से बनी यह भारत की धरती ही नहीं है। वह है—'गरीबी' ('जंक्शन' पृष्ठ ४३) लेकिन मात्र इतना ही नहीं। देश-काल में जीती हुई इन कहानियों में ऐसे अनुभव—चित्र, बिम्ब, प्रसंग, दृश्य और सौंदर्य-तत्त्व हैं—जीवन-प्रक्रिया की ऐसी गहरी समझ, पैठ और रचाव हैं, जो इन्हें 'चित्रण-वर्णन' या प्रस्तुतीकरण से बहुत ऊपर उठा ले जाते हैं : 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य'। लेकिन फिर भी ज़ोर मैं समकालीन ज़िन्दगी पर देना चाहूँगा। मुक्तिबोध की कहानियाँ 'अपना समय' जीते आदमी और लेखक की कहानियाँ हैं। अपनी कहानी 'अंधेरे में' मुक्तिबोध ने जिस अँधेरे, ऊब, भ्रम, दुःख और 'छोटी-सी नगण्य छाया' के जीवन की बात कही है, वह अँधेरा और जीवन हिन्दुस्तान के ९० प्रतिशत से भी ज़्यादा का है। एक ओर यथार्थ है, दूसरी ओर इस कटु यथार्थ को 'ओझल कर' किसी तरह जीते जाने का 'पाप' है : 'एक विस्तृत, शान्त खुलापन युवक को ढक रहा था और उसे सिर्फ अपनी आवाज़ सुनाई दे रही थी—पाप, हमारा पाप, हम ढीले-ढाले, सुस्त मध्यवर्गीय आत्म-सन्तोषियों का घोर पाप।' ('अंधेरे में', पृष्ठ ९६)

मुक्तिबोध की कहानियाँ कब, कहाँ, सहानुभूति करते-करते व्यंग्य कर उठेंगी, कहा नहीं जा सकता। वह जितने संवेदनशील हैं, उतने ही निर्मम'। उनकी कहानियाँ, एक साथ, कई स्तरों पर चलती हैं। या कहा जाए कि उसके विविध रूपों के अनुरूप 'बदलती' चलती हैं। हिन्दुस्तान के 'घिसटते' जीवन की जितनी सही अभिव्यक्ति इन कहानियों में हुई है, उतनी कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिली। लगता है मुक्तिबोध ने इस 'घिसटते' जीवन को अभिव्यक्त करने के लिए ही कहानी का 'परम्परागत' ढाँचा तोड़ दिया है। और वह कहानी को 'गुज़रती ज़िन्दगी' के बिलकुल क़रीब ले आए हैं। यों उनकी कहानियों में यह काम 'पात्रों की भाषा' नहीं करती। लेकिन मुक्तिबोध ने पात्रों, स्थितियों, वातावरण-निर्मिति और सोच को अपनी जो 'भाषा' दी है, वह इस बात का प्रमाण है कि उनकी पैनी नज़र से चीज़ें बहुत कम ही छूट पाई हैं। मुक्तिबोध की कहानियाँ पढ़ते हुए जानी-पहचानी राहों से गुज़रने का एहसास होता है, उनसे, जिनमें से होकर हम सचमुच गुजरते हैं, उन राहों से नहीं जो 'लेख-कीय सुविधा' के लिए अपना ली जाती हैं। मुक्तिबोध की कहानियाँ 'सामना' करती हैं, टक्कर लेती हैं, घिसटती और 'हाँफती' हैं। खण्डर, खण्डरनुमा मकान, छोटे शहर की अँधेरी सड़कें, कोई गन्दी बस्ती, प्लेटफॉर्म जहाँ 'आदमीनुमा' गंदा सामान पड़ा है, सचिवालय के अँधेरे गलियारे, 'आफ़िसों' के धुँधले गलियारे और होटलों के कोने' जहाँ 'मुट्ठियाँ गरम की जाती हैं' सरकारी 'ग्राण्ट' मंज़ूर कराने के लिए, खेत, तनिक वीराने में बरगद का पेड़—'अँधेरे में', 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य', 'विपात्र' आदि कहानियों में ऐसी जगहें अनेक हैं। और इन सभी जगहों में रहने-चलने वाला एक आदमी ऐसा ज़रूर है जो 'सोचता' है और एक साथ, एक ही दिन या रात में, भिन्न परिस्थितियों या जगहों से गुज़रता हुआ वह जो-कुछ अनुभव करता है, उसे सोच-बद्ध और शब्द-बद्ध करता चलता है। यानी वह हर स्थिति से अपने को 'अभिन्न' बना लेता है। अभिन्न बनाए बिना वह रह नहीं सकता। घिसटती ज़िन्दगी की इन कहानियों में भयंकर थकान है : "लगता था कि पैर आगे नहीं उठ रहे हैं। अगर वहीं कहीं कोई बैठने की जगह होती तो मैं अवश्य बैठ जाता। एक ग़मगीन सूनापन दिल में घिर रहा था, दिमाग़ में अँधेरे के पंख भन्ना रहे थे, भयानक व्यर्थता का भाव रह-रहकर उमड़ उठता था और अपनी असमर्थता का भान घुटनों में दर्द और दिल में कलोर पैदा करता था।···अपने बचपन और नौजवानी में ऐसे ही किन्हीं हाथों में मुझे मृत्यु के अँधेरे में चिरकाल के लिए समा जाने की इच्छा होती थी। लेकिन अब मैं इस प्रकार के कल्पना-विलास की सुविधा भी नहीं उठा सकता। मुझे इन चलते रेगिस्तानों पर पैर रखते हुए ही चलना है।" ('विपात्र', पृष्ठ १५६)

"तब दिल में एक अजीब झोल महसूस हो रहा था। दिमाग़ के भीतर सिकुड़न-सी पड़ गई थी। पतलून भी ढीला-ढाला लग रहा था, कमीज़ के 'कॉलर' भी उलटे-सीधे रहे होंगे। बाल अनसँवरे थे ही। पैरों को किसी-न-किसी तरह

आगे ढकेले जा रहा था।" (पक्षी और दीमक, पृष्ठ २१)

"और, तब लगता है कि इस सारे जाल में, बुराई की इस अनेक चक्रों वाली दैत्याकार मशीन में, न जाने कब से मैं फँसा पड़ा हूँ। पैर भिच गये हैं, पसलियाँ चूर हो गई हैं, चीख निकल नहीं पाती, आवाज़ हलक़ में फंसकर रह गई है।" (पक्षी और दीमक, पृष्ठ २५) इन पर अलग से किसी टिप्पणी की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। ये 'मात्र' वक्तव्य नहीं हैं। उस आदमी की अभिव्यक्तियाँ हैं जो सोचता है, लेकिन कुछ कर नहीं पाता। उबरना चाहता है, लेकिन उबर नहीं पाता। उबरे कैसे ? 'पक्षी और दीमक' के भगवे-खद्दर कुरते वाले नेता और विपात्र के 'बॉस' के हाथ में उसके जीवन की कुंजियाँ हैं। और ये कैसे लोग हैं : "ऐसी ही किसी जगह पर मैंने इस भगवे-खद्दर कुरते वाले को ज़ोर-ज़ोर से अँग्रेज़ी बोलते हुए देखा था। और तभी मैंने उसके तेज़ मिज़ाज और **फितरती दिमाग़** का अन्दाज़ा लगाया था।" (पक्षी और दीमक, पृष्ठ २३)

'विपात्र' के 'बॉस' भी **फितरती दिमाग़** के आदमी हैं। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उन्होंने एक विद्या-केन्द्र खोल रखा है। और इन **फितरती दिमाग़** वालों के चंगुल में फँसे हुओं की हालत यह है : "सच है कि हम श्रम बेचकर पैसा कमाते हैं। लेकिन श्रम के साथ-ही-साथ, हम न केवल श्रम के घण्टों में वरन् उसके बाद भी अपना संघर्ष-स्वातंत्र्य, विचार-स्वातंत्र्य और **लिखित अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य** को भी बेच देते हैं। और यदि हम अपने स्वातंत्र्य का प्रयोग करते-कराते हैं तो पेट पर लात मार दी जाती है। यह यथार्थ है। इस यथार्थ के नियमों को ध्यान में रखकर ही पेट पाला जा सकता है, अपना और बाल-बच्चों का।" ('विपात्र', पृष्ठ १५५) "जो कर्मचारी उनके दरबार में न बैठता वह अपने को असुरक्षित अनुभव करता, जिन कर्मचारियों को कार्यवश वहाँ जाने को नहीं मिलता, उनके मन में एक गुत्थी पैदा हो जाती कि कहीं ऐसा न हो कि उनकी अनुपस्थिति में कुछ का कुछ हो जाए।"

"इस तरह लोगों में एक अजीब दो-रुखी पैदा हो गई थी। एक ओर तो वे दरबार को छोड़कर जाने में अचकचाते थे, दूसरी ओर वे चाहते थे कि दरबार न हो और उन्हें घूमने-फिरने की खूब स्वतन्त्रता रहे। दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। इस प्रकार कभी-कभी वे अपने पर ही झुंझला उठते, कभी नपुंसक क्रोध से भर जाते। लेकिन वे प्रकट रूप से यह न कहते कि हमें दरबार अच्छा नहीं लगता।" ('विपात्र' : पृष्ठ १४५)

मुक्तिबोध ने समकालीन ज़िन्दगी की झुंझलाहट, तिलमिलाहट, मजबूरी और उसके नपुंसक क्रोध को हर जगह 'रँगे हाथों' पकड़ा है, इसके लिए उन्होंने थका देने वाली, अन्तर्मन की सैकड़ों यात्राएँ भी की हैं, और उन जगहों की भी जिनसे गुज़रता हुआ शरीर पस्त हो जाता है। "मैं मुसकरा उठा। किसी की हत्या हो या न हो, हमारी तो हो ही रही थी। यह साफ़ था। और मुझे देवकीनन्दन खत्री के उस तिलिस्म की याद आई, जिसमें से बाहर निकलना असंभव था, लेकिन जिसके भीतर के प्रांगणों में बगीचे भी थे, तहखाने भी थे और जिसमें कई नवयुवतियाँ और किशोरियाँ गिरफ्तार रहती थीं। वे घूम-फिर सकती थीं, तिलिस्मी पेड़ों के फल खा सकती थीं, लेकिन अपनी हद के बाहर नहीं निकल सकती थीं…मन-ही-मन में कल्पना करता हूँ कि क्या यहाँ **फँसे हुए लोगों की आत्माएँ** इसी प्रकार की तो नहीं हो गई हैं।…लेकिन, प्रश्न तो यह है कि इस तिलिस्म को कैसे तोड़ा जाए।" (विपात्र, पृष्ठ १६७)

तिलिस्म तोड़ने को बेचैन मुक्तिबोध की कहानियाँ 'तिलिस्म' को अच्छी तरह जान लेने की कहानियाँ हैं। लेकिन वह सिर्फ 'जान लेने' मात्र से संतुष्ट नहीं हो जाते : "सिर्फ सचाई आदमी को कुछ नहीं दे पाती, सचाई को सामने लाने के लिए भी ज़ोर और ताकत की ज़रूरत होती है। **ऐसी सचाई जो आदमी में ज़ोर पैदा नहीं कर पाती, वह सिर्फ जानकारी बनकर रह जाती है।**" ('विपात्र', पृष्ठ १२६)

मुक्तिबोध की कहानियाँ आदमी में सचाई का ज़ोर पैदा कर पाती हैं। वह तिलिस्म से परिचय करा देने के बाद उसे तोड़ने की, उससे मुक्त होने की इच्छा पैदा करती हैं। 'जहाँ मेरा हृदय है, वहीं मेरा भाग्य है।' कहकर मुक्तिबोध दुःख और खतरे में रहकर भी 'खुले मन' का सुख—सच्चा सुख—प्राप्त करने का 'संकल्प' लेते हैं।

मुक्तिबोध की कहानियों में हिन्दुस्तानी दृश्यों की भरमार है। उनकी कहानियाँ पढ़ते हुए जैसे यह बात बहुत साफ हो जाती है कि इन कहानियों की तुलना में हिन्दी के अधिकांश लेखन में 'बनाव-चुनाव' बहुत ज्यादा है, ऐसे लेखन में

भी जहाँ व्यक्ति की 'दुहाई' नहीं दी जाती। मुक्तिबोध की कहानियों के दृश्य 'वास्तविक' और 'परिचित' हैं, लगभग उसी तरह, जिस तरह की 'रेणु' की कहानियों के। मुक्तिबोध ने घिसटते हुए शरीर और इच्छाओं-कल्पनाओं वाले मन का 'पीछा' नहीं छोड़ा। वह इनके बीच की दूरियों को जानते हैं। लेकिन थकान के साथ चलने वाले उस 'पार्श्व-संगीत' को भी सुनते हैं जो 'पक्षी और दीमक' में श्यामला का है, 'काठ का सपना' में पिता और बच्ची का। मुक्तिबोध की कहानियों के कई स्तर और उनमें बजने वाला संवेदनशीलता का 'पार्श्व-संगीत' उन्हें भरा-पूरा बनाते हैं। इन कहानियों में राजनीतिक बहसें हैं, दैनन्दिन जीवन की 'तोड़ती-मारती' क्षुद्रताएँ हैं, उन्मुक्त और स्वतन्त्र-जीवन की सच्ची और खरी प्यास है, जानने की गहरी अभिलाषा है, और मन को पहचानने की तीव्र उत्कंठा है। इस 'प्रक्रिया' में निबन्धों का-सा लोच है, नाटकों के-से संवाद और स्थितियाँ हैं, कविताओं के-से चित्र और बिम्ब हैं, डायरी के-से स्वीकार हैं, संस्मरणों की-सी 'धूमिल' और ताज़ी स्मृतियाँ हैं। मुक्तिबोध की एक ही कहानी में शैली ही नहीं, बीच-बीच में भाषा भी बदल जाती है। लगता है मुक्तिबोध जो कुछ कहना और अभिव्यक्त करना चाहते थे—उसके लिए उन्होंने कोई 'बंधन' स्वीकार नहीं किए, मन की और समय की बात कहना ही उन्हें अभीष्ट रहा है। लेकिन मैं समझता हूँ कि यह स्वीकर करने में किसी को कोई दुविधा न होनी चाहिए कि उनका यह अनगढ़ शिल्प, हिन्दी की 'नई कहानी' की तमाम शिल्प-कुशलता से कहीं ज्यादा सशक्त लगता है क्योंकि मुक्तिबोध इस शिल्प के माध्यम से वे तमाम बातें कह सके हैं जो 'नई कहानी' अपने तमाम दावों के बावजूद नहीं कह पाई। हिन्दुस्तान की साधन-हीन ज़िन्दगी अपना समय किस तरह बिताती है, इस समय को बिताने में वह कैसे आकाश-पाताल एक करती है की जितनी सही और सच्ची अभिव्यक्ति इन कहानियों में हुई है, उतनी कहीं अन्यत्र नहीं। 'नई कहानी' के 'बहाव' में बहने वाले पात्र या अपने लिए विशेष जगहें चुनने वाले पात्र तो इसे कभी समझ ही नहीं पाए। कुछ लोगों—'प्रभु-वर्ग'—के चंगुल में फँसी, छटपटाती और उन्हीं का मुँह जोहती हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी की विडम्बना, उसका बढ़ता हुआ सोच और क्षीण होता हुआ कर्म, ये सभी बातें अपनी समग्रता में और ससंदर्भ मुक्तिबोध की कहानियों में आ सकी हैं: 'क्लॉड ईथरली', 'अँधेरे में', 'विपात्र', 'पक्षी और दीमक' आदि।

उनकी कहानियों में कहीं-कहीं बिखराव ज़रूर अखरता है। और कहीं-कहीं मुक्तिबोध का 'फक्कड़पन' बात की सीधी चुभन के आड़े आ जाता है—बदले हुए प्रसंग में किसी 'चली आ रही बात' की तीव्रता कम हो जाती है। लेकिन इसके बावजूद मुक्तिबोध की ये कहानियाँ अपने में इस तरह बाँध लेती हैं कि उनसे छूटने का मन नहीं होता। 'सचाई' और 'मन की बात' की खोज किसी भी तरह से की जा रही हो, अगर की जा रही है, तो ज़ोर पैदा होगा ही। और यही 'ज़ोर' शायद विशेष ढंग या शिल्प के नाम से जाना जाएगा। मुक्तिबोध की कहानियों का यही ज़ोर, उनका शिल्प है। ●

समय की सलवटें और आधा गांव

भगवान सिंह

'महान्', 'महत्त्वपूर्ण', 'उत्कृष्ट' या 'युगान्तरकारी' कृतियों से ऊबा हुआ कोई आदमी यदि किसी रचना के साथ 'इस दौर का महानतम आंचलिक उपन्यास' शब्द लगा देखे तो इस विज्ञापन से उसे कोई विशेष आशा बँधे ही, यह आवश्यक नहीं है। कारण, किसी भी कृति को किसी दौर की महानतम कृति सिद्ध किया जा सकता है, यदि दौर का आरम्भ उस समय के बाद से माना जाए जिसके बाद की वह महानतम कृति सिद्ध होती हो। परन्तु राही मासूम रज़ा का उपन्यास **आधा गाँव** पढ़ने के बाद लगता है प्रकाशक ने 'इस दौर का' और 'आंचलिक' इन दो सीमाओं को रखकर संयम से ही काम लिया है।

किसी महान् कृति और सुन्दर कृति में ठीक वही भेद होता है जो किसी महान व्यक्ति और सुन्दर व्यक्ति में होता है। आवश्यक नहीं कि जो महान् हो वह सुन्दर भी हो। महान् कृति के अस्तित्व के कई स्तर होते हैं। इसके लिए तीव्रता, जटिलता, तनाव, आयामों के वैविध्य, परिप्रेक्ष्य के विस्तार तथा अनुभवों की प्रामाणिकता की आवश्यकता होती है। इन सभी दृष्टियों से देखने पर **आधा गाँव** एक असाधारण और कुछ सीमा तक महान् उपन्यास सिद्ध होता है।

इसकी कुछ झलक उपन्यास के आरम्भ में ही मिल जाती है जब लेखक कहता है, 'यह कहानी न कुछ लोगों की है और न कुछ परिवारों की। यह उस गाँव की कहानी भी नहीं है जिसमें इस कहानी के भले-बुरे पात्र अपने को पूर्ण बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह कहानी न धार्मिक है न राजनीतिक।' स्पष्ट है कि लेखक को यह विश्वास था, और उपन्यास को पढ़ने के बाद लगता है उसका यह विश्वास गलत भी नहीं था कि इस कहानी को इनमें से किसी भी दृष्टि से पढ़ा जा सकता है। परन्तु इसके आयामों का वैविध्य इतने से ही पूरा प्रकट नहीं हो पाता, क्योंकि यह उस पतली रेखा की भी कहानी है जिसने हिन्दुओं को अधिक हिन्दू और मुसलमानों को अधिक मुसलमान बना दिया; वह रेखा जो पहले कागज़ पर, फिर ज़मीन पर और अन्ततः पूरे देश के जीवन पर खिंच गई थी। वह कहानी विभाजन की है, पर विभाजन कहीं सामने नहीं आया है। वह प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त हुआ है, और इस अर्थ में गंगोली गंगोली भी है और पूरा देश भी।

यह कहानी टूटते और भहराते हुए सामन्ती मूल्यों और मान्यताओं की भी है, धार्मिक रूढ़ियों और विश्वासों की भी है। परम्परावादी समाज का स्थान लेने वाले नए सामाजिक तत्त्वों की भी है। और इन दृष्टियों से भी यह केवल एक गाँव की कहानी नहीं है, अपितु पूरे देश की कहानी है। कहानी एक साथ इतने स्तरों पर चलती है, इन सभी स्तरों के धागे एक-दूसरे को काटते हुए इस तरह की बहुरंगी बुनावट तैयार करते हैं कि हमें सदा यह डर लगा रहता है कि इनमें से कोई सूत्र हाथ से खिसक न जाए। इस सतपहली बुनावट के कारण ही लेखक ने सबको एक में समेटते हुए लिखा है, 'यह कहानी है समय की ही। यह गंगोली में गुज़रने वाले समय की कहानी है।' हाँ, यह कहने का एक ऐसा ढंग है जिसमें तमाम उलझावों का एक और लगभग अचूक उत्तर निकल आए, चाहे यह उत्तर अपने-आपमें कितना भी अस्पष्ट क्यों न हो। कारण, सामान्यतः कोई भी कहानी समय की ही कहानी होती है, चाहे वह समय गंगोली गाँव में गुज़रे या किसी व्यक्ति के जीवन में या किसी पूरे देश में; और यदि इसे शब्दशः लिया जाए तो कोई भी कहानी समय की कहानी नहीं होती। समय इतना अमूर्त और निर्वैयक्तिक होता है कि उसकी कोई कहानी हो ही नहीं सकती।

गंगोली नाम का यह गाँव शीया और सुन्नियों में, सैयदों और जुलाहों में, उत्तर पट्टी और दक्खिन पट्टी में, और यदि आस-पास के पुरवों को भी लें तो हिन्दुओं और मुसलमानों में, छूतों और अछूतों में और एक निश्चित सीमा तक ज़मींदारों और असामियों में बँटा हुआ है। पूरी कहानी इन्हीं में तनी-कसी है और कहानीकार इनमें से हर एक को

१. आधा गाँव, लेखक राही मासूम रजा, प्रकाशक अक्षर प्रकाशन, १९६६, मू० १०-५० पैसे।

छूने के प्रयास में कथासूत्र को करघे की ढरकी की तरह एक सिरे से दूसरे तक दौड़ाता रहता है।

यह कहानी मुहर्रम के त्योहार से शुरू होती है और पूरी कहानी इस त्योहार को ही केन्द्र बनाकर फैलती है। लगता है इस गाँव में केवल एक ही घटना होती है—मुहर्रम का त्योहार। लोग इसकी तैयारियों में, इसके आयोजनों में और इसकी स्मृतियों में जीते हैं। लगभग आधे उपन्यास तक ज़िन्दगी का केवल एक ही लक्ष्य रहता है—अगले मुहर्रम और अगले और अगले मुहर्रम के त्योहार में भाग लेना; पर कहानी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है मुहर्रम का यह त्योहार फीका पड़ता जाता है और उभरते जाते हैं इसी अनुपात में ज़िन्दगी के छोटे और बेडौल मरहले। हम कह सकते थे कि यह पूरी कहानी मुहर्रम के त्योहार की कहानी है, पर मुहर्रम भी मुहर्रम से अधिक परम्परावादी जीवन-पद्धति का प्रतीक ही है।

इस कहानी का चरम द्वन्द्व-बिन्दु लगभग तीन-चौथाई उपन्यास के बाद आता है जहाँ लेखक ने एक भूमिका देकर पूरी कथा को बड़े सुन्दर ढंग से सँभालने और मोड़ने का प्रयत्न किया है। यही वह बिन्दु है जहाँ पहले के तीन-चौथाई उपन्यास की ओर से आती हुई तिरछी धूप इससे आगे की छायाओं को मनहूस और लम्बी बना देती है। ठीक यही बिन्दु विभाजन का भी है। ठीक यही बिन्दु ज़मींदारी-उन्मूलन का भी है। ठीक यहीं पर वह बिन्दु है जहाँ हिन्दुस्तान का मुसलमान अपने भीतर यह टटोलने की कोशिश करता है कि वह कितना अपने गाँव का है और कितना अपने मज़हब का, कितना भारतीय और कितना मुसलमान।

इससे पहले अपने बेटे के थानेदार हो जाने की संभावना और ऊपर की आमदनी की आशा पर रेलगाड़ी खरीदने का सपना देखने वाले और रेलगाड़ी के अस्तबल की फिक्र करने वाले हकीम साहब इसके बाद पाकिस्तान, कांग्रेस और कम्मो की मार से जीवन से निराश हो जाते हैं, उनके पाँव में चोट लगती है और वे पाखाने में बेहोश पाए जाते हैं और भाग्य की विडम्बना यह कि उनके निदान और तीमारदारी के लिए उसी हरामी कम्मो को बुलाया जाता है जिससे वह जीवन-भर नफरत करते रहे थे और जिसे देखकर वह अपने जीवन की उस करुण घड़ी में भी चीख पड़ते हैं, 'तें हमरा इलाज करिह्यो?' उनकी समझ में नहीं आता कि जब सरकार ने उनकी ज़मींदारी ले ली···कम्मो ने उनके मरीज़ ले लिए···तो वह जी क्यों रहे हैं। उनके मोहभंग को उन्हीं के शब्दों में रखें तो—'ज़िन्दगी-भर नमाज़-रोज़ा किया तो ओका बदला ई मिला कि डॉक्टर कमालुद्दीन आके नब्ज़ देख गए। हे बेटा, अल्लाह मियाँ की हाँ इन्साफ जाता रहा···'

पूर्वार्ध के अकड़मिजाज़ सैयद परिवार जिन्हें यह गवारा नहीं था कि 'जुलाहिनें सैयदानियों से अकड़ें' अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि 'ई सैयदी बघारने का ज़माना है? अरे मियाँ, जै दिन इज़्ज़त-आबरू से गुज़र जाएँ तो गनीमत जानो।' हड्डियों की पवित्रता का खास खयाल करने वाले और माकूल हड्डियाँ न मिलने पर हरामी सन्तानें पैदा करने वाले ये ही सैयद इस कठोर सत्य से आमने-सामने खड़े हैं कि 'हड्डी-उड्डी ज़मींदारी का चोंचला रहा।' जुलाहों का कुर्सी पर बैठना गवारा न करने वाले सैयदों को यह दिन देखना पड़ता है कि दो सैयदज़ादे हरामी कम्मो की नौकरी बजाते हैं और फुस्सू मियाँ इमामबाड़े के कमरे में जूते की दूकान कर लेते हैं।

अन्त आने-आने तक पूरा चित्र बहुत ही करुण हो जाता है। घर खाली हो जाते हैं और हर ज़नाना कमरबन्द में कुंजियों का भारी गुच्छा लटकने लगता है जिनमें से एक-एक के साथ शेष रह जाती है यह याद कि फलाँ कुंजी किस ताले की थी या है। लुतरी बीवियाँ खामोश हो जाती हैं। जब लड़के ही न हों तो कोई लड़कियों को किसके साथ बदनाम करे! हम्माद मियाँ और जवाद मियाँ के अलावा किसी में अपने दरवाज़े पर बैठने का हौसला नहीं रह जाता है, पर दूकान की बदौलत फुस्सू मियां इस लायक हो गए हैं कि दूकान बढ़ाने के बाद अपने दरवाज़े पर बैठ सकें।

यह पूरा पट-परिवर्तन बड़े ही चुप-चुप लहजे में सिर्फ जहाँ-तहाँ झटके देता हुआ कुछ इस तरह घटित होता है कि लगता है समय नाम की उस अदृश्य और अमूर्त चीज़ पर सचमुच सलवटें पड़ती जा रही हों। इन सलवटों को उभारने के लिए समय जैसी ही अचूक और पारदर्शी हजारों-हजार आँखों की आवश्यकता होती है और वह इस लेखक में है। वह स्वयं इस पूरे परिदृश्य के बीच बैठा, जो कुछ जिस अनुपात में दिखाना चाहता है, दिखाता चला जाता है और पूरी कहानी को बड़ी सँभाल से अपने नियन्त्रण में बनाए रखता है, पर हम कहीं भी उसकी उपस्थिति से सचेत नहीं होने पाते,

यह उसकी बहुत बड़ी सफलता है।

कहानी कहने और उसे अपने नियन्त्रण में बनाए रखने की दृष्टि से यशपाल का भी जवाब नहीं है, पर उनका नियन्त्रण कहानी के लिए भारी पड़ता है। वह पात्रों और परिस्थितियों को विस्थापित करके अपनी कहानी का ताना-बाना तैयार करते हैं। एक शब्द में कहें तो वह अपने पूर्वपरिचित पात्रों को, पूर्वनियोजित परिस्थितियों में डालकर पूर्वकल्पित परिणतियों पर पहुँचा देते हैं। कहानी उनके संकेत पर गुलाम बीवी की तरह नाचती रहती है। उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं बन पाता। हमें कहीं यह डर नहीं लगता कि कहानी कहीं लेखक पर हावी न हो जाए, उसे अलग दिशा में बहका न ले जाए। 'आधा गाँव' की कहानी ठीक इसके विपरीत है। इसका अपना व्यक्तित्व इतना सशक्त है कि हर क्षण इस बात की चेतना बनी रहती है कि अब कहानी लेखक को अपनी लपेट में ले चुकी है और अन्त में जब हम लेखक की पूरी कथा-धारा को निभाने में सफल पाते हैं तो उसकी सराहना करने का जी होता है। केवल अन्त में ही पहुँचकर हमें यह आभास होता है कि इस पूरे दौर में हर क्षण लेखक ने अपनी कहानी पर पूरा नियन्त्रण बनाए रखा था।

इसमें वर्णित जीवन, चित्रित पात्र और घटित घटनाएँ सभी वास्तविक जिन्दगी में धँसकर चलने वाले किसी कथाकार की ही सृष्टि हो सकती है। पिकनिक के सिलसिले में देहात में जाने वाला आदमी मिगदाद की और फुन्नन मियाँ की और हकीम साहब की सृष्टि नहीं कर सकता, न ही मेज पर बैठकर कोई यह समझ सकता है कि सिर्फ एक लिपि के अन्तर से नौहे का रंग और असर किस तरह फीका पड़ जाता है। इत्रवसित कमरों से इत्रवसित कमरों तक जीने वाले, धूल और धुएँ से भरी हवा से दामन बचाकर चलनेवाले और कोलतार की सड़कों का भी इस आनबान से वर्णन करनेवाले लेखक, मानो वे संगमर्मर की हों, जिंदगी की इतनी सही, साफ और पूरी तस्वीर नहीं दे सकते। अधिकांश लेखक साधारण लोगों के बीच बाइज्जत ढंग से पहुँचते हैं कि उनके चारों ओर आभिजात्य का एक पतला कांच लगा रहता है। वास्तविक जीवन का उनका ज्ञान और अनुभव इस कांच की दीवार के पीछे से देखे गए जीवन का ही ज्ञान और अनुभव होता है। बाहरी दुनिया की ऊपरी चेष्टाएँ तो उनकी नजर में आ जाती हैं पर उन चेष्टाओं के साथ उच्चरित शब्द उन्हें सुनाई नहीं पड़ते और चूँकि शब्द भी अपने आप में चेष्टा ही हुआ करते हैं अत: इनके अभाव में जिन्दगी का लहजा उनकी पकड़ में नहीं आता। इस उपन्यास को कोई ऐसा ही आदमी लिख सकता था जो इतना साधारण हो कि किसी को सुर्ती मलते देखकर हाथ फैला दे, किसी को गाली देते सुनकर जिसके कान लाल न हो जाएँ, बल्कि जो मन-ही-मन खुद भी दो-चार पैनी गालियाँ बुदबुदा ले कि कहीं ये गालियाँ उसे भूल तो नहीं गईं, जो किसी को रोटी खाते देखकर लपककर उसमें से एक टुकड़ा तोड़ ले। यही कारण है कि इस उपन्यास के पात्र अपनी कच्ची-पक्की जिन्दगी जीते हैं, जीवन दर्शन नहीं। वे इस अहसास के साथ आचरण नहीं करते कि वे व्यक्ति हैं, टाइप नहीं, और उन्हें कोई ऐसा काम नहीं करना है जिससे वे व्यक्ति के ऊर्ध्व-विन्दु से खिसककर किसी टाइप में आ गिरें।

कोई भी व्यक्ति यदि वह अपनी जिन्दगी जीता है तो वह व्यक्ति ही रहता है, टाइप नहीं हो जाता। टाइप वह केवल उसी स्थिति में हो जाता या दिखाई देता है जब हम उसके बहुपक्षीय जीवन का केवल एक ही पक्ष देखते या दिखाते हैं, जब हम उसके जोवन के पूर्ण सत्य के स्थान पर अधूरे सत्यों का साक्षात्कार करते हैं। व्यक्ति न तो अपनी असामान्यता के कारण व्यक्ति बनता है, न ही सामान्यता के कारण टाइप। जिस पात्र को हर विन्दु पर यह चिन्ता बनी हो कि वह व्यक्ति है टाइप नहीं, उससे अच्छा टाइप हमें कहाँ मिलेगा! हर आदमी एक निश्चित सीमा तक टाइपों का एक संश्लिष्ट गुम्फन होता है, उसके साथ अनेक मुखौटे लगे होते हैं। जहाँ कथाकार केवल एक ही मुखौटे को अन्तिम और ध्रुव मान लेता है वहाँ वह टाइपों का आविष्कार करने लगता है। इस तरह के पात्रों की सृष्टि किताबों के मैदान में जिन्दगी से जूझने वाले और बनिया से बनिया और अध्यापक से अध्यापक के रूप में रब्त-जब्त रखने वाले कथाकार ही करते हैं, जिन्हें यह ध्यान ही नहीं आता कि बनियागीरी, या अध्यापकी सिर्फ एक पेशा है, और आदमी पेशे से अधिक हुआ करता है। जैसे हमें सभी भेड़ें एक जैसी दिखाई देती हैं, पर गड़रिया इनमें से एक-एक को अलग पहचान लेता है, उसी तरह इस तरह के लेखकों को एक पेशे या जिन्दगी के ढर्रे से बँधे सभी लोग एक जैसे ही मालूम होते हैं। लेकिन व्यक्तियों की पहचान के लिए जिन्दगी का गड़रिया बनने की

जहमत उठानी पड़ती है। इस उपन्यास के मिगदाद, फुन्नन मियाँ, अब्बू मियां, झंगटिया बो, मौलवी बेदार, बलारम चमार, गया अहीर, अवनारुल हसन राकी और तमाम दूसरे पात्र हड्डी-पसली तक सजीव और पूर्ण पात्र हैं और जितने अंशों में वे पूर्ण हैं उतने ही अंशों में व्यक्ति हैं, टाइप नहीं।

कोई भी साहित्यिक कृति **शब्दों से शब्दों की ओर एक सार्थक यात्रा** हुआ करती है—**सही और सार्थक शब्दों की अन्तहीन तलाश**। अत: भाषा के स्तर पर किसी रचना की सफलता एक विचारणीय पहलू है। सही और सार्थक भाषा चमकीले और पालिश किये हुए शब्दों की ही नहीं हुआ करती है। उसमें कुछ पैने कोर और कोने भी हुआ करते हैं। 'आधा गाँव' की भाषा इस गाँव की मिट्टी को खरोंचकर निकाली गई भाषा है। जिन्दगी का अपना एक खास लहजा, एक खास रंग होता है; उसकी अपनी एक लय होती है। यही लय ज्यों-की-त्यों बोली में भी प्रकट होती है। भाषा के सही लहजे की पकड़ जिन्दगी के सही लहजे की पकड़ का ही दूसरा नाम है। इस दृष्टि से राही मासूम रजा को अपनी भाषा पर अधिकार है। 'पगला गइल बाड़ा लोग! एक ठो हुमिच के घर देइब त चिचियावत चल जय्यूहा लोग…' जैसे वाक्य और 'अनकुस', 'लुतरी', 'हवन्नक', 'दाज', 'टर्राना', 'दन', और 'नंगाझोरी' जैसे शब्द इस अधिकार के साक्षी हैं। भाषा पर यही अधिकार नागर और रेणु को भी है पर उनका एक बड़ा दोष यह है कि भाषा का मोह उन्हें जगह-जगह अपने-आपमें लपेटता मालूम होता है, उनके साथ अक्सर ऐसा लगता है कि वे भाषा का करिश्मा दिखाने के लिए एक निश्चित स्थिति तैयार कर रहे हैं, राही के साथ इस तरह का भ्रम नहीं पैदा होता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि राही को भाषा सम्बन्धी कोई भ्रम लपेटता ही नहीं, या उनकी भाषा में कहीं दोष दिखाई देता ही नहीं। 'खौरा' के लिए कुत्ते की खुजली और 'कहतरी' के लिए 'कतहरी', मारिहो के स्थान पर 'मरीहो' जैसे प्रयोग और कहीं-कहीं बोलचाल की लड़खड़ाती हुई लय जहाँ इस बात के संकेत है कि कहीं-कहीं भाषा की सही पकड़ लेखक के हाथ से छूट गई है, वहीं शरीर की कुछ रासायनिक निष्कृतियों के वर्णन का आनुपातिक महत्त्व यह सूचित करता है कि लेखक एक बहुत बड़ी दीवार तोड़ रहा है और इस दीवार को तोड़ने के उत्साह में कहीं-कहीं वह ईंटों को कूटने बैठ जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश स्थलों पर लेखक ने गालियों का इतना सुन्दर उपयोग किया है कि लगता है कि इन गालियों को हटा दें तो इन वाक्यों का 'फोर्स' ही मर जाएगा। हकीम जी जो कुछ 'महँगाई गांड मार दिहले बाय' कहकर कहते हैं, या फुन्नन मियाँ जो कुछ "तू जमीदार न रहे होतियो त का ओ तोरी बहिनया न चोद देता" कहकर कह लेते हैं उसे अन्यथा भी किसी तरह कहा जा सकता था, यह मेरी समझ में नहीं आता। इसके अतिरिक्त ये गालियाँ किसी तरह की बदमजगी नहीं पैदा करतीं। ये न केवल उस जीवन का तकिया कलाम हैं, ये न केवल खीझ, क्रोध और बेबसी को अधिक तीखा बनाती है, अपितु इससे भी आगे बढ़कर ये दो व्यक्तियों की सामाजिक हैसियत को भी रेखांकित करती हैं। ऐसी कच्ची गालियों का, जिन्हें बोलिए तो हवा और छापिए तो टाइप के 'फेस' टेढ़े हो जाएँ, मासूम इस सफलता से प्रयोग करते हैं कि पूरा चित्र हमारे सामने आ जाता है। वे कलात्मक महत्व पा जाती हैं। गालियों का इस तरह का प्रयोग किसी भी लेखक के साहस और शक्ति की माँग करता है, और वह इस लेखक में है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

परन्तु जब वह जवान के 'इत्मीनान से पादने', की बात करता है या जब वह यह सूचना देता है कि 'रहमान बो और फिद्दू के खयाल में उनके पादने का डंका उसी जोर-शोर और आन-बान से बज रहा था। हाँ, घर के बाहर अब वह जरा देख-भालकर पादा करते थे।' या जब वह औरतों के गाने में 'समधिन के शरबत पीकर मतवाली होने और छुल·· छुल··· मूतने की' बात करता है तो लगता है वह अपने साहस की लपेट में आ गया है। यह सच है कि ये बातें भी उतनी ही सच और स्वाभाविक हैं और चित्रित जीवन में उतने ही बेझिझक ढंग से कह और गा ली जाती हैं जितने बेझिझक ढंग से उपरोक्त गालियाँ, परन्तु यह भी सच है कि कला, कला होने की अपनी विशेषता के कारण निरे यथार्थ से अधिक भी कुछ हुआ करती है। वह यथार्थ से अधिक यथार्थ का भ्रम हुआ करती है, जीवन के यथार्थ टुकड़ों में से संगत और वांछनीय का चुनाव हुआ करती है, थोक यथार्थ नहीं। ये ही ऐसे विन्दु हैं जहाँ किसी लेखक से अनुपात और

संयम की अपेक्षा की जाती है। यदि इनके कारण कोई भी ऐसा मतलब हल होता जो गालियों से होता है तो इनसे किसी को आपत्ति नहीं हो सकती थी, पर ऐसा होता नहीं लगता। हम यह भी नहीं कह सकते कि लेखक में ऐसे क्षणों को उपयुक्त भाषा में ढालने का सामर्थ्य नहीं है। ऐसे ही एक नाजुक क्षण में जब वह कहता है, "औरतों ने अपने काम बन्द कर लिये। वह बिलकुल नामुमकिनुल-अमल किस्म की गालियाँ बक रहे थे।" तो हमें उसकी सतर्कता के प्रति सन्देह नहीं रह जाता, पर इन अवांछनीय अंशों से केवल इतना ही प्रकट होता है कि उसने कहीं-कहीं अनुपात से काम लिया है।

भाषा की ही तरह इसके व्यंग्य भी सीधे जीवन से उठाए हुए व्यंग्य हैं। इस तरह के व्यंग्यों को भाषा-चमत्कार के बल पर ऐंठने-कातने की आवश्यकता नहीं होती है अपितु इन्हें मात्र पहचानकर ऊपर उठा देना होता है। अपनी पट्टी की मजलिस में मरशू का बेहोश हो लेना और दखिन पट्टी का अपने किसी आदमी के बेहोश न हो पाने की लाचारी पर अपने को लानत भेजना; मासूम का बेहोश होने की कला का अभ्यास करना; हम्माद मियाँ का अपने बड़े भाई की शेरवानियों का बक्स पा जाने के बाद उर्दू बोलना शुरू कर देना; अपनी भतीजी के नौहा पढ़ने के पहले मौके पर सिब्बू और सईदा मियाँ की बीवियों का जरा जी लगाकर रोने पर तैयार होना; हकीम साहब का रेलगाड़ी खरीदने से निराश होने पर लोहे का ऐसा हाथी खरीदने का सपना देखना जिसका काम छोटे से अस्तबल से ही चल जाएगा, और जो गन्ना नहीं खाता, बल्कि तेज महक वाला अंग्रेजी मिट्टी का तेल पीता है; रहमतुवा के अपने बाप को अब्बा कहने पर फुन्नन मियाँ की आपत्ति 'तू हीं अपने बाप को अब्बा कहे लगियो, तो शरीफ लोगन के लड़के अपने बाप को का कहके पुकरिहैं !' (और वह तब जबकि फुन्नन मियाँ निरक्षर भट्टाचार्य हैं और रहमतुवा अलीगढ़ विश्वविद्यालय का विद्यार्थी, लेकिन कुछ भी हो वह है तो जुलाहा ही।) 'अल्ला रसूल का नमवा मुई हिन्दी में लिखा जाने पर' सईदा की माँ का अपने गालों पर तमाचे मारना; सईदा का हँसना और फिर जल्दी-जल्दी अपनी हँसी को रोककर अपने गालों पर हल्के-हल्के तमाचे मारना "तोबा-तोबा! खुदा हमें माफ करे। आठ मोहर्रम को हँसने वाले पर खुदा की फटकार।" ये सभी गढ़े हुए व्यंग्य नहीं है बल्कि जिन्दगी से उभारे हुए व्यंग्य हैं और व्यंग्य से अधिक उस व्यंग्यपूर्ण जिन्दगी को ही सामने लाते हैं। शब्दों का व्यंग्य जहाँ पुराना पड़ जाता है, वहाँ इस तरह के व्यंग्यों का भंडार अक्षुण्ण रहता है।

इस पूरे उपन्यास में लेखक ने घटनाओं के वर्णन में जो संयम और धैर्य दिखाया है, वह सराहनीय हैं। इसमें किसी तरह की अतिरिक्त भावुकता से काम नहीं लिया गया है, किसी तरह के आदर्शीकरण को आड़े नहीं आने दिया गया है। सबसे विचित्र है उस रेखा के लिए लिया जाने वाला निर्णय जो उनके जीवन को इतने दूर तक प्रभावित करने वाली है। कोई नहीं जानता कि वह अपने मतदान से कितना बड़ा निर्णय लेने जा रहा है। हकीम साहब पाकिस्तान को इसलिए वोट देने जा रहे हैं कि 'हादी और सद्दन की तरक्की का सवाल है।' छिकुरिया की समझ से "पाकिस्तान कउनो महजिद-ओहजिद होई।' और उसकी लालसा है कि पाकिस्तान गाजीपुर में बनता तो वह भी देख लेती। दुल्लन 'ले के रहेंगे पाकिस्तान का नारा इसलिए लगाता है कि उसने "मार लड़कों को यही चिल्लाते सुन लिया है।" पाकिस्तान की चर्चा लगभग उपन्यास के आरम्भ में ही एक अनपहचानी गन्ध के रूप में आने लगती है और अन्त तक बनी रहती है, पर कहीं इसको लेकर बहुत अधिक हो-हल्ला नहीं मचाया गया। जिन्दगी के रोज-मर्रा के ढर्रे में इसकी चर्चा आती है, इस पर बात होती है और टल जाती है और अलीगढ़ी छात्रों के आने पर भी इसका मजाक तो बनाया जाता है पर कोई खास तूल नहीं खड़ा किया जाता। यह तो उस सबसे महत्वपूर्ण घटना की बात हुई जो इस उपन्यास में घटती दिखाई गई है या जिसके घटने का संकेत दिया गया है, अन्य घटनाओं की कल्पना हम इसी से कर सकते हैं।

पूरे उपन्यास में अलग-अलग पात्रों को बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है, और कहीं-कहीं केवल एक वाक्य में पूरे चरित्र को उभारकर सामने ला दिया गया है पर ये सभी चरित्र एक सीमा के बाद जाकर इस गाँव के ही चरित्र का अंग बन जाते हैं। हम कह सकते हैं कि इस पूरे उपन्यास में सबसे साफ तराशा हुआ चरित्र यदि किसी का है तो वह इस गंगोली का। मेले के लोग अपने-आपमें जितने भी सजीव और विशिष्ट क्यों न हों, उन सबको उस दायरे में देखने पर मेले का ही चरित्र सामने आता है। इस उपन्यास में भी दूसरे चरित्र इस गंगोली नामक पात्र के चरित्र की रेखाएँ हैं।

हिन्दू और मुसलमान पात्रों को प्रेमचन्द ने बड़ी चेष्टा के साथ एक जगह रखने या लाने का प्रयास किया है, पर हिंदुओं के साथ मुसलमानों का उनका चित्रण मात्र आदर्श-प्रेरित है। वे सचमुच दो स्थानों और स्थितियों से लाए हुए से लगते हैं। यहाँ भी दोनों तरह के पात्र एक साथ हैं, पर वे हैं इसलिए हैं। वे एक दूसरे से केवल प्यार करते हों सो नहीं। हकीम साहब किसी काफिर की नब्ज देखने पर हाथ धोते हैं या हौज में नहाते हैं, ठाकुर जयपाल सिंह किसी मुसलमान का छुआ पानी नहीं पीते पर एक बेवा ब्राह्मणी इस बात से निराश हो जाती है कि ताजिया गुजरते समय उसके घर का कुछ हिस्सा उसकी रगड़ से गिर नहीं गया। हिन्दू और मुसलमान इसमें गले मिलते दो यारों की तरह नहीं चित्रित हैं बल्कि कँटीली झाड़ियों की तरह एक दूसरे में नथे-गुंथे हैं, पर इनका लगाव उतना ही सही है जितना अलगाव। वे एक दूसरे के निकट और अभिन्न हैं कि एक के बिना दूसरा अपनी पहचान खो दे। उनकी हिन्दुआई और इस्लामियत परस्पर विरोधी दिशाओं में तनी हुई उन डोरियों जैसी हैं जिनके सहारे इनके बीच में उनके अस्तित्व की लकड़ी खड़ी है। कोई भी डोर टूटे या ढीली पड़े तो यह लकड़ी ठीक इसी तरह तनी नहीं रह जाएगी। वे कट्टर हिन्दू हैं और कट्टर मुसलमान पर इन सबसे अधिक वे कट्टर आदमी हैं। वे चिरौंजी भी हैं, बारिखपुर के ठाकुर जयपालसिंह भी हैं, फुन्नन मियाँ भी हैं और कुलसुम भी। ये हिन्दू या मुसलमान से अधिक उस गाँव के हैं, नील के उस गोदाम के हैं, उस तालाब के हैं और कच्चे रास्तों के हैं, वे उस जमीन के हैं जो उन्हें एक-दूसरे से कसकर बाँधे है और जो उन्हें हर एक मोड़ पर हिन्दू या मुसलमान से अधिक एक आदमी के रूप में व्यवहार करने को प्रेरित करती है। यह एक ऐसा बिन्दु है जिसको रेखांकित करना इस उपन्यास के उद्देश्यों में से एक रहा है पर इस उद्देश्य की सिद्धि जीवन की वास्तविकता या कला की शर्तों के साथ छल करके नहीं किया गया है। इस उद्देश्य की सिद्धि किसी सतही भावुकता, कृत्रिम हृदय-परिवर्तन या अस्वाभाविक आत्मबलिदान द्वारा नहीं की गई है। इसकी सिद्धि की गई है घृणा और प्रेम के दुहरे द्वन्द्व से।

इस उपन्यास या किसी अन्य उपन्यास के साथ आंचलिक शब्द का प्रयोग बहुत भ्रामक है। यदि अंचल का अर्थ कोई सीमित ग्रामीण प्रदेश माने तो शहरों को छोड़कर अन्य किसी भी क्षेत्र को विषय बनाकर लिखा गया उपन्यास आंचलिक होगा, क्योंकि कोई भी उपन्यास एक निश्चित क्षेत्र और कतिपय विशिष्ट पात्रों तक ही सीमित रहता है, सार्वभौम नहीं होता। किसी क्षत्र की संस्कृति के आधार पर भी किसी उपन्यास को आंचलिक नहीं कहा जा सकता। कोई उपन्यास संस्कृति को विषय बनाकर ही लिखा जाता है। वह मात्र वातावरण सृष्टि के रूप में प्रयुक्त होती है और इस दृष्टि से जैसे कोई उपन्यास वातावरण-प्रधान नहीं हो सकता वैसे ही आंचलिक भी नहीं हो सकता। निश्चय ही आंचलिकता का विशेषण कृतियों के साथ इनकी भाषा को लेकर जोड़ा जा रहा है। यदि लेखक स्थानीय शब्दों का प्रयोग करे तो वह आंचलिक हुआ, ऐसे शब्दों को प्रयोग न करे तो सार्वभौम हुआ। पर कोई भी उपन्यासकार स्थानीय शब्दों का प्रयोग अपने उपन्यास को आंचलिक बनाने के लिए नहीं करता। जैसा कि हम देख आए हैं, इस तरह के शब्दों और वाक्यों के माध्यम से ही वह उस जिन्दगी के सरगम को पकड़ सकता है और वही वह करता है। हर स्थान के कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनमें अर्थ से अलग एक ऐसी विशिष्ट गूँज होती है जो अकेले ही एक पूरे वातावरण की सृष्टि कर देती है। यदि किसी लेखक को इस तरह की खास रंगत वाले शब्दों की पहचान है तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि उसकी कृति को आंचलिक खाते में डाल दिया जाये।

किसी उपन्यास को पूरी उपन्यास-परम्परा से काटकर किसी फुटकर खाते में डालने से एक तो यह देखने के स्थान पर कि वह एक उपन्यास के रूप में कितना विशिष्ट है, हम उसमें आंचलिकता आदि फुटकर विशेषताओं को तलाश करने लगते हैं और उस कृति के सही मूल्यांकन के रास्ते में बहुत बड़ी दीवार खड़ी कर लेते हैं। इस तरह जो कृति पूरे हिन्दी उपन्यास की एक महत्त्वपूर्ण और असाधारण उपलब्धि हो सकती है, वह किसी दौर का महानतम उपन्यास बन जाती है, जैसे कोई राष्ट्रीय महत्त्व का व्यक्ति अपनी गली का रवीन्द्रनाथ बनकर रह जाए। आंचलिकता संभवतः 'लोकल कलर' के लिए हिन्दी का एक गढ़ा हुआ शब्द है, और अंग्रेजी का 'लोकल कलर' जहाँ कुछ अर्थ रखता है वहाँ यह निरा चामत्कारिक विभाजन है। इस उपन्यास का महत्व महानतम आंचलिक उपन्यास होने में नहीं है, अपितु एक महान उपन्यास होने में। ●

विनिमय

देहवाद और विद्रोह

डॉ० नामवर सिंह द्वारा सम्पादित 'आलोचना' के पहले अंक में अशोक वाजपेयी का एक लेख है : 'आज के साहित्य में आक्रामकता' उसकी कुछ पंक्तियाँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं : 'एक सांश्लिष्ट दृष्टि या संश्लेषण पाने के लिए विकल दृष्टि के अभाव में साहसिकता स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में सीमित रह जाती है···

''हिन्दी में प्रगतिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह रहा है कि उसने समूची राजनीति को लेखक के लिए अछूत-सा बना दिया। यह अजीब व्यंग्य था कि मानवीय मूल्यों और नियति के प्रति गहरी संवेदना का दावा करने वाले नए लेखक को राजनीतिक उथल-पुथल, उतार-चढ़ाव, मूल्यों की टकराहट और दिशा से कोई सरोकार ही नहीं रह गया और अधिकांश नया साहित्य समकालीनता का दम भरते हुए भी वास्तविक समकालीनता से कटा हुआ सुरक्षित साहित्य होता चला गया···''

अशोक वाजपेयी के लेख की अनुगूंज हमें 'आलोचना' के सम्पादकीय में भी दिखाई देती है। नामवर का कहना भी यही है कि आज धर्मवीर भारती अपनी 'चिकनी सतहों' में जिस देहवाद के विरुद्ध झण्डा बुलन्द करते हैं, उसे प्रारम्भ और प्रश्रय देने का श्रेय स्वयं उन्हें है। 'प्रगतिवाद'-विरोध के रास्ते राजनीति-विरोध की भूलभुलैयाँ में लाकर लेखन को समकालीन सन्दर्भों से काट देने का काम भारती जैसे लोगों ने ही किया था, बाद में भी 'धर्मयुग' के पृष्ठ उसी प्रकार के लेखन की प्रशस्ति गाते रहे। अनुभव की प्रामाणिकता अपने अनुभव तक ले आई और 'अपना अनुभव' यौन-सनसनी में केन्द्रित हो गया। सनसनी की खोज, अभिव्यक्ति और उसमें रस लेना—अतियों और अतिशयोक्तियों को जन्म देने लगा और सारा विद्रोह एक रूमानी 'एडवैंचरिज़्म' या साहसिकता में घुल गया···

लेकिन नामवर सिंह भारती का विरोध करते हुए इस युक्ति-पद्धति से नहीं चलते। वे भारती के विरुद्ध इस लेखन का ही पक्ष लेने लगते हैं और सारा सम्पादकीय 'देहवादी लेखन' के लिए एक 'जस्टिफिकेशन' की ध्वनि देता है। नामवर सिंह की सबसे बड़ी 'ट्रेजेडी' यही है कि वे व्यक्तियों का विरोध-समर्थन करते हैं बात का नहीं। यानी वे 'ग़लत आदमी' के मुँह से 'सही' बात सुनना गवारा नहीं करते, इसलिए 'ग़लत' बात का पक्ष लेने के लिए मजबूर हैं। इस अन्तर्विरोध की तरफ शायद उनकी निगाह नहीं जाती कि अगर भारती का 'राजनीति-विरोध' देहवाद तक आता है तो नामवर सिंह की सारी राजनीतिक-प्रतिबद्धता भी तो उस देहवाद के समर्थन तक ही पहुँचती है। दोनों में अन्तर कहाँ है ?

मगर नामवर सिंह इतनी जल्दी पकड़ाई में नहीं आना चाहते। वह भारती के 'देहवाद-विरोध' की गहराइयों में जाकर उसके पीछे दूसरी राजनीति तलाश करते हैं और अपने 'देहवाद-समर्थन' को व्यापकता देकर उसे 'आज के युवक का सामान्य आक्रोश' बना लेते हैं।

उनके अनुसार भारती और साथ ही कमलेश्वर जो अचानक ही 'भोगवाद' और 'देहवाद' का विरोध करने लगे, उसके पीछे इतना ही नहीं है कि यह सारा साहित्य उन्हें नग्न, वीभत्स, कुरुचिपूर्ण और जुगुप्स लगने लगा है। इसके पीछे अमेरिकन राजनीति का दूसरा ही पैंतरा है। गिन्सबर्ग, केरुआक, मेलर जब तक यौन-सनसनी देते रहे तब तक अमरीकन प्रेस उन्हें मसीहा घोषित करता रहा, उनके 'नशीले अध्यात्म' को उछालता रहा, लेकिन जैसे ही इन लोगों ने उसी 'नंगई' (शब्द भारती का है) के साथ अमेरिका की वियतनाम-नीति और नीग्रो लोगों के प्रति अत्याचारों का विरोध शुरू किया—ये सब-के-सब 'घिनौने' हो उठे—उनके नंगेपन, भाँग, गाँजा, कीर्तन का बाकायदा विरोध शुरू हो गया। उसी स्वर में एक स्वर अपना मिलाते हुए भारती ने 'औपन्यासिक प्रमाण' देकर अफीम-भाँग को चीनी कम्युनिज़्म से जा जोड़ा। संयोगवश इसी कथ्य पर भारती का यह 'भण्डाफोड़' और कृष्णचन्द्र का जासूसी उप-

न्यास 'हांग-कांग की हसीना' साथ-साथ आए।

और इस राजनीतिक पृष्ठभूमि के बाद बड़ी आसानी से 'गाँजा-भाँग-भोगवाद' के विरोध को नामवर चीन या कम्यु-निज़म के विरोध का नाम दे बैठे। अर्थात् साठोत्तर लेखकों का देहवाद नामवर के लिए सच्ची क्रान्ति और कम्युनिज़्म का पर्याय बन गया। काश, हमारे देहवादी लेखकों का 'विद्रोह' उतना ही व्यापक होता, वे पूरी स्थापित व्यवस्था से उतने ही विक्षुब्ध होते तो नामवर का तर्क सचाई के आसपास ले जाता। लेकिन अपनी बाकी सारी जिन्दगी में समझौता-परस्त, खुशामदी, तिकड़मी, रीढ़-हीन हमारे देसी 'पवित्र बर्बर' जब जाँघों के बीच ही सारी क्रान्ति और विद्रोह कर डालते हैं तो नामवर सिंह की बात निहायत ऊपरी और सतही लगती है। उनके अनुसार अगर भारती ने अमे-रिकन-राजनीति को भारत में लागू करने की कोशिश की है, तो वह खुद भी कुछ झूठे और नकली 'हेनरी मिलरों' में 'पवित्र बर्बरों' की छायाएँ आरोपित करने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं...

विरोध हमें आपस में कितने निकट ले आता है।

कमलेश्वर की सारी बातों से सहमत होते हुए भी मैं उनके सपाट 'आर्य समाजी' उत्साह से जरूर चौंक उठता हूँ। 'इन्हें आस-पास की बड़ी-से-बड़ी समस्या उतनी संत्रस्त और विक्षुब्ध नहीं करती, जितनी औरत की ब्रेसरी के हुक का न खुलना' की बात अपनी जगह एकदम सही है, लेकिन मैं नहीं मानता कि इस बात को स्थापित करने के लिए हमें 'धर्म-धुरन्धरों' की जनसंघी भाषा की अपेक्षा है, जो 'स्थापित नैतिकता' को ही मानवता की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि सिद्ध करने के 'वैज्ञानिक तर्क' दिया करते हैं और बाद में साहित्य के 'बहू-बेटी-पठनीय' धरातल की वकालत करते हैं। इस दृष्टि से तो संसार की सारी प्रेम-कहानियाँ 'पर-स्त्री, पुत्री-गमन' की ही कहानियाँ हैं।

वस्तुतः मैं यह मानता हूँ कि साठोत्तर पीढ़ी के इस 'देहवादी विद्रोह' को न तो भारती —नामवर की राजनैतिक दृष्टि से समझा जा सकता है, न कमलेश्वर के 'नैतिक' जनर-लाइजेशन से—क्योंकि ये तीनों ही हमें गलत षड्यन्त्रों में उलझा देते हैं। हाँ, दूसरे धरातल पर कमलेश्वर के लेखों की प्रतिक्रियाएँ इस सारे विद्रोह का पर्दाफाश कराने में मदद देती हैं। उन लेखों पर जाने कितने क्षुब्ध, क्रुद्ध, तीखे बौद्धिक-अबौद्धिक उद्गार मैंने 'विद्रोही' लेखकों के मुँह से सुने हैं, लेकिन जब प्रतिक्रियाओं में उनके पत्र छपते हैं तो अचानक सब सहमत नज़र आते हैं। लगता है जैसे एक बड़ी कतार सिर झुकाए 'कन्फैस' कर रही हो। 'हम गलती पर थे' अगर सचमुच यह 'जाँघों का विद्रोह' एक विद्रोह होता, तो गहरी और रोचक साहित्यिक बहस सामने आती। कमलेश्वर भी तब शायद अधिक रचनात्मक सहानुभूति से इस तथा-कथित विद्रोह के खोखलेपन का विश्लेषण करते। लेकिन सारी बात एक दु-मुँही समझौता परस्ती में खो गई है। कोई आश्चर्य नहीं कि ये सारे 'विद्रोही' अब झटके के साथ 'सामा-जिक जागरूकता' की कहानियाँ लिख-लिखकर कमलेश्वर के पास भेजने लगें, और उसी प्रकार का नकली साहित्य आने लगे जो प्रगतिवाद के संकीर्ण-युग में आया करता था। शायद कमलेश्वर का आशय इस नकली 'हृदय-परिवर्तन' से अलग और गहरा था।

वस्तुतः जरूरत इस 'विद्रोह' की प्रकृति को समझने की है, इसके 'पैथॉलॉजीकल' विश्लेषण की भी है। न तो यह उतने सपाट आशावाद से समझा जा सकता है जिससे नाम-वर सिंह समझना चाहते हैं कि सरकार को उतारना और औरत के कपड़े उतारना एक ही विद्रोह के दो रूप हैं, न भारती की तरह अन्तर्राष्ट्रीय धरातल से कि एक चिलम गाँजा पी लेना विश्व-व्यापी षड्यन्त्र का एजेण्ट हो जाना है।

मूलतः यह 'मृत्यु-संत्रास-संभोग=विद्रोह' किसी भी अर्थ में विद्रोह नहीं, केवल प्रतिक्रिया है। 'हमारी पीढ़ी की मजबूरी' कहकर इस प्रतिक्रिया को शहादत की मुद्रा दी जाती है। इसे मैं, 'किसी भी विद्रोह का हिस्सा न बन सकने' की ही नपुंसक प्रतिक्रिया कहना ज्यादा पसन्द करूँगा—अर्थात् फ्रस्ट्रेशन। जिन्दगी के हर मोर्चे पर पिटा हुआ क्लीव असमर्थ आदमी सबसे बड़ी बहादुरी घर आकर बूढ़े बाप, (क्यों उसने जन्म दिया!) या औरत पर दिखाता है, फोहश और नंगी गालियों में अपना 'विद्रोह' व्यक्त करता है—लेकिन सुरक्षित जगहों पर ही यानी चहारदीवारी के भीतर—न वह बॉस को गाली दे सकता है, न दूकानदार को। औरत ही उसके इस फ्रस्ट्रेशन को झेलती है—उसके विद्रोह के लिए 'डस्ट बिन' बनती है।

'डस्ट- बिन'—औरत के प्रति यही रवैया इन सारी देह-भोगवादी कहानियों का मुख्य स्वर है। इन कहानियों

का नायक औरत को मुँह से भले ही रंडी न कहता हो, मगर उसका सारा व्यवहार वही है जो वह एक 'चवन्नियाँ-रंडी' के साथ कर सकता है। इन कहानियों में, शायद ही नारी को बराबर के सम्मानित व्यक्तित्व का दर्जा दिया गया हो। शराब की बोतल की तरह प्रेमिका को भी भोगकर फेंक देने को इन कहानियों का नायक साहसिक प्रामाणिकता से बयान करता है। आश्चर्य मुझे होता है साठोत्तरी की उन तथाकथित बोल्ड लेखिकाओं पर, जो इन फ्रस्ट्रेटेड नायकों का दृष्टिकोण उधार लिए, 'ढीले पाजामें में टाँग डालने' जैसी अनुभूति को ठीक उसी अन्दाज में लिखती हैं। एक तरफ यह कुण्ठित विगलित व्यक्तित्व का पुरुष है तो दूसरी तरफ नितान्त व्यक्तित्वहीन वे-गैरत औरत‥ अपनी सारी शिक्षा-दीक्षा, आर्थिक-बौद्धिक मुक्ति और आधुनिकता के दम्भ के बावजूद इन कहानियों के नारी-पुरुष दोनों ही जैसे मानते हैं कि औरत ही भोगी जाती है। और बोड़वा को पी-पीकर विद्रोही बननेवाली किसी औरत को यह अपने आत्म-सम्मान के विरुद्ध नहीं लगती।

जैनेन्द्र जैसे लोगों के 'क्रान्तिकारी नायकों' से हमें शिकायत थी कि वे 'क्रान्ति' कहाँ करते हैं इस बात का पता कभी नहीं लगा। केवल 'आँचल की छाया' देनेवाली भाभियों और दीदियों के साथ उनके सम्पर्क की कहानियाँ हम पढ़ते रहे। गांधीवादी नैतिकता और अभिजात-बज़ादारी के लोग थे, इसलिए खुलकर कभी नहीं आए, अपने अन्तर्द्वन्द्वों की झिलमिली के पीछे से ही ताक-झाँक करते रहे। आज वही सिलसिला 'साहस' के साथ उठाया जा रहा है। 'ज़िन्दगी को झेलने और भोगने' वाले नायक, किन मोर्चों पर झेलते-भोगते हैं यह सब कहानी से अनुपस्थित है—सामने आता है केवल औरत पर थूकता, गाली देता, उसे भोगता और फिर ऊल-जलूल ज़िन्दगी से ऊबकर संत्रस्त या तटस्थ तल्ख हो जाता नायक…

डा० रामविलास शर्मा की तरह 'सुधारवादी उत्साह' में सबको 'जनरलाइज़' करके अस्वीकार कर देने और कुछ 'अच्छे-सुलझे हुए' नायक तलाश करके सन्तुलन क़ायम करने के स्थान पर, इस तरह के लेखन का ज्यादा गहरा विश्लेषण अपेक्षित है। 'जैनेन्द्रियत' का जन्म जिस पलायन से होता है, उसका 'पुनरुत्थान' भी उसी मनोविज्ञान की उपज है। इतनी अलग परिस्थितियों में 'पलायन' की 'सामान्य-वृत्ति' कहाँ से आई है? कभी इस 'पलायन' को 'क्रान्ति' का नाम दिया गया था। आज उसे 'विद्रोह और आक्रामकता' कहना कहाँ तक संगत है? यह कैसी आक्रामकता है जो फिर से शराब-औरत में अभिव्यक्त होती है? इस बर्बर देवदास के पुनर्जन्म ('रेसरेक्शन' कहना ज्यादा गरिमा देता है!) को हम किस रूप में समझ और स्वीकार सकते हैं? या अस्वीकार करने का अधिक रचनात्मक तरीका क्या है?

शायद विद्रोह शब्द बड़ी आसानी से हमारे हाथ लग गया है और हम अपनी कमज़ोरी को उसकी आड़ में छिपा लेना चाहते हैं। इस सारे ''मृत्यु-संत्रास-संयोग' साहित्य का इस शब्द से कोई लेना-देना नहीं है, क्योंकि यह इकतरफ़ा 'फ्रस्ट्रेशन' का अतिशयोक्तियों और रूमानी शेखियों का साहित्य है। न इसमें अनुभव है और न प्रामाणिकता। फ़िल्मी पोस्टरों की प्रामाणिक-साहसिकता से उसे अलग कर पाना मेरे लिए सचमुच मुश्किल है। यों मैं यह मानता हूँ कि हर विद्रोह में 'नैतिकता की धारणाएँ' यानी 'स्थापित नैतिकता' ज़रूर ही बिखरती है, और आदमी दूसरे सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों को जिस आसानी से स्वीकार कर लेता है, ''परिवर्तित नैतिकता' या 'अनैतिकता' को उस तरह बिलकुल भी स्वीकार नहीं कर पाता, वह शायद कुछ इसी तरह बौखलाता है, उसे सब कुछ गंदगी, अश्लीलता, बेशर्मी, से-भरा लगता है। लेकिन तब यह सब चौतरफ़ा विद्रोह का एक अंग बनकर आता है।

यों संतोष के लिए तांत्रिकों की पंच-मकार-साधना भी क्रान्ति और विद्रोह ही तो हैं। उनमें भी हमें वही रहस्यवाद, वही सामाजिक आक्रोश और फिर उन सबकी इसी मदिरा-मैथुन में परिणति दिखाई देती है।

कमलेश्वर के लेखों में मुझे न तो वह राजनीतिक गंध मिलती है, न अस्तित्व-चिन्तावाली वह बात जिसकी ओर नामवर सिंह या कुछ और लोगों ने संकेत करना चाहा है। बल्कि सचाई यहाँ दूसरी है: जिन 'देहवादी रचनाओं' का विरोध कमलेश्वर ने किया है उनके अधिकांश के लेखकों को साहित्य में लाने का श्रेय उन या उन जैसे लेखकों को है। साहित्य की किसी प्रवृत्ति का विरोध, सम्पूर्ण लेखन और लेखक की सम्पूर्णता का विरोध नहीं है। असहमत होने का सभी को अधिकार है।

हाँ, 'इन्वॉल्व्ड' लेखक होने के नाते जहाँ हमें अपनी असहमति को विक्षोभ और आक्रोश के स्वर में बताने की

आवश्यकता है, वहीं इस लेखन को अपना वृहत्तर-अंश मानकर आत्म-विश्लेषण के ढंग पर समझने की भी ज़रूरत है।

लेकिन इसे सीधे अस्तित्व-सुरक्षा से जा-जोड़ना एक दूसरी राजनीति की शुरुआत है। इससे 'दुखी और अन्याय के शिकार' लेखकों का समर्थन मिलता है, कहीं अपने होने, और सक्रिय बने रहने की आश्वस्ति मिलती है। मैं इसे साहित्येतर मन्तव्य मानने के लिए विवश हूँ।

तरह-तरह के मन्तव्यों के बीच, एक मन्तव्य अपनी ओर से मिला देने में असली बात नेपथ्य में चली जाती है। जरूरत यह है कि 'परम्पराएँ और दूरान्तर सूत्र' तलाश करने की बजाय, उठाये गए मुद्दों पर ही ध्यान दिया जाए और व्यक्तियों से हटकर समस्या को बड़े संदर्भों के साथ, निर्भीक और बेलाग होकर लिया जाए।

—राजेन्द्र यादव

विरोध का दो मुँहापन

०युवा पीढ़ी के लेखन के संबंध में श्री राजेन्द्र यादव जब कहते हैं कि "उस लेखन को अपना ही वृहत्तर अंश मानकर आत्मविश्लेषण के ढंग पर समझने की ज़रूरत है," तो वे 'आलोचना' के संपादकीय के इस कथन का ही समर्थन करते हैं कि "इसकी शुरुआत गम्भीर आत्मनिरीक्षण और पुनः परीक्षण से होती है।" सवाल यह है कि क्या 'धर्मयुग' और 'सारिका' के उन लेखों में **आत्मविश्लेषण का यह ढंग है?** श्री यादव इस पर खामोश हैं। उन्हें शिकायत है तो मुझसे कि मैं ग़लत आदमी के मुंह से सही बात सुनना गवारा नहीं करता। उनकी समझ से भारती आदमी तो ग़लत है, लेकिन उनकी बात सही है। क्या श्री यादव यह कहना चाहते हैं कि किसी बात के सही या ग़लत होने में उसका वक्ता एकदम अप्रासंगिक है? इसी प्रकार जब वे "सपाट आर्यसमाजी उत्साह" और "धर्म धुरन्धरों की जनसंघी भाषा" के बावजूद "कमलेश्वर की **सारी** बातों से सहमत" होने के लिए मजबूर दिखते हैं तो लगता है कि वे वक्ता के अभिप्राय और भाषा-भंगी को बात का अंग नहीं मानते। अंग्रेजी मुहावरे के मुताबिक बिल्ली एकदम थैले से बाहर आ जाती है, जब वे कहते है कि "जिन 'देहवादी' रचनाओं का विरोध कमलेश्वर ने किया है उनके अधिकांश के लेखकों को **साहित्य में लाने का श्रेय** उन या उन जैसे लेखकों को है!" शालीनता वश ही उन्होंने 'उन जैसे लेखकों' का नाम नहीं लिया; वैसे यह श्रेय लेना भी आत्मविश्लेषण का ही एक ढंग है! इसके अतिरिक्त, 'संपादकीय' में श्री यादव को जो बहुत-सी अनकही बातें भी दिखाई दे गई हैं, उन पर मुझे सिर्फ इतना कहना है कि

वो बात सारे फ़साने में जिसका ज़िक्र न था,
वो बात उनको बहुत नागवार गुज़री है!

—नाम०

•

सौ और सिफ़र

आलोचना के आखिरी पन्ने पर 'विज्ञप्ति' में 'संवाद' का या उसकी कमी का ज़िक्र है। इधर मोहन राकेश ने भी संवादहीनता के बारे में 'सारिका' में लिखा है, उसी के बारे में अपनी प्रतिक्रियाएँ भेज रहा हूँ।

मेरी पहली बात शायद मामूली है और शायद विषयांतर भी। मोहन राकेश ने अपने लेख 'कुछ और अस्वीकार' (सारिका : अगस्त '६७) में जिन नए लेखकों की बातों के उद्धरण दिए हैं उनके नाम उन्होंने नहीं दिए। क्या वे उन लेखकों को हेय मानते हैं। या उनका नाम फ़ैलने का उन्हें डर है? या राकेश ने भारती और कमलेश्वर के हाल ही 'सारिका' और 'धर्मयुग' के छपे लेखों की परम्परा को 'अनजाने' ही निभाया है?

यह बात मैं इसलिए भी कह रहा हूँ क्योंकि राकेश ने अपने लेख में साहस और ईमानदारी की बात भी उठाई है। प्रसंगवश, मुझे एक व्यापार-चातुरी की याद हो आई है: व्यापारी ग्राहक के सामने विरोधी व्यापारी का नाम नहीं लेता। लेकिन यहाँ बात साहित्य की है, व्यापार की नहीं।

राकेश के लेख की मूल बातें, मेरी समझ में, ये हैं :

आज का लेखक ('६० के बाद का) 'खामोश' है। वह जो कहना चाहता है उसे स्थगित रखे हुए है—'ठीक' वक्त के इन्तजार में। उसका यह स्थगित-पन उसकी साहसहीनता की निशानी है। वे मानते हैं कि लेखक के लिए "आवश्यक है हर 'आज' के सम्बन्ध में उसका खुलकर प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करना।" वे चाहते हैं कि एक संवाद चलता रहे चाहे यह संवाद बात करने लायक रचना पर हो या उसके न होने पर हो। आज यह संवाद नहीं हो पा रहा है। अगर यह शुरू होता है तो जल्दी ही आत्मालापों (मोनोलाग्ज़) में बिखर जाता है। ऐसा कहने में वे अकेले नहीं हैं। नामवर सिंह ने भी कुछ इसी प्रकार की बात कही थी। यों उन्होंने इस बारे में अभी तक कोई लेख आदि नहीं लिखा है। उसका कहना है कि सन् '६० के बाद की पीढ़ी 'मोस्ट इनआर्टीकुलेट' (निहायत चुप्पू) है और कि इसकी कोई 'आइडिआलोजी' (राजनीतिक-विचारधारा) ही नहीं है। ऐसे और भी कई लोग हो सकते हैं जो यह सोचते हों या इसके बाद ऐसा सोचने लग जाएँ। ख़ैर !

देखा जाए तो व्यापक अर्थ में कोई भी रचना एक बड़े संवाद का हिस्सा ही होती है, जिसमें लेखक यह बताता हैं कि उसने एक खास समय और खास समाज में रहकर जीवन का कैसे सामना किया। असली लेखक में यह बात मूल होती है। और जितनी गहराई, सूक्ष्मता और व्यापकता से वह इसे सामना करने को पकड़ता है और जितने असर से वह उसे कहता है उतना ही ज़्यादा उसका महत्व होता है। इसलिए तमाम असली लेखन मूल में लेखक के निजी अनुभव के घेरे से ही निकलता है, उसके खुद सामना करने के अनुभव से।

लेखक यही कहता है, यही उसकी अपनी बात होती है। आलोचना की चालू ज़बान में कहूँ तो यही उसका कथ्य होता है, संवाद में यही उसका योग, और सही मानो में यही उसकी 'आर्टीकुलेशन' (मुखरता)।

लेकिन राकेश और नामवर सिंह और उन जैसा सोचने वाले दूसरे लोग भी चाहते हैं कि इसके अलावा, कि रचना करने के अलावा भी हम कुछ बोलें, और निरन्तर बोलते-बहस करते रहें। वे हमें खामोश कहते हैं जो इसलिए नहीं कि हमारी रचनाओं में आज से सामना करने की बात नहीं होती, बल्कि इसलिए कि हम रचना से इतर काम में नहीं पड़ते, या कम पड़ते हैं (लिखकर तो और भी कम)। वे शायद हमारा जीवन-दर्शन, हमारी राजनीतिक विचारधारा और कुछ 'बड़ी' बातों के बारे में हमारा रवैया जानना चाहते हैं !

मगर यह असली को छोड़कर कम-असली लेखन पर बल क्यों ? अगर भारती और नामवर सिंह ने बरसों से कुछ नहीं लिखा या नाम मात्र को लिखा है तो राकेश उनको ख़ामोश नहीं कहते ! और अगर खुद राकेश ने पिछले तीन-एक सालों से नहीं के बराबर लिखा है या उसके पहले के अपने लिखे को (कांपता हुआ दरिया) शायद ज्यादा 'बोलता' न पाकर पुस्तक रूप में नहीं छपाया है तो वे खुद ख़ामोश नहीं है ?

हम लोग (यहाँ मैं सिर्फ अपनी ही बात कर रहा हूँ) अगर कमलेश्वर के साहित्य की घटिया राजनीतिक मुस्तैदी और आत्मविरोधों से भरपूर और भारती के अ-मौलिक लेखों पर लापरवाही से हँस देते हैं या उनको 'बकवास' कहते हैं और उन पर कुछ नहीं लिखते तो हम खामोश हैं ? ऐसी चीज़ों पर हँस देना साहित्य—(समाज) सुधारक भले ही न हो अक्सर स्वस्थ ज़रूर होता है। और संवाद में हिस्सा लेने का यह भी एक तरीका हो सकता है।

अपनी असली खामोशी की बात न करके हमारी ऊपरी खामोशी की बात क्यों की जाती है ? खुद अपने बारे में भ्रम बना भी रह सकता है लेकिन अपनी पीढ़ी के दूसरे लेखकों की ख़ामोशी के बारे में संवाद को नहीं चलाया जाता जबकि यह ख़ामोशी खतरनाक है। क्यों सब (क्या सलाह करके ?) नयी पीढ़ी पर 'पिल पड़ने' की कोशिश कर रहे हैं ? (यहाँ यह याद दिला दूँ कि हिन्दी में हर पुरानी पड़ रही पीढ़ी ने हमेशा आने वाली पीढ़ी पर इस प्रकार 'पिल पड़ने' की कोशिश की है) लेकिन ज़रा-सा ताज्जुब इस बात पर होता है कि नया कहाए जाने के इतने शौकीन 'नयी कहानी' वाले भी यह दकियानूसी काम कर रहे हैं।

लेकिन बात को पूरी तरह से समझने के लिए कुछ और बातों को जानना ज़रूरी होगा।

एक तो यही कि जिस प्रकार का संवाद रचनाओं या उनकी कमी के सम्बन्ध में होना चाहिए, वैसा संवाद आज की पीढ़ी में भी उतना ही चलता है जितना कि किसी भी पीढ़ी में चला होगा। सन् '६० के बाद के लेखक भी हर

बात पर अपनी प्रतिक्रिया ज़ाहिर करते हैं, बहसें करते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं, अपने दोस्तों से, समकालीनों से और कई बार पुरानों से भी। यह बातचीत, यह संवाद आमतौर पर लेखन के लिए ज़रूरी होता है। लेकिन ज़रूरी नहीं है कि हर बात को लिखकर ही संवाद में हिस्सा लिया जाए। शायद आलोचक के लिए यह ज़रूरी होता हो (सन् '६० के बाद के आलोचकों ने लिखा भी है।) लेकिन एक लेखक उसी विषय पर लिखेगा जिसे वह महत्व का समझेगा। यों यह भी आवश्यक नहीं है। हो सकता है लेखक मूल रचना को ही सही माने में ज़रूरी समझे। पिछली पीढ़ी जिन चीज़ों को लिखने-लायक महत्व का समझती है उनको अगर नयी पीढ़ी वैसा नहीं समझती तो इस समझ की अलहदगी पर ध्यान देने से कोई बात हाथ लग सकती है।

आज यह बात कुछ लोगों को अचरज में डाल सकती है कि 'नई कविता' जो 'छायावाद' के घनघोर विरोध में आई, दरअसल छायावाद का ही छोटा कटा-छँटा रूप है। छायावाद से वह रहस्यवाद को ही काटकर अलग कर सकी, वरना मूल में वह उतनी ही रूमानी है जितना कि छायावाद रहा है। उसी प्रकार 'नई कहानी' बावजूद आंदोलनी डंकों-नगाड़ों के मूल में प्रगतिवाद का ही ज़रा पतला रूप है। उसमें सामाजिकता का अतिरिक्त मोह उतना ही ज़्यादा और उतना ही गलत है जितना प्रगतिवाद में था। 'नयी-कहानी' वाले उसे मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा नहीं मानते। यही उनकी 'देन' है।

मैं समझता हूँ कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और प्रगतिवाद के नज़रिए अपनाने वाले बुनियादी तौर पर थे—रूमानी (रोमांटिक)। दोनों ने असलियत को वैसा देखने की कोशिश नहीं की जैसी की वह है, या जैसी वह उन्हें लगी, बल्कि एक खास दृष्टिकोण में पढ़कर ही उन्होंने उसे देखने की कोशिश की। रूमानियत (रोमांटिसिज्म) की यदि कोई परिभाषा है तो यही कि असलियत को वैसा न देखना-कहना जैसा कि उसे खुद अनुभव द्वारा जाना गया हो—बल्कि किसी बाहरी नज़रिए या विचारधारा का रंग देकर देखना—कहना। 'नई कहानी' वाले आज भी 'समाज-कल्याण' और साहित्य को ज़्यादा अलग-अलग नहीं मानते। वे इस भावुकता को लेकर चलते हैं कि पात्रों आदि के प्रति सम्वेदनशील होना ही है, मानवीय होना ही है, सहानुभूति रखनी ही है। सम्वेदना, सहानुभूति आदि गुण भी दूसरे लगभग सभी प्रचारित गुणों की तरह, सराहनीय हैं। मगर जब ये भी ओढ़ लिए जाते हैं तो साहित्य महत्वपूर्ण नहीं होता। क्योंकि साहित्य में सच्चाई के प्रति तटस्थ होना आज भी लेखक के लिए उतना ही लाज़मी है जितना हमेशा रहा है। लेकिन ये लोग डींग मारते हैं कि "साहित्य आज समाजशास्त्र से होकर गुज़रेगा" (कमलेश्वर)। इस दृष्टिकोण से लिखी गई चीज़ें नारे, प्रवचन, भावुकताएँ भले ही हों साहित्य कभी नहीं हो सकतीं। इन लोगों का साहित्य देखने से इस बात की पुष्टि सहज ही हो जाती है।

सामाजिकता के अतिरिक्त मोह के कारण आंदोलन खड़े किये जाते हैं और असहज आंदोलनों को चलाने के लिए गुट्ट की ज़रूरत पड़ती है। गुट्ट सदा एक-सा ही 'सोचता' है, हर बात पर एकमत रहता है। अगर कभी कोई असहमति उठ भी खड़ी होती है तो उसे बाहर नहीं लाया जाता। मन से गुट्ट के लोग भले ही एक-दूसरे को लेखक तक न मानें, 'बाहर' कुछ नहीं कहा जाता, खामोश रहा जाता है। यह खामोशी भी संवाद का विषय बन सकती है, इस बारे में शायद सोचा भी नहीं जाता। अगर सोचा जाता है तो लिखा नहीं जाता क्योंकि उसके लिए असली साहस दरकार है।

इससे यह पता चलता है कि जिस प्रकार के संवाद की चाहना यह आन्दोलनी दृष्टिकोण करता है या जिस प्रकार का संवाद अभी तक इसने स्वयं चलाया है, वह संवाद अपने गुट्ट से नहीं है, अपनी पीढ़ी से भी प्रायः नहीं है या अब, पुरानी पीढ़ी से भी नहीं है, यह संवाद तो केवल नई पीढ़ी से है। अर्थात् दूसरों से है, विरोधियों से है। इसलिए तीनों लेखक (एक-दूसरे से कहीं असहमत रहकर मगर वैसा न कह कर) दल-बल से नई पीढ़ी से 'संवाद' चलाया चाहते हैं।

एक प्रकार से यह ठीक भी है। लेकिन यह प्रकार साहित्य का कम है, व्यापार का ज्यादा है, जिसकी एक चातुरी की बात मैंने शुरू में की है।

लेकिन मेरे लिए यह बात बिलकुल साफ है कि साहित्य आन्दोलनों में नहीं पनपता। आन्दोलन व्यक्ति-स्वार्थों में सन जाते हैं। उनका असली महत्व (यदि अच्छा रहा हो) इतर महत्वों में उलझ जाता है। सही माने में आत्म-निर्भर लेखक या तो आन्दोलनों में पड़ता नहीं या वह जल्दी ही उन्हें छोड़ देता है। यह शायद संयोग ही नहीं है कि 'नई कविता'

का महत्वपूर्ण कवि इस आन्दोलन के बाहर ही रहा—मुक्ति-बोध। और 'नयी कहानी' का महत्त्वपूर्ण लेखक भी उस आन्दोलन को छोड़कर चला —'रेणु'। एक बात और है। जब मैं यह कहता हूँ कि हिन्दी में कोई बड़ी प्रतिभा का लेखक नहीं है, छोटी प्रतिभाओं के ही हैं तो यह कोई शिकायत नहीं है। इस स्थिति के लिए कुछ नहीं किया जा सकता—(जो महत्वपूर्ण रचनाओं की कमी के कारण संवाद अपेक्षाकृत कम ही होगा।) छोटी प्रतिभा बड़ी नहीं हो सकती। छोटी प्रतिभा की पूरी तरह से खोज-बीन करके उसका ज़्यादा-से ज़्यादा उपयोग ज़रूर किया जा सकता है। लेकिन देखा यह गया है कि लेखक जल्दी ही दूसरे पचड़ों में, दूसरे 'संवादों' में पड़ जाता है और जाने-अनजाने अपने लिखने को गौण मानने लगता है। इसीलिए वह अपने लेखन में प्रौढ़ नहीं हो पाता। इस बारे में परसाई ने बहुत सही लिखा है कि हमारे यहाँ लोग 'लाइन' छोड़कर प्रौढ़ होते हैं जैसे लेखक लेखक के रूप में प्रौढ़ नहीं होता, सम्पादक के रूप में प्रौढ़ होता है या अपनी किताबों को स्कूल-कॉलेजों के कोर्सों में लगवाने की हुनरमंदी में।

मैं यह मानता हूँ कि मूल बात लिखना है, रचना करना। रचनाओं के बारे में आपसी संवाद होते ही रहते हैं। यह ज़रूरी नहीं है कि लेखक उन पर लिखें ही। कोई लेखक लिखना चाहे तो लिख भी सकता है। लेकिन इस प्रकार का लिखना गौण होता है। टाल्स्टाय ने एक जगह लिखा है कि "आल आर्ट इज़ लाइज़" (सब रचना झूठ है) मगर इससे उन्हीं के उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' या 'एन्ना करेनिना' आदि झूठ नहीं लगने लगते। आज साहित्य में यदि एक खुला-पन दिखाई देता है तो इसलिए कि आज का लेखक किसी विचारधारा (आइडिआलोजी) पर आश्रित नहीं है। किसी पूर्वनिश्चित विचारधारा का न होना उसकी कमजोरी नहीं उसकी ताकत है, क्योंकि वह अपने अनुभवों के आधार पर पैदा हुए विचारों पर ही निर्भर करना चाहता है। वह हर चीज़ को नए सिरे से देखने की कोशिश करता है। अपनी रचनाओं में छद्म व्यापकता या विविधता के चक्कर में वह अनुमान से ही काम नहीं चलाता, वह अपने अनुभव पर निर्भर करता है। और यह आत्म-निर्भरता आज के लेखन का एक मूल स्वर है।

अगर उसे मोहभंग, डर, बोरियत, अविश्वास, आशा-हीनता, तनाव, सड़न, मौत की चाह आदि ही के अनुभव होते हैं तो वह उन्हीं को व्यक्त करता है। यहाँ साफ़ कर दूँ कि वह उन्हें प्रतिपादित नहीं करता। इसीलिए उसका दृष्टि-कोण सड़ा हुआ न होकर जीवंत होता है और जीवंत होना और ऐसा रह पाना एक और मूल बात है। यहाँ मैं अधिकांश साहित्य की बात नहीं कर रहा हूँ क्योंकि अधिकांश साहित्य तो किसी भी पीढ़ी या काल का खराब ही होता है, यानी साहित्य ही नहीं होता।

आज बचकानी शालीनता और खामखाह का आशावाद भी नहीं है। इसलिए भाषा में चक्राकार के गुच्छे नहीं मिलते। लेखक सीधे और साफ़ शब्दों में बात कहने की कोशिश करता है।

इन्हीं कारणों से आज का वातावरण प्रौढ़ साहित्य के लिए ज्यादा मौजूं है। पहले के कई बरसों के नाबालिगपन से वह बाहर निकल आया है। मगर मेरी पीढ़ी के लेखक भी क्या करते हैं, इस ठोस ज़मीन का कितना फ़ायदा उठा पाते हैं, यह भी अभी बहुत कुछ देखना बाकी है।

अन्त भी शुरुआत की तरह शायद एक मामूली बात ही से कर रहा हूँ। राकेश के लेख में अंग्रेजी के शब्द भरे पड़े हैं। वे अंग्रेज़ी के हैं यह इसलिए कह सकता हूँ क्योंकि वे शब्द मैंने अंग्रेज़ी में ही पढ़े हैं। राकेश के लेख में तो वे न उद्धरण चिह्न में लिखे गए हैं और न उनके हिन्दी अर्थ ही दिए गए हैं—उनको शायद हिन्दी ही का मान कर लिखा गया है।

अंग्रेज़ी के बारे में यह हीनता-ग्रंथि, यह दास-मोह कब जाएगा ?

प्रसंगवश, इस सम्बन्ध में तो अनेक संवाद हो चुके हैं !

—महेन्द्र भल्ला

सौ और एक

०श्री महेन्द्र भल्ला की इस बात से मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि रचना ही लेखक का कथ्य है—उसकी 'मुखरता' है; उसके अलावा बोलना ज़रूरी नहीं है। सवाल स्वयं रचना की मुखरता का है, जिसका अर्थ निश्चय ही 'अभिधात्मकता' नहीं है। रचना में खामोशी भी मानीखेज़ होती है, लेकिन एक खामोशी वह भी होती है जिसे सार्त्र ने "सारी हिंसा का

उत्स" कहा है और मेरा एतराज़ रचना की उसी खामोशी से है। मुखरता के लिए कोई पूर्वनिश्चित विचारधारा जरूरी नहीं। "यदि आज का लेखक किसी विचारधारा (आइडिआलोजी) पर आश्रित नहीं है" तो इससे भी कोई शिकायत नहीं। सवाल सिर्फ यह है कि "वह अपने अनुभव के आधार पर पैदा हुए विचारों पर निर्भर" है या नहीं? मुक्तिबोध जिसे 'संवेदनात्मक ज्ञान' या 'ज्ञानात्मक संवेदना' कहते थे और भावबोध को मूल्यबोध के स्तर तक विकसित करने की बात करते थे— उस दिशा में आज का रचनाकार कितना प्रयास कर रहा है? यह सवाल भी सिर्फ इसलिए कि श्री महेन्द्र भल्ला के अनुसार "वह वर्षों के नाबालिग़पने से बाहर निकल आया है।"

—नाम०

●

एक शुभचिन्तक की चिन्ता

आलोचना के नवीन अंक के लिए मैं आपका बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ। मैं सन् १९१२ से निरन्तर लिखता आ रहा हूँ, इसलिए 'दकियानूसी' आदमियों की श्रेणी में पहुँच चुका हूँ। स्वभावतः मेरे और आज के लेखकों के दृष्टिकोण में अन्तर होगा, फिर भी कुछ पंक्तियाँ लिखने का साहस करता हूँ।

आपका यह विचार मुझे बहुत पसन्द आया कि लेखक-लेखक, लेखक-पाठक और पाठक-आलोचक के बीच पारस्परिक विचार-परिवर्तन होता रहना चाहिए। इस नवीन अंक में आपने अपने विचार को कार्यरूप में परिणत कर भी दिया है।

डॉ० रामविलास शर्मा का लेख विचारोत्तेजक है। उन्होंने वामपक्षियों को खूब खरी-खोटी सुनाई हैं और उनका यह कथन भी सर्वथा सत्य है कि फ़ासिस्ट शक्तियों का खतरा हमारे यहाँ उत्पन्न हो चुका है।

ऐसी परिस्थिति में लेखक क्या करें। समानशील-लेखकों को कभी-कभी मिल तो लेना ही चाहिए और पत्र-व्यवहार तो बराबर करते रहना चाहिए।

Progressive writers association का उद्धार तो अब कठिन प्रतीत होता है। स्वर्गीय डॉक्टर अशराफ़ ने पूर्व जर्मनी से साथी शिवनारायण श्रीवास्तव के हाथ एक सन्देश भेजा था कि उस संस्था को पुनर्जीवित किया जाय और इसके लिए उन्होंने डॉक्टर रामविलासजी को तथा मुझे आदेश दिया था! वे मेरी स्थिति से परिचित नहीं थे। मैं तो शहीदों के श्राद्ध का काम अपने हाथ में ले चुका हूँ और दूसरा काम ले नहीं सकता। शर्माजी से मैंने इसका ज़िक्र भी किया था और मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके पास भी समय की बहुत कमी है।

व्यक्तिगत तरीके पर हम लोग अन्यायों तथा अत्याचारों का विरोध कर सकते हैं, पर उसका असर बहुत कम पड़ेगा। हिन्दी-जगत् में बुलन्द आवाज़ वाला एक भी व्यक्ति नहीं है, यह बात हमें खेदपूर्वक स्वीकार करनी पड़ती है। हिन्दी-साहित्य-जगत् के चोटी के आदमियों की ओर आप दृष्टि डालिए। उनमें से अधिकांश आत्म-केन्द्रित हैं। अर्थ के प्रति हमारा जो मोह है वह सीमा का उल्लंघन कर गया है। सत्ता की राजनीति ने हमारी साहित्यिक संस्थाओं में भी बहुत दिन पहले से प्रवेश कर लिया था और तिकड़मबाज़ी से वे अनधिकारी व्यक्तियों के हाथ में पहुँच गई हैं। पाठ्यक्रमों में पुस्तकों को नियत कराने के लिए जो चालें चली जाती हैं, क्या आप उनसे नावाक़िफ़ हैं? रीडरबाज़ी का अभिशाप चालीस-पैंतालीस वर्षों से हिन्दी-जगत् को घेरे रहा है। क्या हम लोग इस नेतृत्व-विहीन लेखक-समूह से किसी क्रान्तिकारी कदम की आशा कर सकते हैं?

हम लोगों को किसी भ्रम में न रहना चाहिए। मुझे दिल्ली में अपनी संसद-सदस्यता के बारह वर्षों में जो अनुभव हुए उनके बलबूते पर मैं निवेदन कर सकता हूँ कि वह मिशनरी-भावना, जो कभी आचार्य द्विवेदीजी, पं० पद्मसिंहजी अथवा शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी-प्रभृति में थी, कभी की विलीन हो चुकी है। हिन्दी-भवन के लिए अधिकांश नेताओं ने एक कानी कौड़ी भी न दी! यह बात मैं शिकायत के तौर पर नहीं कर रहा, बल्कि आपको निजी तौर पर बतलाने के लिए कह रहा हूँ।

जो लोग राष्ट्रभाषा का नारा बुलन्द करते हैं, उनमें से कितने ही ऐसे हैं, जिनमें त्याग तथा बलिदान की भावना का नामोनिशान नहीं और जो छुटभाइयों के लिए अपने समय तथा शक्ति का एक अंश भी देने को तैयार नहीं, पैसा देना तो बहुत दूर की बात है।

हिन्दी-जगत् में इस समय जो तू-तू मैं-मैं मची हुई है, उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि—हमारे चारों ओर का वातावरण स्वार्थमय हो रहा है। शासनारूढ व्यक्तियों ने कोई अच्छा उदाहरण हम लोगों के सामने उपस्थित नहीं किया। जब-जब देश में उच्च राजनैतिक-भावनाओं का अन्त हुआ है अश्लील-साहित्य ने अपना सिर ऊँचा किया है! यदि हम लोग देश में उच्च आदर्शों को उपस्थित कर सकते तो यह क्षुद्र कोटि का साहित्य उसी तरह विलीन हो जाता, जैसे गधे के सिर से सींग।

हमें यह आशा तो न करनी चाहिए कि सभी या अधिकांश हिन्दी-लेखक नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिए चलते हुए संघर्ष में क्रियात्मक भाग ले सकेंगे —क्योंकि उनमें से बहुत-सों की परिस्थिति अत्यन्त कठोर है—फिर भी इतनी उम्मेद तो हम रख ही सकते हैं कि भावी सामाजिक व्यवस्था के विषय में उनके विचार बिल्कुल स्पष्ट हों। उन्हें शोषण के ख़िलाफ तो हर हालत में होना ही चाहिए।

चुनावों को जितना महत्त्व आपने दिया है उतना मैं नहीं देता। ठर्रा या वोदका जिस किसीको आप पिला देंगे उसे नशा आवेगा ही और "प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं" वाली बात बाबा तुलसीदास कई सौ वर्ष पहले कह गए थे। साँपनाथों और नागनाथों के बीच हम अन्तर क्यों मानें?

मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि कौन पार्टी सत्तारूढ होती है, बल्कि यह कि जनता में उस शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ कि नहीं कि वह सत्तारूढों को उखाड़ फेंके।

अन्त में एक बात और। इस समय आलोचनाओं में जिस भाषा का प्रयोग हो रहा है वह कुछ अटपटी-सी है और उसके समझने में कठिताई होती है। भाषा-शैली के निर्माण की ओर कोई ध्यान नहीं देता! एक बार महात्माजी ने लिखा था कि वह युग कभी आवेगा जब कुछ लोग अच्छी भाषा लिखने के लिए संन्यास धारण करेंगे!

हमें शिकायत इस बात की है कि आलोचना-शास्त्र इतना दुरूह बनता जा रहा है कि उसमें प्रवेश करने के लिए मेरे जैसे व्यक्ति को भी, जो ५५ वर्ष से हिन्दी लिख रहा है, मुश्किल पड़ जाती है! सीधी-सादी ज़ुबान में लोग क्यों नहीं लिखते?

यह लम्बा ख़त मैंने खासतौर पर आपके लिए लिखा है, पर आप इसे छापना चाहें तो छाप भी सकते हैं।

फिरोज़ाबाद (आगरा)
६-८-६७

बनारसीदास चतुर्वेदी

•

श्रद्धांजलि

अंक छपते-छपते अचानक ये शोक-समाचार मिले कि पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी और पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी नहीं रहे। दुःख है कि एक ही सप्ताह के अन्दर हिन्दी आलोचना के दो स्तम्भ ढह गए।

पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी शुक्लोत्तर समीक्षकों में अग्रणी थे। हिन्दी आलोचना में वाजपेयी जी एक व्यक्तित्व थे। उनकी दृष्टि प्रखर थी, वाणी में ओज था और सिद्धान्तों में दृढ़ता थी। निराला के काव्य की समुचित प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करते हुए उन्होंने समूचे छायावाद को प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त किया। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' इस सैद्धान्तिक संघर्ष का ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी में आलोचना की जो आधारशिला रखी, वाजपेयी जी ने उस पर युगानुरूप सिद्धान्त-निर्माण किया। वे एक व्यक्ति नहीं, संस्था थे। पहले काशी विश्वविद्यालय, फिर सागर विश्वविद्यालय में अध्यापन करते हुए उन्होंने एक विशाल शिष्य-परम्परा का निर्माण किया, जिसमें अनेक उदीयमान समीक्षक उत्पन्न हुए। अंतिम दिनों विक्रम विश्वविद्यालय का उपकुलपति-पद सँभालते हुए भी वे आलोचक-दायित्व निभाने में तत्पर रहे। उनकी कृतियाँ आलोचना के स्थायी कीर्ति-स्तम्भ हैं और उनके निर्देशन में लिखे शोध-प्रबन्ध उनकी चिन्तन-परम्परा के विकास के निश्चित प्रमाण। 'आलोचना' उनके प्रति विशेष रूप से श्रद्धांजलि अर्पित करती है क्योंकि उसे कुछ समय के लिए उनके सुयोग्य सम्पादकत्व का गौरव प्राप्त है।

पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी हिन्दी के छायावादी समीक्षकों में अन्यतम हैं। वे सहृदयता की साक्षात् मूर्ति थे। आलोचना के शुष्क शास्त्र में उन्होंने रस-संचार किया। अपनी ललित आलोचनाओं के द्वारा उन्होंने छायावादी कविता के लिए सर्वप्रथम नवोदित पाठक तैयार किए। वे रुचिर गद्य के शिल्पी और सुकुमार सूक्तियों के संचालक थे। उनका साहित्य एकान्त साधना, अनवरत तपश्चर्या एवं अबाधित निष्ठा की पावन प्रतिमा है। 'परिव्राजक की प्रजा' शान्तिप्रिय जीवन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में अन्त तक अकेले रहे। वे सच्चे अर्थों में मसिजीवी लेखक थे, फिर भी उन्होंने आजीविका के लिए एक शब्द नहीं लिखा। वे हिन्दी लेखकों की उस शानदार पीढ़ी के अनमोल रत्न हैं जिन्होंने साधन और समुचित शिक्षा के अभाव में भी अपने शुद्ध अध्यवसाय से साहित्य में अपने लिए गौरवपूर्ण स्थान बनाया। उनका कठोर संघर्ष प्रेरणा-प्रद है। द्विवेदीजी की परिष्कृत रुचि, निष्कलुष सहृदयता और सांस्कृतिक दृष्टि के सम्मुख हिन्दी जगत सदैव श्रद्धानत रहेगा।

आगामी अंक में

- 'युवा लेखन पर एक बहस' शीर्षक 'संवाद' जिसमें भाग लेने के लिए सर्वश्री नेमिचन्द्र जैन, अमृत राय, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, विजयदेव नारायण साही, कुँवरनारायण, श्रीकान्त वर्मा, मार्कण्डेय, मुद्राराक्षस, विजय मोहन सिंह और लक्ष्मीकान्त वर्मा निमन्त्रित किये गए हैं। बहस के लिए आरंभिक निबन्ध नामवर सिंह द्वारा प्रस्तुत किया जाएगा।
- पाश्चात्य एवं समाजवादी देशों के युवा लेखन सम्बन्धी विशेष सामग्री।
- मार्क्स की 'पूँजी' को शताब्दी तथा रूस की समाजवादी क्रान्ति की अर्ध-शताब्दी के उपलक्ष्य में 'मार्क्सवादी समीक्षा की नई दिशाएँ' शीर्षक लेख माला।
- मूल्यांकन के अन्तर्गत 'कितनी नावों में कितनी बार' (अज्ञेय), 'माया दर्पण' तथा 'दिनारम्भ' (श्रीकान्त वर्मा), 'आत्महत्या के विरुद्ध' (रघुवीर सहाय) प्रभृति कविता-संग्रहों की समीक्षा।
- आज की कला सम्बन्धी प्रवृत्तियों पर निबन्ध।
- युवा कवियों की कविताएँ।
- 'प्रासंगिकी,' 'विनिमय' तथा अन्य स्तम्भ।

राजकमल का आलोचना साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक	डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पृथ्वीनाथ द्विवेदी	१०·००
साहित्यिक निबन्ध	डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु	३·५०
रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण	डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित	१०·००
मीरा की प्रेमसाधना (संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण)	भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१०·००
हिन्दी उपन्यास	डॉ० सुषमा धवन	११·००
हिन्दी काव्य में अन्योक्ति	डॉ० संसारचन्द्र	१४·००
आलोचना के सिद्धान्त	शिवदानसिंह चौहान	३·५०
आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त	शिवदानसिंह चौहान, डॉ० एस० पी० खत्री,	१०·००
हिन्दी रीति-साहित्य	डॉ० भागीरथ मिश्र	५·००
प्रेमचन्द : एक विवेचन	डॉ० इन्द्रनाथ मदान	४·००
आज का हिन्दी उपन्यास	,,	४·५०
कविता और कविता	,,	२०·००
प्रेमचन्द और गोर्की	सं० शचीरानी गुर्टू	६.००
कलम का मजदूर : प्रेमचन्द	मदनगोपाल	११.००
प्रतिक्रियाएँ	डॉ० देवराज	८·००
प्रगतिवाद	डॉ० शिवकुमार मिश्र	७.००
प्रगतिवाद (पेपर बैक)	,,	५·००
रहस्यवाद	डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी	७·००
रहस्यवाद (पेपर बैक)	,,	५·००
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	डॉ० रामविलास शर्मा	५·००
प्रेमचन्द और उनका युग (संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण)	,,	७·५०
सौन्दर्यशास्त्र के तत्व	डॉ० कुमार विमल	१२.५०
बदलते परिप्रेक्ष्य	नेमिचन्द्र जैन	(यंत्रस्थ)
साहित्य के आसपास	सच्चिदानन्द वात्सायन	(यंत्रस्थ)



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला संधू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,
८, फ़ैज़ बाजार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।